रह जायगा। इन्हीं उद्देश्योंको लेकर करेन-जातिके वलवे भड़काये गये। चियांग काई शेकके भगोड़ोंको वर्माकी धरती पर जीवित रखा गया।

## स्थिति

वर्मा एक छोटा-सा देश है। भौगोलिक दृष्टिसे वह विभिन्न सीमाओं-से घिरा हुआ है। दो ओर भारत, चीन है। इतिहास कहता है कि आज तक न भारत, न चीनने कभी बर्मा पर आक्रमण किया। राजनीतिक दृष्टि से देखा जाय तो बर्मा, पड़ोसी राष्ट्रोंके स्वार्थों और षड्यन्त्रोंका चरागाह बन सकता है। 'जिमि दाँतन मँह जीभ बिचारी' के अनुसार वर्माकी स्थिति अत्यन्त विकट है। आजके जगत्‌में जहाँ महाशक्तियाँ लड़खड़ा रही हैं, वहाँ सामरिक दृष्टिकोणसे बर्माका बल ही कितना है?

प्रकृतिने ब्रह्मदेशको अत्यन्त सम्पन्न भू-भाग दिया है। चावलका निर्यात करनेवाले तीन प्रधान एशियाई देशोंमें बर्मा है। जनसंख्याका कोई प्रश्न नहीं। एक लेखक लिखता है—"वर्मा एशियाका सर्वथा सुखी देश है, क्योंकि वहाँ 'जनसंख्या-आधिक्य' की समस्या नहीं।"

वर्मामें अधिक संख्या—लगभग १ करोड़—वर्मियोंकी है।१५ लाखके क़रीब करेन लोग हैं। १० लाख शान और इतने ही भारतीय हैं। चीनी दो लाख हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई जातियाँ हैं। पिछले दिनों करेन लोगोंकी समस्याने विकराल रूप धारण किया है। १९४९-५० में स्थान-स्थान पर करेन विद्रोहियोंने बग़ावत की। यह साबित किया जा चुका है कि इन बखेड़ोंमें—यदि अंग्रेज़ न कहना चाहें—तो गोरोंका हाथ था।

जब करेन-नेता 'सा बा उ ग्यी' को पोताकू नामक गाँवकी एक कुटियामें घेर लिया गया, तो वह अपने दो गोरे साथियों,—बेकर और विवियन सहित सरकारी सेनासे लड़ते हुए मारा गया। बेकार सा बा का सैनिक-सलाह-कार था। अंग्रेज़ विवियन विद्रोहियोंको शस्त्रास्त्र बेचता था। कहा जाता है कि वर्माके सफ़ेद और लाल ध्वजावाले साम्यवादी दल भी करेनोंकी

सहायता कर रहे थे। आज तो करेन चियांग काई शेकके ,राष्ट्रीय सैनिकोंके साथी हैं, उनसे अब लाल और सफ़ेद दलोंकी अनबन है।

## करेन-समस्या

करेन-समस्याको सुलझानेके लिए बर्मा-सरकारने पर्याप्त प्रयत्न किया। उसने सैनिक कार्यवाहीके साथ समझौतेके सभी मार्ग खुले रक्खे। करेनोंके विकास और अधिकारोंकी सुरक्षाके लिए एक कमिटी क़ायम की। सरकार यहाँ तक तैयार थी कि बर्मा यूनियनके अन्तर्गत 'करेन स्टेट' की स्थापना हो।

इस ओर प्रयास करने पर, विद्रोहियोंने अविद्रोही करेनों पर दबाव डालकर उन्हें अपनी ओर मिला लेना चाहा, क्योंकि करेन स्टेट बन जाने पर विद्रोहियोंको 'देशद्रोही' कहलानेका भय था। उस अवस्थामें, वे ग़ैर क़ानूनी समूहके रूपमें अधिक दिन नहीं रह सकते हैं और अपने अनुयायियों पर उनका असर कम हो जायगा। लेकिन, स्वतन्त्र देशभक्त करेनोंने, करेनोंकी बात न मानी और बर्मा सरकारको करेन-समस्याकी ओर से शान्तिकी साँस लेनेका अवसर मिला।

इधर सा बा की मृत्युसे "के० एन० डी० ओ०" (करेन नेशनल डिफेन्स आर्गेनाइजेशन) में प्रतिक्रियावादियोंको दलका नेतृत्व पा लेनेका मौक़ा मिल गया। फलस्वरूप वे अधिक हिंस्र एवं उग्र रूपमें सामने आये। निरपराध नागरिकोंपर उनके अत्याचार बढ़ गये। इसका यह परिणाम हुआ कि दूर-दूर तक लोग उनके दुश्मन हो गये और सरकारका काम सरल हो गया। अपनी हिंसक-प्रवृत्तियों द्वारा विद्रोहियोंने आत्मनाशका बीज बोया। पहले वे जहाँ तहाँ छिपकर रह लेते थे, अब उन्हें अतिथि बनानेके लिए कोई तैयार न था। हार कर, जंगलमें आश्रय लेना पड़ा जहाँ छिपने पर, सरकारी दलोंने सारे रास्तोंकी नाकेबन्दी करके उनका दम घोट दिया। आज करेन-समस्याकी आग राखमें बदल गई।

दूसरी समस्या चियांग काई शेकके सैनिकोंकी है, जो पाँच वर्ष पहले चीनसे भाग कर बर्मामें घुस गये थे।

करेनोंका प्रश्न चाहे जितना विकट क्यों न हो, वह बर्माका घरेलू प्रश्न था परन्तु चीनी राष्ट्रीय दलोंका सवाल बड़ा पेचीदा और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर अकल्पित प्रभाव डालनेवाला है। चार वर्षके अल्पकालमें ही माओ की मार से बर्मामें आ बसे, ३,००० कोमिंगतांगी फ़ौजियोंकी संख्या बढ़कर १२,००० हो गई। इससे सिद्ध होता है कि कुछ ऐसी विदेशी शक्तियाँ अवश्य हैं, जो इन भगोड़ोंको मदद देती हैं, अन्यथा, ये अपने शस्त्रास्त्र और खानपान कहाँसे पाते रहे? चीनके साम्यवादियों पर तो ये क्या ख़ाक हमला करते, बर्मामें ही इधर-उधर लूट मार करते रहे। ली मी नामक सेनापतिकी कमान के ये १२,००० लुटेरे बर्मामें बिखर गये। इनका बड़ा अड्डा स्याम-बर्मा सीमा पर है। इसके अतिरिक्त, मित्कीवाके उत्तरमें, तेनासेरिममें, शान रियासतमें और केन्तुंगमें इनके छापेमार छिपे हुए हैं। जब तक ये स्वयं निकलना न चाहें, इन्हें निकाल बाहर करना कठिन कार्य है। अब यदि बर्मा फारमोसा-स्थित चीनी राष्ट्रीय सरकार से इस विषयमें शिकायत करता है तो वह कहती है—"हमारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं, ये हमारी आज्ञा नहीं मानते।" दूसरी ओर, बर्मा और फारमोसाके मध्य कूटनीतिक सम्बन्ध नहीं। बर्माने फारमोसा-सरकारको स्वीकार नहीं किया है तो वह भी क्यों सुनने लगी।

## यू० एन० ओ० में

इन परिस्थितियोंसे परेशान होकर, अपने पारिवारिक बन्धु भारत और उसके प्रधान मन्त्रीकी रायसे बर्माने इन आवारा फ़ौजियोंका मामला अप्रैल १९५३ में, संयुक्त राष्ट्र-संघके सामने पेश किया। २० अप्रैलको यू० एन० ओ० की पोलिटिकल कमिटीके सम्मुख बर्मी प्रतिनिधिने पुरज़ोर शब्दोंमें अपने देशमें प्रविष्ट लुटेरोंकी हालचाल और रीति-नीतिसे सम्बन्धित बयान दिया। इन भगोड़ोंने, न केवल अनधिकृत रूपसे बर्मी सीमामें प्रवेश

कर अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनका उल्लंघन किया, वरन् एक शान्तिप्रिय राष्ट्रके सीधे-सादे नागरिकोंको अपने अन्यायका शिकार बनाया। यही नहीं, बर्माके मित्र पड़ोसी साम्यवादी चीनके इलाक़ोंमें लूटपाट और छीनझपटकी तैयारियाँ दिखाकर, इन दलोंने, चीनी-बर्मी मैत्री-सम्बन्धमें चिनगारी लगानेका शत्रुतापूर्ण कार्य किया!

कमिटीके कई सदस्योंने बर्माकी माँगका समर्थन किया। इजराइली प्रतिनिधिने तो यहाँ तक कहा—"जिस आक्रमण-द्वारा, आक्रान्ताको छिपाया जाता है, वह अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनकी नज़रमें और भी भयंकर अपराध है।" संयुक्त राष्ट्रसंघके सिद्धान्त किसी भी प्रकारके आक्रमणकी भर्त्सना करते हैं।

## समझौता : फिर भी अशान्ति

यू० एन० ओ० में किये गये इन प्रयत्नोंका परिणाम यह निकला कि अमरीकाके निवेदन पर —बर्मा, फारमोसा, स्याम और अमरीका—इन चार देशोंके बीच, राष्ट्रीय चीनी दलोंके बर्मासे हटानेके लिए, बेंकाकमें एक समझौता हुआ।

यद्यपि, उक्त समझौता अपने आपमें एक बड़ी सफलता है परन्तु सैनिकोंसे बर्मी सीमा ख़ाली करवा लेना आसान काम नहीं है। एक मासकी गुप्त मन्त्रणाके पश्चात्, समझौता करनेवाले ये चारों राष्ट्र, इस परिणाम पर पहुँचे कि फारमोसाई सैनिकोंको स्यामके रास्ते बाहर किया जाय। फिर भी, यह प्रश्न रह जाता है कि सैनिक इस कार्यमें कहाँ तक सहयोग देंगे? वर्षों लूट-मारका स्वच्छन्द जीवन बिता लेने पर क्या फारमोसाका अनुशासनपूर्ण वातावरण इन्हें अप्रिय न लगेगा? इसलिए हो सकता है कि फारमोसा जानेकी अपेक्षा, वे लुटेरोंकी खानाबदोश ज़िन्दगीको प्राथमिकता दें और बर्मी इलाक़ोंमें बिखरे रहना ज़्यादा पसन्द करें! फारमोसा कहता है—साम्यवादियोंको ख़तम कर चीनको आज़ाद करनेकी इन देशभक्तोंने शपथ ली है, अतः अपने देशकी सीमाके निकटतम भागमें रहनेका चुनाव इन्होंने किया है—यह पागलोंकी-सी बात है। आज

५ साल हो गये, चियांगके इन गिरहकटों और बटमारोंने, निकटवर्ती यूनान प्रदेशीय साम्यवादियोंसे लोहा लेनेका साहस नहीं किया। और अपने किसी भी उद्देश्य की पूर्तिके लिए ये दूसरे राष्ट्रकी सीमा भंग करें, यह कहाँ का न्याय है? मज़ेदार बात तो यह है कि इनकी उपस्थितिसे जानकार होते हुए भी साम्यवादियोंने स्वयं कभी यह कोशिश नहीं की कि इनसे लड़ा जाय। ऐसा करनेपर, मिट्टीके इन चंद लोगोंको अनावश्यक महत्त्व मिल जाता। शायद, उसी कारणवश, राजनीतिक समितिमें रूस भी इन्हें उपेक्षित कर गया।

समझौतेके अनुसार बर्मा इन्हें स्याम तक पहुँचायगा, स्याम इन्हें अपनी भूमि पर एकत्र करेगा और फारमोसा अपने इन "वीरों" का स्वागत करेगा। यदि सारे प्रयत्नों, और सभ्योंके समझौतेके बावजूद भी ये कोमिंगतांगी बर्मी सीमासे बाहर निकलना नामंजूर करते हैं, किसी प्रकारकी बाधा पहुँचाते हैं अथवा असहयोग करते हैं तो बर्मा कहता है—'इनको पहुँचानेवाली सहायता बन्द कर दी जाय (चाहे वह जिस देश से, जिस किसी रूपमें आती हो), फिर हम इन्हें देख लेंगे।' यों अकेले और छोटेसे बर्माके लिए ऐसे लोगोंसे लड़ना सर्वथा कठिन कार्य है, जिन्हें बाहरी शक्तियाँ निरन्तर सहायता दे रही हैं। बर्माने इस सम्बन्धमें अमरीकाके प्रति अपनी नाराज़गी ज़ाहिर की है, यहाँ तक कि उससे प्राप्त होनेवाली आर्थिक सहायता लेना भी अस्वीकार कर दिया। फलस्वरूप, अमरीकाने फारमोसाको खटखटाया और शान्ति-वार्ताके लिए उसे तैयार किया। दूसरा दोष स्यामका है। स्यामके सभी भागोंसे इन फ़ौजियोंको तरह-तरहकी मदद मिल रही है। क्या पड़ोसी देशके प्रति स्यामका यही सुधर्म और कर्तव्य है? वास्तवमें, स्याम विदेशी-शक्तियोंका खिलौना है।

अब इन भगोड़ोंको हटा देना बर्मा और एशियाकी शान्तिके लिए आवश्यक है। ये बर्मी धरती पर एक पल भी नहीं रखे जा सकते। यदि इन्होंने चुपचाप पलायन-प्रयाण नहीं किया तो इनकी उपस्थितिको साम्यवादी चीन कभी सहन न करेगा और स्थिति अधिक उलझ जायगी। ऐसा

होने पर, ग़रीब बर्मा राष्ट्रवादियों और साम्यवादियोंकी भिड़न्तका अखाड़ा बन कर दूसरा कोरिया बन जायगा। इसके उपरान्त बर्मामें उठती अराज-कताको भारत कभी स्वीकार न करेगा, न चुपचाप उसे देखता रहेगा। बर्मी-अशान्तिको, भारतके किसी प्रान्तकी अशान्तिसे कम महत्त्व नहीं दिया जा सकता। आखिर, बर्मा १९३५ तक भारतीय प्रान्त रहा है। राजनीतिने उसे अलग कर दिया हो, भूगोल और इतिहास उनकी एकताके पक्षमें रहे हैं।

यही कारण है कि बर्मा इस समस्याके महत्त्वसे पूरी तरह सावधान है। वह सब कुछ देकर भी अत्याचारियोंसे अपनी धरती अपवित्र न होने देगा। और न वह महाशक्तियोंके स्वार्थोंका हवनकुण्ड ही बनेगा!

'बर्मा कोरिया नहीं बनेगा!'

# महाचीन

## राष्ट्रगीत

छैन चिंग छैन चिंग छैन चिंग
छिलाई पूयूआन चो नूती ती लन मन
पावो मंती श्वेल्य् चू छन छन वौमनं सिंगती
छांग छन
चुंग ख्वा मिंग चो ताओ ल्याओ च्वे वे
शेंती सिज़ खौ
मेकोलन पे फ चो फ्वा छो च्वे ह्ो ती खू सन
छिलाई छिलाई छिलाई !
वौमन वानचुंग ईशिंग माओ चो
तेलन्ती फाओ खो छैन चिंग
माओ चो फाओ खो
छैन चिंग छैन चिंग छैन चिंग चिंग !

# नानकिंगके उत्थान-पतनका चक्र

पन्द्रह वर्षपूर्व नानकिंग नगरकी आवादी कठिनाईसे तीन लाख होगी; किन्तु युद्धकालमें जव जापानियोंने इस पर अधिकार किया तो उस समय यहाँकी जनसंख्या दस लाखसे भी अधिक थी। सन् १९२८ तक नानकिंगमें विजलीका प्रकाश नहीं था। कल-वलसे प्राप्त जल और स्वास्थ्य-सम्वन्धी अन्य सुविधाएँ नगर निवासियोंको अप्राप्य थीं; किन्तु आज तो नानकिंगका नक़शा ही पलट गया है—अन्धकारमय गलियाँ और सड़कें विद्युत्-प्रकाशसे जगमग होती हैं। नलमें जलका प्रवाह अनवरत वहता है। पहले जलका पूर्ण अभाव था और वाज़ारोंमें लोटेभर जलके लिए क़ाफ़ी पैसा देना पड़ता था। छोटेसे वेढंगे क़स्वेसे वदलकर आजका नानकिंग चीन देशका गौरव-पूर्ण, प्रगतिशील शहर वन गया है, जहाँ संसारके सभी कोनोंसे लोगोंका आवागमन है।

पिछले तीन-चार सालोंमें नानकिंगमें नयी और शानदार इमारतें वन गयी हैं और नगरके पुनर्निर्माण का कार्य वड़ी तेज़ीसे किया जा रहा है। हालमें ही कई वड़े-वड़े वैंकोंने यहाँ अपनी शाखाएँ खोल दी हैं और कार्यालयोंके लिए सुन्दरतम भवन वनवाये हैं।

नानकिंग सदैवसे ऐतिहासिक नगर रहा है। इसके प्राकृतिक दृश्य दर्शनीय हैं और सामरिक दृष्टिसे इसकी स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नानकिंग शांघाई नगरसे २०० मीलकी दूरी पर, यांग्त्ज़ी नदीके तट पर वसा हुआ है।

देशके अन्य भागोंसे यह, जलमार्गके अतिरिक्त तीन विभिन्न रेलवे-लाइनोंसे जुड़ा हुआ है। ये रेलवे हैं—तिन्शीन-पुकोव, शांघाई-नानकिंग, और शांघाई-हंगचाओ-निंगपो-रेलवे। हालमें ही कई ऐसे विशाल मार्ग

वन गये हैं—जिनके द्वारा देशके विविध छोरों तक हम नानकिंगसे होकर पहुँच सकते हैं।

नानकिंगका प्राचीन इतिहास अत्यन्त रोचक और गौरवपूर्ण रहा है। पिछले २,००० वर्षोमें नानकिंग नगरने ह्रास और विकास, गौरव और रौरवके कई दृश्य देखे हैं। कई राजकुलोंकी यह राजधानी रहा है और समय-समय पर इसके नामोंमें परिवर्तन होता रहा है। नानकिंगका अर्थ है—'दक्षिणी राजधानी'। नानकिंग नामका पूर्व इतिहास १३६८ से मिलता है, जब मिंग सम्राटोंने अपनी कुल-परम्पराएँ स्थापित की थीं। तब इसका नाम 'गिनलिंग' था। यों ईसा मसीहसे कई सौ वर्ष पूर्व नानकिंगके जो अनेक नाम रहे उनमें 'शेंगचाऊ', 'तान्यांग' और 'कियांगनान्' प्रसिद्ध हैं। नानकिंगको अपनी राजधानी बना कर रहनेवालोंमें, मिंग सम्राटोंके पूर्वज थे, जिन्होंने यहाँ मिंग-कुलकी स्थापना की। यह शुभ कार्य सन् १३६८ में 'हुंग-वु' के द्वारा हुआ था। हुंग-वु एक बहादुर सिपाही था जो बौद्ध साधुका रूप धारण करता हुआ एक दिन सम्राट् बन बैठा! मिंग-सम्राटों-की समाधियों, प्रासादों और उद्यानों आदिके भग्नावशेष, अभी भी उस स्वर्णयुगके राजत्वकालका स्मरण दिलाते हैं। इसी वंशके युंग-लो सम्राट्ने १४०० के लगभग इस नगरका परित्याग कर पेकिंगकी शरण ली, क्योंकि मंगोल और तातार जातियाँ आक्रमणोंसे उसे पराजित करनेके प्रयत्न में थीं।

अविराम युद्धों, बाढ़ों, तूफानों और भूकंपोंके अतिरिक्त, नानकिंगने दो भयंकर 'क़त्ले-आम' देखे हैं। प्रथम विनाश छठी शताब्दी में हुआ था, जब कि आक्रामकोंने परकोटेके बीच बसे सारे शहर का नाश कर, वहाँका प्रत्येक मकान गिरा दिया था और जमीन पर हल चला दिये थे, ताकि शहरके पिछले इतिहासका नाम तक शेप न रहे!

नानकिंग पर दूसरी आपदा १८५३ और १८६४ के मध्य आयी, जब 'ताइपिंग' के बलवाइयोंने नानकिंगको विनष्ट कर दिया था। उस घटनाका, सन् १८६१ में एक अंग्रेज़ने अपनी आंखों देखा वर्णन लिखा है, जो इस प्रकार है: 'नानकिंग नगर—वहांके सम्राटोंकी समाधियाँ,

प्रसिद्ध स्फटिक-से चीनी मिट्टीके मन्दिर और अन्य पवित्र-स्थान सर्वथा विनष्ट हो गये हैं। शहरका कोट क़ाफी ऊँचा है। उसका घेरा २० मील है और गलियोंमें पत्थरके चौकोर टुकड़े जड़े हैं; किन्तु आज यह सब व्यर्थ हो चला है, क्योंकि नगर श्मशानवत् है, भवन पाषाणके ढेर मात्र हैं और मनुष्य शवमात्र हैं।' नानकिंगका विश्वप्रसिद्ध चीनी मिट्टीका पेगोडा, जिसे ताइपिंग लोगोंने नष्ट कर दिया था, समस्त चीन देशमें जो 'पेगोडों-का देश' है, सबसे सुन्दर मन्दिर था।

यह पेगोडा पन्द्रहवीं शताब्दीमें सम्राट् युँग—लो ने अपनी माता की स्मृतिमें बनवाया था, इसके बाह्य भागों पर विविध रंगोंके मूल्यवान चौकोर पत्थर जड़े थे। इस पेगोडामें कोई १५० घंटे-घंटियां थे। अपनी 'केरा-मास' नामक कवितामें इंग्लैण्डके महाकवि लांग्फेलोने इस पेगोडाकी बड़ी प्रशंसा की है। ताइपिंग लोगोंके अधिकारके उपरान्त पचास वर्षों तक नानकिंग अस्तव्यस्त दशामें रहा। १९११ में २६० वर्षों तक चीन देश पर शासन करनेवाली मंचु-सत्ताका अन्त हुआ और सुन्यात्सेनकी अध्यक्षतामें चीनी प्रजातन्त्रकी स्थापना हुई। उस समय नानकिंग दक्षिणी चीनकी राजधानी बना; किन्तु, अगले १५ वर्षो तक केन्द्रीय सरकारका स्थान पेकिंगमें ही रहा।

१९२७ में साम्यवादी दलोंने नानकिंग पर अधिकार करनेका प्रयत्न किया परन्तु अमरीकी हस्तक्षेपके कारण असफल रहे। २१ जून १९२६ में चियांग काई शेकने इसपर अपना अधिकार कर लिया।

जब नानकिंग चीनकी राजधानी बन गया तो, वहाँ गृह-निर्माणकी ओर लोगोंका ध्यान गया; फलतः नये-नये मकान बने। रेलकी लाइनें निकलीं और सबसे पहली बड़ी सड़कका नाम 'चुंगशान रोड' रखा गया। 'चुंगशान' सुनयात्सेनका एक नाम है जिस नामसे सारा चीन उन्हें पहचानता है। इस सड़ककी राहमें अनेकों मकान बने थे, उनके मालिकोंको पर्याप्त रक़म देकर संतुष्ट किया गया। इसी रोड पर होकर स्व० डा० सुनयात्सेनके भौतिक शरीरको अर्थी पर ले जाया गया था, जो 'परपल-माउण्टेन' के

ढालपर दफनाया गया और वहीं एक शानदार सुन्दर समाधि बनवायी गयी। १९२ में कुओमिंग तांगके केन्द्रीय कार्यालय भी कियांगसुकी प्रान्तीय असेम्बलीवाले भवनोंमें स्थापित किये गये थे और नगरपालिकाके कार्यालय, कन्फूशियसके मन्दिरके निकट परीक्षा-गृहमें ही रहे।

१९३२ में नानकिंगमें कई नयी इमारतें बनीं, और सर्वप्रथम रेलवे-मिनिस्ट्रीके कार्यालय वहाँ लाये गये। रेलवे-विभागके भवन सर्वोत्तम हैं और इस उत्तम कार्यके लिए अधिकांश श्रेय डा० सुनयात्सेनके सुपुत्र 'सुन्-फो' को है, जो उस समय रेलवे-मन्त्री थे। इसके दो वर्ष पश्चात् विदेश-विभागका कार्यालय भी पक्की ईंटोंके एक सुन्दर भवनमें स्थापित हुआ। सूचना-विभागके भवनका नक्शा एक रूसी शिल्पीने बनाया था। चीनी तथा पाश्चात्त्य कलाका इस भवनके शिल्पमें पर्याप्त मेल है, जो सर्वथा प्रशंसनीय है। इसके पश्चात् कुछ-ही समयमें कई इमारतें बन गयीं। जिनमें 'सुप्रीम-कोर्ट' की इमारत प्रसिद्ध है। नानकिंग नगरमें सरकारके आ जाने पर, पहला काम जल-प्रबन्धका किया गया। १९२९ में 'वाटर वर्क्स' की स्थापना हुई और १९३३ तक क़ाफ़ी सफलता इस कार्यमें मिली। कुलीके द्वारा ढोया जानेवाला पानी अब मीटरके द्वारा आने लगा! कुएँ न होनेसे, जलके लिए नानकिंग खाकी रंगकी मटमैली सरिता यांग्त्जी पर निर्भर है। यांग्त्जी सारे देशका चक्कर काटती हुई नानकिंग नगरके बाहर आ निकली है।

चियांगके समय यह हाल था कि चीनके किसी भी नगरमें आप जाइये, कुत्ते, सूअर और बिल्लियाँ राहमें दिखेंगे। कुत्तेको मारना चीनी लोग पाप समझते हैं। चीनमें एक कहावत है कि जो वस्तु किसीकी नहीं है, उस पर सबका समान अधिकार है। यह कहावत सड़कके विषयमें पूर्णतया लागू होती है। सड़कके दोनों ओरकी चौड़ी पटरियोंपर स्त्रियाँ छोटी-छोटी काठकी चौकियों पर बैठ जाती हैं और वहीं बच्चोंको दूध पिलाने लगती हैं। इन्हीं फुटपाथोंपर गंदे कपड़ोंवाले आवारा लड़के खेलते रहते हैं। पिल्ले ऊँघते हैं। और वहीं अम्माएँ आपसमें गप्प लड़ाने लग जाती हैं। इन

'सार्वजनिक' सड़कों पर व्यवसायी बनिये अपने चावल धूपमें फैला देते हैं। लॉण्ड्रीवाले अपने कपड़े बीच सड़कपर सुखा देते हैं। इसके अतिरिक्त कॉफी बनानेवाले अपना सारा व्यवसाय सड़कपर फैलाकर बैठते हैं। आज यह दृश्य नहीं रहे। पहले नानकिंगमें रात्रिके बारहके बाद, नृत्य-गान बन्द कर देनेकी आज्ञाएँ थीं। वहाँके प्रसिद्ध नृत्य-मन्दिर 'अन्तर्राष्ट्रीय क्लब' में शनिवारकी सन्ध्यामें भारी भीड़ होती थी और प्रत्येक देश और जातिके लोग नृत्य-समारोहमें सम्मिलित होते थे। ऐसे स्नेह-सम्मेलन अन्यत्र नहीं पाये जाते। नाचके अतिरिक्त गान-विद्याका भी नानकिंगमें पर्याप्त सम्मान है। बहुत कम पैसा ख़र्च कर बढ़िया गीत सुने जा सकते हैं। चीनी भाषाके कवि 'लिन युत्तांग' का एक गीत वर्षों पहले बहुत गाया जाता था। इस गीतमें एक तपस्विनी 'प्रेम पुजारिन' अपने मोहनको ढूँढ़ती है।

नानकिंगमें संगीत और कला-केन्द्रके सिवाय कई व्यायाम-गृह भी हैं और वहाँ प्रायः सभी पाश्चात्य खेल खेले जाते हैं। छुट्टीके दिन इन स्थानोंमें क़ाफी भीड़ हो जाती है। पार्क और उद्यानोंकी भी वहाँ कमी नहीं है। स्वास्थ्यवर्द्धक मुक्त पवनके लिए लोग 'कमल झील' पर जाते हैं। चाँदनी रातोंमें इस झीलमें अनगिनती कमल खिलकर अपनी गन्धसे हवाको भर देते हैं। तबका दृश्य अनोखा होता है। शौक़ीन लोग ऐसी चाँदनी रातोंमें वहाँ नाव चलाते हैं।

किन्तु नानकिंगका प्राकृतिक दृश्यसे पूर्ण सर्वश्रेष्ठ स्थान है 'परपल पहाड़', जो शहरके पूर्वमें कुछ ही मीलकी दूरी पर है। यह पर्वत कई प्रकारके वृक्ष और वनस्पतियोंसे आच्छादित है। इसके ढाल पर ही डा० सुनयात्सेनकी समाधि है। यहीं वह चीनी प्रजातन्त्रका जनक शान्तिसे सोया है। वर्षभरमें एक बार जनताको उनके मुखमण्डलका दर्शन करने दिया जाता है। इस समाधिकी समाप्ति १९३० में हुई थी जबकि १०,००,००० डालर इसकी लागत है। इससे आगे प्राचीन समाधि-स्थान और श्मशान घाट हैं जो 'आत्माकी घाटी' नामसे प्रसिद्ध हैं। इसी श्मशानमें चीनी क्रान्तिके २४,००० बहादुरोंके स्मृतिसूचक पत्र हैं। 'परपल पर्वत' के

समीप ही 'फूलोंकी चट्टानें' हैं । ये वही चट्टानें हैं जिनसे चीनका प्रसिद्ध कवि लि-ताई-पो (७०५-७६२) नशेकी अवस्थामें कूद गिरा और नीचे झीलमें डूब मरा था । 'फूलोंकी चट्टानें' नाम इसलिए दिया गया कि चट्टानोंका रंग लाल है। और ये नगरसे १९ मील दक्षिण पूर्वी भाग पर स्थित हैं।

पुराना नानकिंग स्वा थ्यके विषयमें बहुत पिछड़ा हुआ था। विभिन्न प्रकारके लोग इसे अपना डेरा बनाये हुए थे। आज यह बात नहीं है सरकार रोगोंको दूर करनेके लिए भरसक प्रयत्न कर रही है । पुलिस छूत-जनित रोगोंके लिए बलात् टीके लगवाती है। घर-घर जाकर टीके लगानेके लिए डाक्टरोंके ६४ दल हैं। सन् १९३६ में १,४१,८९३ व्यक्तियोंको टीके लगाये गये थे। फिर भी नानकिंग रोगमुक्त स्थान नहीं था। मलेरिया वहाँका प्रमुख रोग था। प्रतिवर्ष सैकड़ों व्यक्ति मलेरिया-ज्वरके कारण मृत्युकी शरणमें जाते थे। फरवरी १९३४ में मलेरिया-नाशक-मण्डलकी स्थापना की गयी थी और शहरमें लगभग ३० सुयोजित अस्पताल, स्थापित किये गये थे। अब नई सरकारने चीनको मलेरियासे मुक्त किया।

शिक्षा-प्रचारके क्षेत्रमें नानकिंग नगर प्रतिदिन उन्नति कर रहा है। कई प्रकारकी शिक्षण-संस्थाएँ यहाँ हैं । आजका नानकिंग पूर्वके किसी भी बड़े से बड़े नगरकी तुलना में लिया जा सकता है। जनरालिसीमो चियांग-काई-शेकके बाद आज उस पर साम्यवादियोंका लाल ध्वज फरफरा रहा है और वह पूर्वके समस्त शोषितोंको पुनर्जीवनके लिए पुकार रहा है। नये चीनमें और नये नानकिंगमें, नयी मानवताका उदय हो रहा है। यह उदय एक ऐसी मानवताका है जो समानता, भ्रातृत्व और एकताके प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तोंके लिए जियेगी और जीकर अमर होगी।

# प्रशान्तमें अशान्तिकी लहरें !

पूर्वी एशिया या दूरपूर्वमें अशान्ति बनी रहे—ऐसा १९४५ से ही पश्चिमके तथाकथित बड़े राष्ट्रोंका उद्देश्य रहा है। द्वितीय महायुद्धके पश्चात् अमरीकाने एक नई नीति अपनाई और शीतयुद्धको जन्म मिला। अपने यहाँ जो आर्थिक मन्दी आनेवाली थी उसकी आशंका और भय अमरीका सरकार पर छाये थे। इससे मुक्ति पानेके लिए उसने योरप, एशिया और स्वयं अपने देशकी जनताको युद्धके भूतसे बुरी तरह डरा दिया। इस भयसे अभिभूत विश्वके अनेक छोटे-बड़े राष्ट्र सामरिक सज्जामें लग गये और अपनी जनताकी गाढ़ी कमाईका सोना शस्त्रास्त्र खरीदनेमें खर्च करने लगे। अमरीकाको इस गड़बड़ी और हड़बड़ीसे पर्याप्त रूपेण लाभ हुआ और वह सोना लेकर या लेनेका वचन पाकर अपने पुराने हथियार और गोला-बारूद मुल्क-मुल्कको बाँटने लगा। अब तो अनेक क्षेत्रोंमें होलियाँ भी धधक उठीं। जैसे—कोरिया, काश्मीर, स्वेज नहर, इज़राइल, लंका में भारतीयोंके अधिकार, अफ्रीकामें रंगभेद, बर्मासे सफ़ेद चीनियोंको निकालनेका सवाल, हिंदचीन फ़ारमोसा आदि अनेक उलझनें पैदा कर दीं। इसके अतिरिक्त दूसरे दौरमें उसने खुल्लमखुल्ला रूपमें सैनिक-पैक्ट और अभिसन्धियाँ स्थापित करना आरम्भ कर दिया। परिणाममें—नॉर्थ अटलाण्टिक टीटी आर्गेनाइज़ेशन (नेटो), पेसिफिक-पैक्ट, मिडल ईस्ट डिफेन्स आर्ग़ेनाइज़ेशन (मेडो), साउथ-ईस्ट एशिया टीटी आर्गेनाइज़ेशन (सीटो) और बगदाद पैक्ट आदिके मुहरे राजनीतिक शतरंज पर रखे गये।

पूर्वमें ब्रिटिश साम्राज्यवादके निर्बल पड़ जानेके अवसरसे अमरीकाने चाहा कि वह ब्रिटेनके रिक्त स्थान पर व्यवसायीके रूपमें प्रतिष्ठित हो जाय, इस प्रकार साम्राज्यवादने व्यवसायवादके नये बानेमें फिरसे एशियामें अपने पंजे गड़ाना चाहा। द्वितीय महासमरकी समाप्तिके पूर्व ही राजनीति-

विशारदोंके मानस-पटल पर यह रहस्य स्पष्ट रूपमें झलकने लगा था कि युद्धान्त पर अमरीका एशियासे अपना आधिपत्य नहीं हटायगा। फासिस्ट और नात्सियोंसे विश्वको मुक्ति दिलानेका उसका वादा क्या इसी रूपमें प्रतिफलित होने वाला था ?

पिछले महासमरके समय १९४३ के दिसम्बर मासमें अमरीका, ब्रिटेन और चीनने काहिरामें इस बातकी घोषणा की थी कि तीनों ताक़तें समुचित समय आने पर कोरियाको स्वतन्त्र कर देंगी। इस घोषणाको पोस्टडममें २६ जुलाई १९४५ के दिन फिरसे दुहराया गया और ८ अगस्त १९४५ को रूसने घोषणा की कि हमारी लड़ाई आज़ादीके लिए है। हम किसी दूसरे मुल्कमें अपना एक सिपाही भी नहीं रखना चाहते और शीघ्र ही कोरियासे अपनी सेनाएँ हटा लेंगे।

—लेकिन, युद्धान्त पर भी जब अमरीकाने कोरियासे अपनी फ़ौजें नहीं हटाईं, तो यह साबित हो गया कि वह पूरबमें डटा रहना चाहता है। और, वह स्थिति चाहता है जो कुछ वर्षों पूर्व यूनियन जैकके सेनानी ब्रिटेनको प्राप्त थी। ऐसी अवस्थामें रूसने कोरियासे अपनी सेनाएँ हटा कर ९ सितम्बर १९४८ में कोरियाई "डेमोक्रेटिक पिपुल्स रिपब्लिक" नामक सरकारका आरोहण करवाया।

जिस प्रकार अमरीका कोरियासे नहीं गया, उसी प्रकार वह फ़ारमोसा से भी नहीं हटा। हटना उसे चाहिए, क्योंकि ऐसा एक सुलहनामा मित्रोंके मध्य पहले हो चुका है—नवम्बर १९४३ की काहिरा घोषणामें कहा गया था कि मित्र राष्ट्र चीन देशको वे स्थान लौटा देंगे, जो जापानने उससे चुरा लिये हैं। इस उद्घोषणाका आज तक पालन नहीं किया गया। और महाचीनको इसके विरुद्ध उलझा कर एशियामें अपना प्रभुत्व बनाये रखनेका कार्यक्रम यथावत् चलता रहा। यही नहीं, अब तो काहिराकी उपर्युक्त उद्घोषणासे भी मित्र-गण बदल गये हैं और कहते हैं कि यह तो सुलह या इकरारनामा न होकर मात्र एक 'विचारनामा' था।

४ फरवरी १९५५ को ब्रिटेनके विदेश मन्त्री श्री एन्थोनी इडनने

फरमाया—"चीनका कुओ मिङ्ग-तांग द्वारा अधिकृत किसी प्रदेशकी पुन-प्राप्तिका प्रयत्न वर्तमान परिस्थितिमें ऐसे हालातको जन्म देगा, जो विश्व-शान्ति और सुरक्षाको संकटमें डाल देंगे।"

आगे चलकर श्री इडनने फ़ारमोसाके इतिहासको इस प्रकार प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की कि लाल चीनका दावा झूठा पड़ जाय। आप कहते हैं—"फ़ारमोसा और पेस्काडोर्सके द्वीप चीनने सिमिनोसेकीकी १८९५ की सन्धि-द्वारा जापानको दे दिये थे और मित्र राष्ट्रोंने काहिरामें जो उद्घोषणा की थी उसका अर्थ सिर्फ़ इतना ही था कि उपरोक्त द्वीप-समूह चीनको दिला देनेका इनका विचार है। परन्तु फ़ारमोसा और पेस्काडोर्सके द्वीप चीनके पास चले जानेकी रस्म पूरी नहीं हुई और न किसी सर्वमान्य सही तरीक़ेसे वे चीनको दिये ही गये। इसका कारण यह रहा कि इन द्वीपोंके स्वामित्वके दो दावेदार उठ खड़े हुए—लाल चीन और राष्ट्रवादी चीन।"

लाल चीनकी राजधानी पेकिंगसे फ़ारमोसाकी मुक्तिके लिए जो दावे पेश किये गये हैं और जो बातें बताई गई हैं उनसे यह साफ़ ज़ाहिर है कि चीन राष्ट्रवादी कुओ मिङ्ग-तांग गुट्टको नष्ट करके ही दम लेगा। उसने विदेशी आक्रमणकारियोंको किसी भी प्रकारके हस्तक्षेपकारी क़दम लेनेके विरुद्ध चेतावनी दी है। प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाईने अगस्तके द्वितीय सप्ताहमें एक बयानमें बतलाया था कि चीनकी सार्वभौमिक सत्ता एवं सीमाकी सुरक्षाके लिए ताइवानकी मुक्ति आवश्यक है। भले, चाऊ महोदयका यह कथन चियांग काई-शेकके दलकी नज़रोंमें संकटपूर्ण हो या न हो, दूर-पूर्वमें आज जो वातावरण प्रसारित है वह समस्त एशियाके लिए चिन्ताका विषय बन गया है। क्योंकि एशियावासी जानते हैं कि साम्यवादियों और राष्ट्रवादियोंके मध्य जो जंग छिड़ेगा, वह इन दोनों तक ही सीमित नहीं रहेगा, वरन् उसके अन्तर्राष्ट्रीय महायुद्धमें परिवर्तित हो जानेकी पूर्ण सम्भा-वना है।

पिछले दिनों अमरीकाके राज ीि क नेताओंने यह माँग पेश की थी कि चीनके ख़िलाफ़ कड़ी कार्रवाई की जाय और चियांग काई-शेकको भरपूर सहा-

यता दी जाय। इसके कुछ ही हफ्तों बाद फ़ारमोसा स्ट्रेटमें कुओ-मिन्-तांग नौसेना और वायुसेनाने सरगर्मियाँ दिखानी शुरू कीं। उसी समय पेकिंग-सरकारके सम्भावित मुक्ति प्रयासकी उद्घोषणासे स्थिति और दुरूह हो जाती है। ऐसी विषमावस्थामें आशाकी एक मात्र किरण हमें इस स्थिति-द्वारा दृष्टिगत होती है कि महाशक्तियाँ सामरिक शस्त्रास्त्रोंसे लैस होने पर भी लड़नेमें आगा पीछा कर रही हैं। वे युद्ध चाहती हैं और नहीं चाहती हैं। छोटे-छोटे राष्ट्र जो महाराष्ट्रोंके पुछल्ले बने हुए हैं उन्हें अपनी मर्ज़ी और स्थिति पर तो स्वतन्त्र रूपसे सोचने और समझनेका अवकाश ही नहीं। जहाँ एक बार युद्ध छिड़ा कि वे अपने अपने आक़ाओंके पीछे—गेहूँके साथ घुनकी तरह पिस जायँगे। इसीलिए युद्धसे वे भय खाते हैं। यह बात अलग है कि कुछ समझदार देश शान्ति चाहते हैं और शान्तिके प्रयत्नोंमें मानव मात्रकी मुक्ति देखते हैं परन्तु, आजके एशिया पर अन्तर्राष्ट्रीय उलझनोंका जो जाल पड़ा हुआ है वह सहज ही कटने-हटने वाला नहीं है। उसमें अनेक प्रकारकी सन्धियों, क़ानूनी दावपेचों, पैक्टों और षड्यन्त्रोंकी गाठें पड़ी हुई हैं। इस कारण दूरपूर्वके सवालको सुलझा लेना और भी कठिन हो जाता ह। उपरोक्त दशाको देखते हुए आजकी घड़ीकी एक मात्र माँग यही हो सकती है कि दोनों ओरके पक्ष और अन्यान्य गुट्ट और दल शान्ति, धैर्य और विश्वाससे काम लें। पारस्परिक विश्वास-विहीन वातावरणमें शान्तिकी सन्धि-रचना नहीं हो सकती और दुनिया यह जानती है कि दोनों दल मैत्री और मंगलकारिणी भावना भूल चुके हैं। सम्भवतः इसीलिए पं० नेहरूने लन्दनसे प्रकाशित एक बयानमें "सहनशीलता और गम्भीरता धारण करने" की अपील की थी। निराशाके इस मरुस्थलमें पंचशील ही आशाकी मरुगंगा प्रतीत होती है।

पश्चिमके अनेक महारथी आज भी यह माननेको तैयार नहीं कि पुराना एशिया—जिस पर उन्होंने मनमाने अत्याचार किये थे और जिसके शोषणकी बदौलत उनके पूर्वजोंको सभ्य संसारकी सदस्यता मिली, आज उतना निर्बल नहीं है कि पश्चिमका छोटा या बड़ा जो भी देश चाहे उसके

चीनी सरकार के अध्यक्ष श्री माओ-त्से-तुंग

अंगभंग पर अपना रंग जमा सके। यही कारण है कि पूर्व और पश्चिमके बीचकी खाई पटने नहीं पाती। आज पश्चिमके लिए आवश्यक है कि वह पूर्वके प्रश्नोंको नई दृष्टिसे देखे और उसकी समस्या और उसकी माँगोंको युगके प्रकाशमें पहचाननेका प्रयत्न करे। रूस तो शासकके रूपमें एशियामें कहीं रहा नहीं—न कहीं उसका अड्डा है, न कहीं उसका डेरा है। केवल साइवेरियाकी उसकी अपनी भूमि पूर्वी एशियाई प्रदेश पर फैली पड़ी है, जो इस बातकी साक्षी है कि एशियाके हितके विरुद्ध रूस कभी सोच नहीं सकता और पूर्वका प्रत्येक प्रश्न रूसके लिए भी अपना प्रश्न है। लेकिन, अमरीकाको पूरबसे क्या लेना देना ? जापान उसके शासनमें है। जापान और फिलिपाइनको छोड़कर उसका कोई देश-प्रदेश या अधिकारपूर्ण सीमा एशियामें नहीं है। जापानमें वह कब तक टिकेगा, कह नहीं सकते। फ़ारमोसामें वह जबरन् टिका हुआ है। उसीको लेकर तो यह सब बखेड़ा है। यदि अमरीकी सेना और उसका सातवाँ बेड़ा फ़ारमोसा और उसका निकटवर्ती प्रदेश खाली कर दे तो युद्धकी यह सारी घटाएँ ओझल हो जायँ और संसार शान्तिकी साँस ले। परन्तु ऐसा होना सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अमरीकाका दावा है कि उसकी सुरक्षाकी रेखा-पाँती फ़ारमोसा स्ट्रेट तक आती है और वह प्रशान्त महासागरमें किसी प्रकारकी गड़बड़ बर्दाश्त नहीं कर सकता। यदि इस दावेको न्यायपूर्ण निर्णय मानकर, इसके समानान्तर कार्य करनेके लिए अन्य राष्ट्र भी कटिबद्ध हो जायँ तो दुनिया एक दिन भी चैन से नहीं रह सकती। तब तो चीन कहेगा कि उसकी सुरक्षा इसीमें है कि वह पूरे कोरिया और जापानको अपनी छत्रछायामें ले ले। और रूस मेक्सिको तक अपनी सुरक्षाकी सीमा-रेखा फैला दे तो क्या प्रतिफल होगा ? हिन्दुस्तान यदि इस बातका दावा करे कि श्रीलंका और हिन्देशिया, बर्मा और स्यामके बिना उसको अपनी सुरक्षा नज़र नहीं आती तो, नतीजा क्या होगा ? बड़े राष्ट्रोंकी ऐसी लालचभरी निगाहों और कोशिशोंके कारण छोटे-छोटे राष्ट्रोंका अस्तित्व मिट्टीमें मिल जायगा और संसारमें आत्मनिर्णय, स्वतन्त्रता और भ्रातृभावनाका नाम न रहेगा !

जनवरी १९५५ के मार्च में यू. एन. ओ. ने निर्णय किया कि यू. एन. सुरक्षा-परिषद्की उस बैठकमें लाल चीनको आमन्त्रित किया जाय, जो फ़ारमोसा स्ट्रेटमें युद्धबन्दीके विषयमें आयोजित की जा रही है। जब अमरीकी हवाईबाज़ोंकी मुक्तिके प्रयत्नमें सेक्रेटरी जनरल दाग हेमरशोल्ड नई दिल्ली आये तो, पण्डितजीने अपने एक बयानमें यह बताया था कि आजकी स्थिति यह साबित कर रही है कि चीन-जैसे देशको यू. एन. ओ. का सदस्य न बनाकर कितनी बड़ी ग़लती की गई है। चीनका सदस्य होना एक सर्वस्पर्शी एवं महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

जिस चीनके लिए यू. एन. ओ. का द्वार सदैव बन्द रखा गया, उस देशको आज पश्चिमके महादेश यू. एन. ओ. के मन्दिरमें आमन्त्रित कर रहे थे। परन्तु, चीनने इसे अस्वीकार कर दिया। चीनका ऐसा करना स्वाभाविक था क्योंकि वह फ़ारमोसा-सरकारकी बराबरीमें नहीं बैठना चाहता था। फ़ारमोसा-सरकारका अपना कोई न्यायपूर्ण अस्तित्व और अधिकार नहीं था, न है, फिर भला चीन उसे कैसे स्वीकार करता? उसके साथ बैठनेका अर्थ हुआ—उसके अस्तित्वको स्वीकार करना और उसके अस्तित्वको स्वीकार करनेका मतलब है उसको रिआयत देना। चीन यह जानता था कि उसे यू. एन. ओ. में सदाके लिए स्थायी सदस्यता देनेके विपक्षमें जो देश हैं, वही आज उसे अपनी संगतमें बिठानेको उतावले हो रहे हैं और उनका यह क़दम मात्र अपनी स्वार्थ सिद्धिके लिए है। एक ओर फ़ारमोसा स्ट्रेटमें खुले रूपमें अमरीका तोप और बन्दूक़-द्वारा दण्ड, भदकी नीति बरत रहा था, दूसरी ओर वह यू. एन. ओ.के पर्देके पीछे छद्म रूपसे चीनको निमन्त्रण दे रहा या दिला रहा था। उसे और उसके साथी ब्रिटेनको यह आशा थी कि कॉमनवेल्थ कान्फ्रेन्समें भाग लेते पं० नेहरू अपने सर्वव्यापी प्रभाव द्वारा ऐसा कोई न कोई हल अवश्य निकाल देंगे जो पश्चिमके हितमें होगा। परन्तु पं० नेहरूने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि शेप संसार और पूर्वकी स्थायी शान्तिके लिए चीनका यू. एन. ओ. प्रवेश अनिवार्य एवं प्रथमावश्यकता है। इसके पूर्व, जब यू० एन० ओ० के जनरल सेक्रेटरी दाग हेमरशोल्ड

चीनसे लौट कर घर आये तो उन्होंने न्यूयार्कमें १४ जनवरी १९५५ की अपनी प्रेस कान्फ्रेन्समें यह कह कर अमरीकियोंको चौंका दिया कि संयुक्त राष्ट्र संघकी दृष्टिसे यह हितपूर्ण होगा कि चीन जैसा महादेश उसका सदस्य वने। चीनकी सरकार भी राष्ट्र-संघको अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिमें एक महत्त्वपूर्ण सत्य स्वीकार करती है।

दोनों नेताओंके उपरोक्त कथनसे यह प्रमाणित होता है कि राष्ट्र-संघमें चीनकी उपस्थिति कितनी आवश्यक रही है। यदि इस सत्यको पहले ही स्वीकार कर लिया जाता तो एशियाको कोरियाके रूपमें ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण दिन न देखने पड़ते। ब्रिटेनके विदेश-मन्त्री श्री एन्थोनी इडनने इस बातको मंजूर किया कि चीनका यू० एन० ओ० प्रवेश शान्तिके लिए आवश्यक है। श्री इडन ही नहीं, सारा ब्रिटेन चीनको अपना न्यायपूर्ण स्वत्व दिलानेके लिए एक स्वरसे पुकार रहा था। अपनी चीन-यात्रासे लौटते समय १ नवम्बर १९५४ को पं० नेहरूने रंगूनके बयानमें पत्रकारोंसे कहा—"संयुक्त राष्ट्र संघसे चीनको वाहर रखना स्वयं इस विश्व-संस्थाका अपना अपमान है और चीनकी अपेक्षा इसमें उसकी अपनी हानि ही अधिक है।" वास्तवमें चीनको परे रख कर राष्ट्र-संघ चीनकी ६० कोटि जनताकी अवमानना कर रहा है। सामयिक समस्याएँ इतनी प्रवल हैं कि उन्होंने ऐतिहासिक सत्यको ढँक लिया है परन्तु वे स्थायी रूपसे, उसे दवाकर रखनेमें कभी सफल न हो सकेंगी।

जव चीनने यू० एन० ओ०में फ़ारमोसाके मामले पर वार्तालाप करनेके लिए अपना प्रतिनिधि भेजनेसे इन्कार कर दिया, तो पश्चिमके कई देशोंने आश्चर्य प्रकट किया। परन्तु चीन-जैसी-परिस्थितिमें अवस्थित कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र अपना प्रतिनिधि भेजनेके प्रस्तावको कदापि स्वीकार नहीं करता। यू० एन० ओ०के निमन्त्रणको अस्वीकार करते हुए चीनी प्रधान मन्त्री चाऊएन-लाईने जिस कठोर भाषाका प्रयोग किया वह एंग्लो-अमरीकी गुट्टको पसन्द नहीं आई परन्तु, चीन जिन विरोधी अवस्थाओंसे घिरा हुआ है, जिन अस्तित्व-विनाशक कारणोंको देखकर उसने ऐसा व्यवहार किया

उसमें किसी देश या दलकी प्रसन्नता-अप्रसन्नताका कोई प्रश्न नहीं और ऐसी अवस्थामें तो कहना होगा कि चाऊ-एन-लाईका जवाब क़ाफ़ी विनम्र था। अमरीका और उसके शासक रिपब्लिक दलने पिछले वर्षों जो नीति अपनाई है, वह निरन्तर विश्वशान्ति और सुरक्षामें बाधक बनती रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिमें यह कैसा मज़ाक है कि लाल चीनकी सीमासे दस मील दूर स्थित क्यूमॉयको अमरीका पश्चिमी प्रजातन्त्रोंकी सुरक्षा-सीमाके अन्तर्गत मानता है और स्वयं अपनी सुरक्षाके लिए भी क्यूमॉयको सुरक्षा सीमाके भीतर लेता है। वह अमरीका जो क्यूमॉयसे छः हज़ार मील दूर स्थित है! परन्तु क्या अमरीकाके वर्तमान शासकोंने कभी यह नहीं सोचा-समझा कि आत्मरक्षा सबको इष्ट एवं प्रिय होती है और लाल चीनके लोग भी यदि यह कहने लगें कि अमरीकी सीमाका कोई शिकागो-जैसा नगर या लांग आइलैण्ड-जैसा—द्वीप चीनकी सुरक्षा सीमाके अन्तर्गत आता है तो, क्या नतीजा निकलेगा? परन्तु बेचारे चीनके पास संहारक शस्त्रोंकी वह शक्ति कहाँ जो उसको इतना मदहोश कर दे कि वह न्याय और नियमोंके अस्तित्वको ही विस्मृत कर दे। सचमुचमें तो अमरीकी-सत्ता न्याय-द्वारा अनुशासित नहीं है, वह अणुबमकी स्वामिनी है और अणुबम सभ्य संसारके तर्क और न्यायसे मुक्त है। जहाँ तक फ़ारमोसाका सवाल है चीन आक्रान्ता नहीं हो सकता। अपने घरमें घुस आये किसी लुटेरेको बलपूर्वक निकाल देना, आक्रमण नहीं कहा जा सकता। आक्रमण तो वे करते हैं—जो लुटेरोंको निकालने वालोंके मार्गमें बाधक बनते हैं। इसलिए, जब तक फ़ारमोसा स्ट्रेटमें अंग्रेज़ोंकी साज़िशमें चलनेवाले अमरीकी जंगी बेड़े तोपें तानकर घूमते रहेंगे, तबतक दूरपूर्वमें शान्तिका सूर्योदय नहीं हो सकता। न जाने कब-कब की सड़ी-गली सन्धियोंको दिखाकर छः हज़ार मील दूर रहनेवाला अमरीका अपने साथी और क़ानूनबाज़ ब्रिटेनको लेकर आज निरन्तर चीनके घरेलू मामलेमें, खुले रूपमें हस्तक्षेप कर रहा है और अफ़सोस तो इस बातका है कि एशियाके मुँहमें आवाज़ नहीं है, जो इसका सम्मिलित स्वरमें विरोध करे। पश्चिमके ये दो महाराष्ट्र जानते हैं कि

उनकी अपेक्षा एशिया किसी क़दर कमज़ोर है, आजकी उसकी कमज़ोरीका लाभ, लड़कर, उठाया जा सकता है। परन्तु पश्चिम इस बातसे क्यों बेख़बर है कि एशियाने अपनी धरतीसे साम्राज्यवादके उस बूढ़े बरगदको उखाड़ फेंका है जिसकी जड़ें अमरीका और ब्रिटेन एशियाकी धरती पर फिरसे रोपकर एशियावासीके लाल लहूसे सींचना चाहते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है चीनके मामलेको लेकर एशियाके कुछ राष्ट्र मौन हैं, परन्तु वे चीनके अधिकारको न्यायसंगत मानते हैं और वास्तवमें गोरे आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और फिलिपाइन-द्वीप-समूहको छोड़कर, एशिया या दक्षिणपूर्व एशियाका कोई भी देश प्रशान्त महासागरमें अमरीकी हस्तक्षेपको नैतिक, राजनीतिक अथवा सामरिक दृष्टिसे न्याय-पूर्ण, नहीं मानता। स्पष्ट शब्दोंमें कहना होगा कि प्रशान्त महासागर अम-रीकाके आंगनमें स्थित कोई पोखर या तालाब नहीं है जो अमरीकाकी निजी सम्पत्ति हो, जिसकी रक्षाके नाम पर अमरीका अपने हाथमें अणुबम लेकर संसारको भस्म करनेका भय दिखाये ! अणुबमका यह वरदान कहीं अमरीकाके लिए पौराणिक असुर भस्मासुरको दिये आशुतोष शिवके उस वरदानकी तरह न हो जाय, जिसने स्वयं भस्मासुरको ही भस्म बना दिया था। अमरीकी सत्ताधारी जितनी जल्दी इस तथ्यको समझकर सत्य-मार्गका अवलम्बन करें, उतनी जल्दी पूर्व और पश्चिममें शान्तिकी स्थापना होगी !

यहाँ हम फ़ारमोसाके सम्बन्धमें राजनीतिक-विश्वके उन विशिष्ट-व्यक्तियोंके विचार प्रकाशित कर रहे हैं, जिनका आजकी शान्ति-अशान्ति-समस्याओंको सुलझाने या उलझानेमें हाथ रहा है :—

भारतीय प्रधान मन्त्री, पं० जवाहरलाल नेहरू—"हमने लाल चीनकी सरकारको स्वीकार किया है और संयुक्त राष्ट्र-संघमें उसके प्रवेश पर ज़ोर दिया है। हमें यह बहुत बुरा लगता है कि राष्ट्र-संघ चीन जैसे महादेशकी अवमानना करके छोटे-से टुकड़े (फ़ारमोसा) को राष्ट्र-संघमें जगह दे। यह अयथार्थ है और मैं सोचता हूँ कि पिछले दिनों हमारे सामने जो जो कठिनाइयाँ एवं आपत्तियाँ आईं उनके

मूलमें यही एक मात्र कारण रहा है।..बड़ी अजीब और पेचीदा हालत पैदा कर दी गई है। संयुक्त राष्ट्र-संघ बिना चीनके, चीनके सवाल पर सोच, विचार और बहस करना चाहता है। वह चीनकी ग़ैर मौजूदगीमें चीनके विषयमें प्रस्ताव पास करता है। यह सब अनोखा और असंगत लगता है। इसका नतीजा क्या निकलेगा? यही कि जिनेवाकी तरह चीनको किसी दूसरे रास्तेसे सोच-विचारके लिए लाना पड़ेगा। आप अच्छी तरह जानते हैं कि यदि जिनेवामें चीन नहीं होता तो, समझौता भी नहीं होता। संयुक्त राष्ट्र-संघके विषय-में हमारा ख्याल यह है कि यह महान् संस्था एक ऐसे सार्वभौमिक रूपको ग्रहण करे जिसके अन्तर्गत दुनियाके सभी आज़ाद मुल्क बराबरीका दर्ज़ा हासिल कर सकें।"—इसलिए जब तक लाल चीनको राष्ट्र-संघमें स्थान नहीं मिलता और जिनेवा-जैसी किसी सर्वस्पर्शी कान्फ्रेन्सकी रचना नहीं होती, फ़ारमोसाका सवाल सहज ही नहीं सुलझ सकता।

अमरीकी राष्ट्रपति, श्री आइज़नहावर—"यह प्रस्ताव (अमरीकी सिनेट-द्वारा आइज़नहावरको दिये गये उस अधिकारका प्रस्ताव है, जिसके अनुसार आवश्यक सामरिक-शक्ति-द्वारा वे फ़ारमोसाकी रक्षा कर सकते हैं) अमरीकाकी उस मन्शाको साबित करता है जो साम्यवादी हमलेका जवाब देनेको कटिबद्ध है। यह हमला उस जगह हो सकता है जो जगह अमरीकी सुरक्षाके लिए सर्वथा महत्त्वपूर्ण है। (यह प्रस्ताव अधिकार देता है कि राष्ट्रपति अमरीकी सशस्त्र सेना और विशेष कर सातवें बेड़ेको फारमोसा पर होने वाले चीनी-आक्रमणके विरुद्ध काममें ला सकते हैं।)

भूतपूर्व राष्ट्रपति, ट्रूमेन—टाइम्सके ६ सितम्बर १९५४के अंकमें श्री ट्रूमेनके ५ जनवरी १९५०के एक बयान पर प्रकाश डालते हुए जो उद्धरण दिया गया है वह इस प्रकार है—"संयुक्त राष्ट्र अमरीकाकी फ़ारमोसा-विजय जैसी कोई कामना नहीं, न वहाँ हम किसी प्रकारके

सैनिक अड्डे ही बनाना चाहते हैं। उसी प्रकार अमरीकी सरकार फ़ारमोसा स्थित राष्ट्रवादी चीनी-सरकारको किसी प्रकारकी सैनिक सहायता या सलाह नहीं देगी।" और दुनिया जानती है कि ट्रूमेनका यह अभिभाषण हाथी-दाँतकी तरह बाहर निकल कर रह गया।

ब्रिटेनके विदेश-मन्त्री, श्री एन्थोनी इडन—"फ़ारमोसाका सवाल अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ताका विषय है. . . .अप्रैल १९५२ की शान्ति-सन्धि के अनुसार जापानने फ़ारमोसा और पेस्काडोर्स द्वीप समूह परका अपना समस्त अधिकार, दावा और शासन छोड़ दिया, लेकिन इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि जापानके अधिकार-त्याग द्वारा फ़ारमोसाका हस्तान्तरण चीनियोंके हाथों हो गया—चाहे साम्यवादी चाहे कुओ मिन्तांगके हाथों। अतएव, ब्रिटिश-सरकारकी दृष्टिमें फ़ारमोसा और पेस्काडोर्स, ऐसे स्थान हैं जिनपर किसी सार्वभौम सत्ताका अधिकार अब तक अनिश्चित एवं अस्थिर है।"

भारतके राष्ट्रपति, श्री राजेन्द्रप्रसाद—"कुछ ऐसे मसले हैं जिन्होंने विश्वकी शान्तिको संकटमें डाल रखा है, इनमेंसे आजकी घड़ीमें सबसे गंभीर दूरपूर्वका और खासकर फ़ारमोसाका प्रश्न है। मेरी सरकार चीनकी एक ही सरकारको स्वीकार करती है और वह है जनवादी चीनी प्रजातन्त्र और मेरी सरकारका खयाल है कि चीनके दावे और अधिकार न्यायपूर्ण हैं। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि ये कठिन समस्याएँ शान्तिपूर्ण उपायों और वार्ता-व्यवहारोंके द्वारा हल कर ली जावेंगी।"

ब्रिटिश पत्रकार (न्यू स्टेट्समेन एंड नेशन)के सम्पादक श्री किंग्स्ले मार्टिन—"चियांग काई-शेक और उनके अनुयायियोंको फ़ारमोसासे सुरक्षापूर्वक हटा देनेकी घड़ी अब आ गई है, क्योंकि, फ़ारमोसाका द्वीप चीनी जनतन्त्रका अविभाज्य अंग है।" यह बात श्री मार्टिनने ४ फरवरी १९५५के दिन बम्बईमें कही। उन्होंने कहा—"यहाँ तक कि भूतपूर्व राष्ट्रपति ट्रूमेन और उनके सेक्रेटरी ऑफ स्टेट्स ने भी स्पष्ट शब्दोमें कहा था कि फ़ारमोसा नये चीनका एक हिस्सा

है और यह पेकिंग-सरकारको ही मिलना चाहिए। मुझे आशा है कि फ़ारमोसाका प्रश्न विश्व-युद्धका कारण नहीं बनेगा और एक न एक तरीक़ा अवश्य खोज लिया जायगा कि आजकी हड़बड़ी दूर हो जाय।"

ब्रिटेनके भूतपूर्व विदेश मन्त्री, श्री हर्बर्ट मॉरिसन—"फ़ारमोसाका सवाल इस कारण और भी उलझता जा रहा है कि अमरीकाने चीनी-जनतन्त्रको स्वीकार करना अस्वीकार कर दिया है। सही चीज़ तो यह है कि संयुक्त राष्ट्र-संघके द्वारा आगे बढ़ा जाय और फ़ारमोसाको "न्यूट्रल" बना दिया जाय और तब वहाँ के लोगों की राय मालूम की जाय। फ़ारमोसाको लेकर आजके अन्तर्राष्ट्रीय वातावरणमें अमरीकाकी जो छीछालेदर हो रही है उसमें ख़ुद अमरीकाका ही क़सूर है। यह नहीं हो सकता कि अकेला अमरीका ही फ़ारमोसाका भविष्य निर्धारित कर दे। और मैं यह भी नहीं सोचता कि अकेला चीन ही सीधा इस समस्याको सुलझा सकता है।"

रूसी साम्यवादी दलके मन्त्री, श्री एम० निकिता ख्रुश्चोव्—"अमरीका दूरपूर्वकी उलझनको बड़े बनावटी ढंगसे और भी उलझाता जा रहा है। यदि अमरीका इस विषयमें आवश्यक समझदारी दिखलाये जैसी कि चीनमें है तो, मुझे विश्वास है कि कुछ और देशोंकी सहायतासे यह समस्या सुलझ जायगी और दूरपूर्व भावी संघर्षणसे बच जायगा। मेरी रायमें ताइवानके क्षेत्रमें अमरीकी सरकारकी हालकी कार्रवाइयाँ अमरीकी जनताके लिए एक कलंक हैं। अमरीकी सरकारके इन कारनामोंको देखकर रूसकी जनता दुखी और विस्मित है। हमारी जनता राष्ट्रपति आइज़नहावरको हिटलरको, हराने वाले अपने साथीके रूपमें जानती है और उनका सम्मान करती है, लेकिन हमारी जनता ताइवानके लिए निश्चित अमरीकी-नीतिको समझनेमें असमर्थ है और यह महसूस करती है कि स्वयं अमरीकी जनता भी इस नीतिको समझनेमें सर्वथा असमर्थ है। सोवियत यूनियन शान्तिकी सुरक्षाके लिए लालायित है और वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर ऐसा कोई भी

निदान लानेके लिए सहयोग देनेको प्रस्तुत है, जिससे आजके अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नोंका हल प्राप्त हो और भूमण्डल भावी महाभारतके प्रकोपसे बच जाय।"

जनरल मेकआर्थर—"ताइवानमें रहकर और वायु एवं नौसेनाकी सहायतासे अमरीकी सत्ता व्लादिवास्तकसे सिंगापुर तक के समस्त बन्दरगाहोंको अपने कब्ज़ेमें रख सकती है और इसलिए हमें हर प्रकारसे ताइवानकी रक्षा करनी चाहिए और उसे अपने अधिकारमें रखना चाहिए।"

चीनके राष्ट्रपति, श्री माओत्से-तुंग—"चीन पर आक्रमण करने वाली किसी भी शक्तिको चीनी जनता कुचल कर रख देगी। ताइवान हमारा है और हमारा हो कर रहेगा।"

चीनी प्रधान मन्त्री, श्री चाऊ एन-लाई—"ताइवानकी मुक्तिका पर्व चीनकी अजेय जनताके लिए गौरवपूर्ण एवं ऐतिहासिक पुण्य-कार्य है... इस कार्य-पूर्तिके मार्गमें यदि अमरीका हस्तक्षेप करेगा तो उसका ऐसा क़दम चीनके ख़िलाफ़ आक्रमण समझा जायगा।"

भारतीय शान्ति-परिषद्—अखिल भारतीय 'पीस कौन्सिल'की पुकार पर समस्त भारतमें ६ फरवरी १९५५का दिन "ताइवान दिवस"के रूपमें मनाया गया। देशके सभी प्रमुख नगरों और स्थानोंमें सभाएँ हुई और जुलूस बनाये गये। भारतीय साम्यवादी दल के 'पॉलित् ब्यूरो' ने एक बयानमें लिखा—"अमरीका ताइवानको सैनिक अड्डा बनाकर जनवादी चीनके ख़िलाफ़ जो उत्तेजनात्मक कार्रवाइयाँ कर रहा है, उनसे एक भयंकर और नाजुक हालत पैदा हो गई है और इससे एशियामें महायुद्ध शुरू करनेकी अमरीकी मन्शा, तैयारी और कोशिश साबित होती है। अब यह हमारी सरकार और जनताकी माँग होनी चाहिए कि एशियाकी इंच-इंच धरतीसे विदेशियोंकी सारी सेनाएँ हट जायँ और एशियाका कोई भी हिस्सा अमरीकाकी जंगी तैयारियोंके लिए काममें न लाया जाय। ताइवान चीनका अभिन्न अंग है और राष्ट्र-संघमें चीनी-अधिकार-प्राप्तिके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र

अमरीकाको हस्तक्षेप न करने दिया जाय। अमरीकी साम्राज्यवाद न केवल चीन, बल्कि एशियाके सभी आज़ादी-पसन्द लोगोंके लिए ख़तरा है।"

ताइवान (फ़ारमोसा) १४,००० वर्गमीलका एक द्वीप है। यह दक्षिण पूर्व चीनसे १५० मीलकी दूरी पर है। ऐतिहासिक दृष्टिसे ताइ-वान चीनका प्रदेश है। यह सैकड़ों वर्षों तक केन्द्रीय चीनी-सरकार द्वारा शासित होता रहा। लेकिन १८९५ में जापानने इसे छीन लिया। उसके बाद कई वर्षोंतक ताइवानकी चीनी जनता अपनी स्वतन्त्रता और पितृ-प्रदेश-मिलन के लिए जापानियोंसे संघर्ष करती रही। इस प्रखर सत्य को स्वयं अमरीकाके विदेश-विभाग ने १९४९ में प्रकाशित एक श्वेत-पत्रमें यों स्वीकार किया है—"जापानी आधिपत्यकी अवधिमें ताइवानकी चीनी जनताकी महान् मनोकामना यह रही कि वह और उसका द्वीप कब चीनकी धरतीसे सम्बद्ध हो जाय।" हम लिख चुके हैं कि काहिरा-घोषणा ताइवानको वापस लौटानेकी इच्छा प्रदर्शित करती है, और १९४५ का पोस्टडम समझौता—जिस पर चीन, सोवियत यूनियन, अमरीका और ब्रिटेनके हस्ताक्षर हैं—इस प्रतिज्ञाको दुहराता है कि, काहिरा-घोषणाकी शर्तोंका यथातथ्य पालन किया जायगा।

सन् १९४९में चीनकी जनवादी ताक़तोंकी महान् विजय हुई और देशद्रोही चियांग काई-शेक अपने बचे-खुचे लुटेरोंके साथ चीनकी धरतीसे भाग-छिपकर ताइवानमें शरण लेनेको बाध्य हुआ! इसके बाद, निरन्तर अमरीकी सहयोगसे उसने फ़ारमोसाको एक जंगी-अड्डा बनाया और वहाँकी जनताको बलात् अपने अधिकारमें रखकर उसे अपनी फ़ौजी चालों और मन्सूबोंकी पूर्तिके लिए सैनिक बना दिया।

अब अमरीकाने चीनके विरुद्ध चियांगको भरपूर सहायता दी और उसी प्रकार कोरियाके विरुद्ध सिंगमन री को मदद देकर सारे एशियाका जनमत अपने प्रतिकूल कर लिया। यही नहीं, अमरीकाके कई राजनीतिज्ञ भी इस नीतिके विरुद्ध हैं। "एम्बेसेडर्स रिपोर्ट"में चेस्टर बाउल्स (भारतमें

भूतपूर्व अमरीकी राजदूत) लिखते हैं, "हमें यह जान लेना चाहिए कि हम अपनी एशियाई नीतियाँ केवल ऐसे दो देशों के बलपर निर्मित नहीं कर सकते, जिनकी कुल आबादी पूरे एशिया की ३ प्रतिशत भी नहीं है। यद्यपि सिंगमन री और चियांगने साम्यवादका बहादुरीसे मुक़ाबला किया है परन्तु वे आजके नये एशिआकी गति-मतिसे पूर्णतया अनजान हैं और उनसे दूर हैं। और कई योरोपियों और एशियाइयोंका विश्वास है कि री और चियांग तृतीय महायुद्ध आरम्भ करनेको बावले बनकर रस्सा तुड़ा रहे हैं।

द्वितीय महायुद्धकी समाप्तिसे ही पश्चिमी महाशक्तियाँ फ़ारमोसाको अपना अड्डा बनाकर युद्धके लिए तैयारियाँ करती रही हैं। बादमें कोरिया-को लेकर उन्होंने चीन और रूससे लड़ना चाहा। फिर, काश्मीर और हिन्दचीनके बहाने पूरबके शान्तिप्रिय देशोंसे काफ़ी छेड़छाड़ की गई।

हिन्दचीनके युद्धमें पराजय पाकर भी अमरीकी जंग-नीतिमें परिवर्तन नहीं आया और उल्टा जनरल वान्फलीटको 'राष्ट्रपतिका दूत' बनाकर सफ़ेद चीनसे पारस्परिक सुरक्षाकी सन्धि की गई। इसके बाद तो चीनसे छेड़छाड़ बढ़ती गई और ऐसे कई कारनामे किये गये कि चीन उत्तेजित होकर लड़ने-को तैयार हो जाय। जिस भारी संख्यामें अमरीकी सैनिक, शस्त्रास्त्र और सेनापति ताइवान जाते रहे हैं उन्हें देखते हुए यह कौन कहेगा कि अमरीका इस क्षेत्रमें शान्ति चाहता है? ताइवानकी भेंट करनेवाले अमरीकी युद्ध-विशारदोंमें—एडमिरल स्टम्प, जनरल पार्टरिज, जनरल लीन, एडमिरल फिलिप्स, एडमिरल प्राइड, एडमिरल रड्फोर्ड आदि थे। इसके अतिरिक्त, ताइवानमें जो अमरीकी सैनिक सलाहकार हैं उनकी संख्या सात सौ से बढ़ कर १९५४ के अन्त-पूर्व ही १५ सौ कर दी गई। अमरीकी सातवें बेड़ेको निरन्तर चीनी सीमाके निकट पहरुआ बनाकर चीनके जहाज़ी अधिकारों-में हस्तक्षेप किया गया और निश्चय ही उसके द्वार पर जाकर उसका अपमान किया गया। फलस्वरूप दोनों दलोंमें छुटपुट हमले हुए—आज भी हो रहे हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन आक्रमणों और प्रत्याक्रमणोंके वात्या-

चक्रोंको चीर कर किसका दल अधिक स्थायी आधार प्राप्त कर सकेगा? इस विषयक स्थिति इस प्रकार है:—फ्रांसिस फ्राइटन नामक लेखक लिखता है—"चीन देशकी धरती पर साम्यवादियोंकी शक्ति बहुत बढ़चढ़ कर है। उनकी सेनाओंमें लड़नेकी अपार शक्ति है। उनके कई युद्ध-विशारदोंने गृह-युद्धमें भाग लिया था और जापानियोंके विरुद्ध लड़कर भी गहरा अनुभव प्राप्त किया है। आज चीनी साम्यवादी सैनिककी ख्य.ति—एक लड़ाके-के रूपमें—सर्वतोमुखी है।" लेकिन, यह मानना पड़ेगा कि चीनका यह सैनिक अस्त्रशस्त्रोंकी दृष्टिसे उतना सुसज्जित नहीं है, जितना पश्चिमी महाशक्तियोंका कोई सैनिक। तथापि चीनियोंके पास द्वितीय महायुद्धके कई मजबूत टैंक हैं और खुदकी बनाई मशीनगनें और बन्दूकें हैं। साम्य-वादी सैनिकोंकी सबसे बड़ी शक्ति और महत्ताके मूलमें तीन महत्त्वपूर्ण गुण हैं—(क) आयोजना (ख) आत्मविश्वास (ग) देशसे दूर रहकर भी कर्त्तव्यपालनकी क्षमता—इन्हीं सद्‌गुणोंने चीनी साम्यवादी सैनिकोंकी शक्तिको अपराजेय बना दिया है।

विदेशियोंका ख्याल है कि साम्यवादी सैनिकोंकी शैक्षणिक योग्यता कम होनेसे उनमें यान्त्रिक निपुणता भी कम है। और आधुनिक युद्धमें काम आने वाले कुटिल शस्त्रोंको चलाना और उनकी वारीकियोंको समझना उनके लिए कठिन है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि पिछले दिनों चीनमें औद्योगिक परम्परा नहीं रही है। फलस्वरूप यन्त्र-निष्णात सैनिक सम्पूर्ण संख्यामें उपलब्ध नहीं हैं, जिनके विना आधुनिक सेनाका निर्माण नहीं हो सकता। इस वातको चियांग भी जानता है और अपने अमरीकी सलाहकारोंकी सहायतासे उसने पाश्चात्य ढंगसे सुसज्जित सेना-का निर्माण किया है। उसकी सेनामें लगभग ५ लाख सैनिक, ११ हजार नौसैनिक और १८ सौ जनरल हैं—ये वही सपूत हैं जो १९४९में चियांगके साथ पराजित होकर फ़ारमोसा भाग आये थे। भावी युद्धके लिए, इनके अतिरिक्त सैनिकोंकी भरती करना चियांगके लिए दुष्कर है क्योंकि नये रँगरूट पाना कठिन है। इसका मूल कारण यह है कि फ़ारमोसाई चीनियोंकी

संख्या ७५ लाख है और चीनसे आकर बस गये लोगोंकी संख्या २५ लाख है। इस छोटी-सी जनसंख्यामेंसे आखिर कितने सैनिक प्राप्त किये जा सकते हैं ?

चियांगकी हवाई शक्ति सीमित है। उसके पास लगभग साढ़े तीन सौ जंगी हवाई जहाज़ हैं, जिनमें अमरीकी लड़ाकू पी–४७, पी–३८, पी–५१ हैं और वी–२४ नामक बमवर्षक वायुयान हैं। इनके मुकाबलेमें लाल चीनके एम आई जी–१५ जेट् वायुयान हैं जिनका कौशल कोरियामें देखा जा चुका है। तथापि अमरीकाकी सबल एवं सुसज्जित वायुसेनाके सम्मुख लाल चीनके ये जेट् वायुयान साधारण लगते हैं। चियांग इस बातको जानता है और इसीलिए वह अमरीकी सातवें बेड़ेको अपनी ढाल बनाकर लड़ना चाहता है। यह एक सर्वथा संकटपूर्ण अवस्था एवं विकट परिस्थिति है।

सामरिक चक्रव्यूह-विशारदोंका कथन है कि पहले और सातवें अमरीकी बेड़ेके रहते हुए लाल चीनके सैनिक फ़ारमोसा स्ट्रेटको पार नहीं कर सकते। उनकी सेना और नौसेना—आधुनिकतम शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित अमरीकी सेनाके सम्मुख नगण्य है। और ऐसी अवस्थामें उनका स्ट्रेटको पार करनेका प्रयत्न आत्महत्याके समान माना जायगा।

दूसरी ओर के सैन्यकला-निष्णात कहते हैं कि लाल चीनके पनडुब्बी बेड़ेकी शक्ति सीमित नहीं है। यह बेड़ा प्रशान्त महासागरके अतलान्त तलमें तैर कर अमरीकी जंगी बेड़ेको सागरकी गोदमें सदाके लिए सुला सकता है। यह तो सब जानते हैं कि द्वितीय महायुद्धमें महाप्रतापी ब्रिटिश नौसेनाको जापानने पूरबी सागरोंमें करारी हार दी थी। उस समय किसे यह कल्पना थी कि ब्रिटेनकी सुसज्जित नौसेनाके सम्मुख जापान अपनी करामात दिखा सकता है ? लेकिन, जब प्रिन्स ऑफ वेल्स और रिपल्स जैसे जहाज डुबो दिये गये तो दुनिया चकित रह गई ! इस दृष्टिसे चियांगको लाल चीनकी शक्तिको कम नहीं आँकना चाहिए।

इन परिस्थितियोंका पर्यवेक्षण करने पर हमें विदित होता है कि ताइ-वानके द्वीपमें बैठा चियांग मात्र एक कठपुतला है और आकाशके उन धुंधले

नक्षत्रोंके समान है, जो "सेटेलाइट" कहे जाते हैं, जो अपनी रोशनी और चमक दूसरों से पाते हैं। यदि अमरीका चियांगको यह चमक न दे तो, उसकी सारी बहक बन्द हो जाय और दूरपूर्वके देश शान्तिकी नींद सो सकें। यह सर्वविदित बात है, और अमरीकी विदेश विभाग-द्वारा भी यों कही गई है—"यदि पूर्वमें चियांग काई-शेक न होता, तो हमें उसका ईजाद या निर्माण करना पड़ता।" यह तो स्पष्ट रूपमें लड़ाईकी बात है परन्तु संसारकी शान्ति और सभ्यताकी सुरक्षाके लिए अमरीकाको यह हठ छोड़ देना चाहिए कि फ़ारमोसा "दूरपूर्व-सुरक्षा-योजना"के लिए आवश्यक है और ओकिनावाके अमरीकी अड्डेसे लड़ाकू यान चन्द मिनटोंमें वहाँ पहुँच कर प्रलय वर्षा कर सकते हैं। अतएव, फ़ारमोसासे सम्बन्धित सारी समस्या-का एक मात्र निदान यही है कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका अधिक व्यावहारिक एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाये और चीन महादेशके आन्तरिक मामलोंमें हस्तक्षेप करनेकी नीतिका परित्याग कर दे। उसे अब यह उजागर तथ्य स्वीकार कर लेना चाहिए कि चियांगको पुनः पेकिंगमें सिंहासनारूढ़ नहीं किया जा सकता और अमरीकाको अन्ततया साम्यवादियोंसे सुलह करके व्यवहार सम्बन्ध रखने पड़ेंगे। चीनको अपना उचित पद एवं आसन दिलानेमें यदि अमरीका आगे बढ़कर सत्प्रयत्न करे तो वह न केवल चीनका हृदय परिवर्तन कर लेगा वरन् एशियाके अन्यान्य देशोंकी सद्भावनाका स्वामी भी बन जायगा। क्या समय रहते वाशिंगटनके सत्ताधारी अणुबमके हिंसक सपनोंको भूल कर अहिंसा और मानवताके इस अजातशत्रु सत्यको परखेंगे?

यहाँ हम एशियावासियोंसे भी दो शब्द कहना चाहेंगे कि वे किसी भी हालतमें पश्चिमी जंगी मंसूबोंको पूरा न होने दें और ऐसा कोई क़दम न उठावें कि उनके अपने ही आँगनमें रणचण्डीका रक्तप्रवाही नृत्य आरम्भ हो जाय। एशियाको आज पुनर्रचना और नवनिर्माणकी आवश्यकता है जिसकी अनिवार्यताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एशियाकी अस्तव्यस्त अर्थ-व्यवस्था और विपरीत शासन-व्यवस्थाके विविध संकटोंके

वीच युद्धकी लाल लपटें एशियाकी उर्वरा वसुन्धराको सदा-सर्वदाके लिए श्मशानमें परिणत कर देंगी। और यदि ऐसा हुआ तो, भावी इतिहास और भावी मनुपुत्र अपने पूर्वजोंके इस कायरतापूर्ण पौरुष पर हँसेगा।

आजका मानव समूह कहीं भावी युग और समाजके समक्ष कलंकित स्वरूप लेकर उपस्थित न हो, इसका ध्यान आजके नेताओं और जग-जेताओं-को रखना है। युद्ध मनुष्यका स्वाभाविक कर्म या धर्म नहीं है। और हिंसा और विनाशकी ज्वालाएँ उसकी चारित्रिक विशेषताओंको सदाके लिए झुलसा देंगी।

—इस सत्यको साक्षी रखकर चिरंजीत मानवपुत्रको जीवनकी ओर जाना है। क्योंकि अन्ततः जीत जीवनकी होती है और महानाशकी सर्व-भक्षिणी ज्वालाओंमें भी सृजननिरता रचना निर्भय सोती है।

# साम्राज्यवादका समाधिस्थल हिन्दचीन

साम्राज्यवादका संकट, अपने ही लिए, तव और अधिक बढ़ जाता है, जब वह किसी शत्रुसे अथवा लोक सेनाकी शक्तियोंसे युद्धमें व्यस्त होता है। ऐसे समय, अपनी बौखलाई हुई स्थितिमें अपने द्वारा शासित जनता पर उसके अत्याचार भी बढ़ जाते हैं।

जापानियोंके बर्मा जीत लेने और भारतकी ओर बढ़ते आनेके अवसर पर, ब्रिटेनने यही किया।

लेकिन जब जब ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं; शासित, पराधीन जनता अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्तिकी स्वर्ण वेला जान, उठ खड़ी होती है। और अपने शासकको ललकारती है। १९४२ में भारतमें यही हुआ। हाल ही में विएतनामी प्रजातन्त्रकी सेनाओंसे लड़नेमें व्यस्त, फ्रांस की भी यह दुर्गति हुई थी।

हिन्दचीनमें निर्णयात्मक युद्ध चल रहा था। एक ओर लोकनेता डॉ० होची मिन्हकी साम्यवादी सेनाएँ और दूसरी ओर साम्राज्यवादियों द्वारा पोषित बा ओ दायी का प्रतिगामी दल।

लाओससे लिए भयंकर युद्ध हो रहा था। लाओसके वाद कम्वोडिया-की वारी थी।

कम्बोडिया और उसके राष्ट्रवादी नेताओंने देखा कि फ्रान्सका जुआ उतार फेंकनेका यह अनुपम अवसर है। वहाँके राजाने भी यह वात समझ ली और घोषणा की—"यदि फ्रेन्च-सरकारने हमें स्वतन्त्रता न दी तो, हमारी प्रजा कम्युनिस्ट बन जायगी। यदि लाओसके समान आक्रमण हम पर हुए, तो हम कह नहीं सकते कि हमारे सैनिक 'फ्रेन्च सरकार' के नाम पर मरनेको तैयार होंगे या नहीं।"

उस समय फ्रेन्च अधिकृत रियासतके राजाके ये शब्द कम महत्त्वपूर्ण

नहीं थे। इससे इतना तो स्पष्ट हो गया था कि लाओस और कम्बोडियाकी जनता किस ओर है।

अभी तो, विएतनामी प्रजातन्त्रका आक्रमण भी न हुआ था और जनता तथा सेनाका यह हाल था! आखिर, फ्रान्स किस बलबूते पर लड़ रहा था? साफ़ जाहिर होता है कि कोई बड़ी ताक़त उसे लड़ते रहनेके लिए मजबूर कर रही थी।

इसके अतिरिक्त डॉ० हो ची मिन्हकी विजय उस कहावत-द्वारा चरितार्थ होती है, जो कहती है—"वही शक्ति हिन्द-चीन पर राज्य करेगी जिसका अधिकार कोचिन-चीना और तान्किनके चावलके अक्षत-कोषों पर रहेगा।" आज इन दोनों प्रदेशों पर डा० हो ची मिन्हकी विजय-वाहिनी जन-सेनाका आधिपत्य है।

हिन्द-चीनका प्राचीन नाम 'विएतनाम' है, जिसका अर्थ है :—'दक्षिणके लोग'। तान्किन, अनाम, कोचिन-चीना, लाओस और कम्बोडिया इस देशके प्रमुख प्रान्त हैं। जनसंख्या सवा दो करोड़ है। कम्बोडिया और लाओसकी सम्मिलित जनसंख्या लगभग पचास लाख है।

## लाओस

युद्धकालमें, लाओस पर संसारकी आँखें लगी थीं। उसकी राजधानी मेकांग नदी-स्थित लुआंग प्रबांगमें लाओसके पंगु राजा सिसवांग वांग और उसके राजकुमार सावंगने किसी भी दशामें राजधानी छोड़नेसे इन्कार कर दिया।

इससे, पता चलता है कि अपने स्वामी फ्रान्ससे ये लोग कितनी घृणा करते थे। दरअसल फ्रान्स जलती भट्टी पर बैठा शान्ति और शीतलताकी कामना कर रहा था!

लाओसी लोग, उत्तरी तान्किनके अपने चचेरे भाइयोंकी तरह थाइ या ताइ जातिके हैं। स्यामी और वर्मी-शान भी इसी जातिके हैं। इन पहाड़ी जातियोंमें मेओ, मान, लोलो और ताई प्रमुख हैं। मेओके कई

उप-समुदाय हैं। इन समुदायोंका विभाजन स्त्रियोंकी वेषभूषा पर आधारित है। श्वेत मेओकी स्त्रियाँ, श्वेत, श्याम-मेओकी स्त्रियाँ श्याम और इसी प्रकार पुष्प-मेओकी स्त्रियाँ फूलों-जैसी पोशाकें पहनती हैं। मान का चीनी अर्थ है 'बर्बर' और विएतनामी अर्थ है जंगली। ताई जातिमें दो भेद हैं श्वेत और श्याम। श्वेत ताई स्त्रियाँ श्वेत और श्याम ताई काली कंचुकी पहनती हैं। हिन्द-चीन निवासी भारतवासियोंके समान बड़े ही संकोचशील परन्तु अत्यन्त उदार स्वभावके हैं। नृत्य-गान और आमोद-प्रमोद उनके जीवनके प्रिय विषय हैं।

मूलत: लाओसकी दो राजधानियाँ हैं—विएन-तिएन और लुआंग-प्रवांग। राजाका निवासस्थान विएन-तिएनमें और मन्त्रियों तथा सरकारका वास लुआस-प्रवांगमें है। इससे शासन सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ प्रतिदिन उपस्थित होती रहती हैं। मन्त्रियोंको राजकीय मामलोंमें राजाकी राय लेने विएन जाना पड़ता है, जहाँकी यात्रामें १२ दिन लग जाते हैं। कई स्थानों पर नदीको पार करना पड़ता है, किन्तु गर्मियोंमें कम समय लगता है।

## कम्बोडिया

सेगांनसे उत्तर-पश्चिमकी ओर कम्बोडियाका प्रमुख नगर पनाम पेन है। इस प्रदेशके निवासियोंका रंग गहरा भूरा है। यहाँ का राजकुमार नोरोधम सिंहानूक है। हालकी यात्राओं ने जिसे प्रसिद्ध कर दिया है। कम्बोडियाके लोग ताई लोगोंके समान, बुद्ध-धर्मके हीनयान-सम्प्रदायके अनुयायी हैं। कम्बोडियन लोगोंके पूर्व पुरुप खमेर थे। खमेरोंने स्याम पर कई वर्षों तक राज्य किया। पनाम पेनका पूर्वनाम अंगकोर है। अपने वैभवके दिनोंमें इस नगरीका शुद्ध नाम यशोधरपुर था और यहाँकी आबादी दस लाख थी। उस कालका एक देवालय अभी भी स्थित है, जिसमें एक चतुर्मुखी मूर्ति लोकेश्वर नामसे विराजमान है। सन् ११०० में हिन्दू राजा जयवर्मनने इस प्रदेशका नवनिर्माण किया था।

## भारतीय संस्कृतिका प्रभाव

प्राचीनकालमें विएतनाम आर्यावर्त्तका एक अंग था। भारतीय संस्कृतिका प्रभाव आज भी वहाँ सुस्पष्ट है। हेनाय, हू, पनामा-पेन, लुआंग-प्रबांग, सेगांन और विएन-तिएन, आदि नगरोंमें भारतीय परम्पराएँ आज भी जीवित हैं। लोगोंकी भाषा, मन्दिरोंकी कला, नृत्योंका पद-संचालन, भद्र पुरुषोंके नाम भी उस स्वर्ण-कालकी ओर इंगित करते हैं, जब भारतकी गौरव-गरिमा-गंध दिग्दिगन्तोंको सुवासित कर रही थी। अमरीकी विद्वान् राबर्ट मूर और मेनार्ड ओवन विलियम्सने इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला है।

तोंल-सपके वनान्तरोंमें स्थित, प्राचीन अंगकोर धामके खंडहर भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्धोंके साक्षी हैं। युगों पूर्व भारतीय ब्राह्मणोंने यहाँ एकछत्र राज्य किया था।

इन ब्राह्मण वंशोंने सर्वप्रथम स्थानीय चामोंको शिक्षित-दीक्षित किया। चामों-द्वारा निर्मित उत्तुंग मीनारें, ब्राह्मणीय विद्वत्ताकी उद्घोषक हैं। आज भी एक लाख अनामियों पर व्यापक विप्रवंशीय प्रभाव है। यह अनामी नये विएतनाम और उसके नेता हो ची मिन्हके विश्वस्त साथी हैं। प्राचीन भारतके इन सम्बन्धोंको देखते हुए यह सिद्ध होता है कि विएत-नाम हमसे कितना निकट है। आज भी पूरा विएतनाम मर्यादा-पुरुषोत्तम राजा राम और असुर रावणकी कथा गाता है और बड़े नगरोंके विशाल नाट्य-भवनोंमें राम-रावणके नाटक खेले जाते हैं। अंगकोर संस्कृतिने रामायणी कथाको अपनी अद्वितीय स्थापत्य और शिल्पकला-द्वारा पाषाणोंमें प्रकाशित किया है।

## पिछले १२ वर्ष : महायुद्ध और जापान

विएतनाम वर्षोंसे फ्रान्सके अधिकारमें रहा है। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभावका गायक फ्रान्स भी किस प्रकार अन्य देशोंको दासत्वकी शृंखलाओंमें बांधकर उनका शोषण कर सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण

विएतनाम है, अफ्रीकाके प्रदेश हैं। नये विएतनामने सदियोंकी पराधीनताको ललकारा और उसकी मुक्ति-सेनाएँ प्रतिदिन इतिहासमें नवीन परिच्छेद जोड़ती गई। जिस देशने दो सप्ताहसे भी कम समयमें हिटलरकी अधीनता स्वीकार कर ली थी, वह विएतनामको अपने वशमें क्योंकर रख सकता था?

जब द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ और हिटलरी सेनाएँ योरपमें प्रलय-वर्षा करती हुई पेरिस पहुँचीं और जापानी सेनाएँ अपने ही एशिया-वासियोंको पददलित करती हुई सेगांन पहुँचीं तो स्थानीय फ्रान्सीसी सरकार भाग खड़ी हुई।

## नया प्रजातन्त्र

डा० हो ची मिन्हकी वानर सेनाओंने अद्भुत कौशल दिखलाया और जब जर्मनीका प्राणान्त हुआ और हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर अणुबम डालकर जापानको पराजित किया गया; तब १७ अगस्त १९४५ को विएतनामी प्रजातन्त्रका जन्म हुआ।

प्रजातन्त्रीय विएतनामकी घोषणा, विएतनामी मुक्ति-संघर्ष संघ द्वारा हुई। डा० हो ची मिन्हको अस्थायी सरकारका अध्यक्ष चुना गया। तान्किन, अनाम और कोचीन-चीनाके तीन प्रान्तोंकी कुल ३,२८,००० किलोमीटर धरती पर स्वतन्त्र जनताका अपना राज्य स्थापित हुआ परन्तु शेष आधे भाग, जिनमें लाओस और कम्बोडियाके सामन्ती राज्य थे, प्रजातन्त्रमें सम्मिलित न हुए परन्तु प्रजातन्त्रकी आबादी पौने दो करोड़ थी और सामन्ती फ्रेन्च प्रभावित क्षेत्रोंकी केवल पचास लाख।

युद्धान्त पर, 'पराजित' फ्रेन्च लोगोंको अपने खोये हुए साम्राज्यकी चिन्ता हुई। 'फ्रेन्च यूनियन' के स्वप्न देखे जाने लगे और अफ्रीकाके अतिरिक्त एशियाकी धरती पर भी शोषण के नक्कारे बजानेके लिए वे विएतनाम पर चीलोंकी तरह मंडराने लगे। परन्तु अब विएतनाम पर पुनः अधिकार कर लेना लोहेके चने चबाना था। वहाँ स्वतन्त्र प्रजातन्त्रका सिक्का चल रहा था और जनता अपनी आत्म-रक्षाके लिए शहीद होनेको प्रस्तुत थी।

फ्रांसमें द-गालकी सरकार थी। द-गालने चाल चली। उसने डा० हो चो० मिन्हको समझौतेके लिए पेरिस बुलाया। शान्तिवार्ताके लिए भला, हो ची० मिन्हको क्या उज्र होता। वे पेरिस चले गये, परन्तु दगालने उन्हें चर्चाओंको लम्बा फैलाकर, पार्टियोंके जल्सों और धाराओंकी लफ्फाजीमें उलझा रखा। दूसरी ओर 'फ्रेन्च लीजन' की दानवी सेनाओंको कम्बोडिया और लाओसमें उतार दिया। यह फ्रेन्च सरकारका भयंकर विश्वासघात था। डाक्टर जब लौट कर आये तो बीमार हिन्द-चीनके शरीरमें नये जख्म पक चुके थे और नये घाव कष्ट दे रहे थे।

फ्रेन्च सरकारने प्रजातन्त्रको स्वीकार न करनेकी घोषणाके साथ, स्वतन्त्र प्रदेश पर आक्रमण कर दिया।

जब डा० हो ची० मिन्हने अपना मुक्ति-संग्राम आरम्भ किया, तब फ्रेन्च सुरक्षित दास-दलोंके समक्ष, उनकी सेनाके पास शस्त्रके नाम पर चाक़ू और बांसके डंडे थे। कुछ वर्ष पश्चात्, उनकी दो लाखसे अधिक सुसज्जित सेनाके पास आधुनिकतम शस्त्रास्त्र हो गये, जो शत्रुसे छीने गये थे। और जिनमें से अधिक वे हैं, जिन्हें फ्रान्सीसी भगोड़े छोड़ गये हैं। इन शस्त्रास्त्रों-से अधिक शक्ति-मान और अचूक रामबाण अस्त्र जो डाक्टरके पास है, वह है—'जनताका सहयोग'।

१९४७ के वसन्त में, फ्रेन्च जनरल स्टाफका प्रमुख स्वयं हिन्द-चीन आया था। तबसे जनतन्त्रके विरुद्ध फ्रान्सीसी तैयारियाँ बढ़ती गयीं। इंग्लैण्ड और अमरीका इस कार्यमें फ्रान्सकी पूरी-पूरी सहायता करते रहे। ब्रिटेनने ५ लाख हथगोले हिन्द-चीन स्थित फ्रेन्च सरकारको दिये थे।

१९४९ में फ्रान्सने जनरल गीउएन-आन और बाओ दाईकी पुतली सरकारें स्थापित कीं। बाओ दाईकी सरकारने ८ मार्च १९४९ को फ्रान्सीसी गवर्नर जनरलसे एक समझौता किया, जिसके अनुसार विएतनामको कथित 'स्वतन्त्रता' दी जाती है; विएतनामी राष्ट्रीय सेनाका निर्माण—जिसका निरीक्षण फ्रेन्च उच्चाधिकारी करें और विएतनाम अपने शस्त्रास्त्र फ्रान्ससे ही खरीदे, आदि समझौतेकी शर्तें रखी गयी थीं।

जब स्वतन्त्र प्रजातन्त्रको इस समझौतेके समाचार मिले, तो वहाँके लोगोंके क्रोधकी सीमा नहीं रही। विएतनामी प्रजातन्त्रके सैनिक न्यायालय ने बाओ दाईकी गिरफ्तारीकी घोषणा की। इससे पूर्व डा० हो ची० मिन्ह की सरकार देशके गद्दारों और द्रोहियोंकी एक सूची प्रकाशित कर चुकी थी, जिसमें बाओ दाई और जनरल गीउएन-आन आदिके नाम थे।

फ्रान्सने हिन्द-चीनमें अपने विषवृक्षको भलीभाँति फैलाया। एक जाति और एक समुदायको दूसरेके विरुद्ध उभाड़ने और लड़ानेकी अंग्रेज़ी-नीतियाँ चलाई। घृणा, द्वेष और द्रोहके पाठ पढ़ाये। लाओस और कम्बोडियाको प्रजातन्त्रसे न मिलने दिया।

इतना होने पर भी, फ्रान्सीसी साम्राज्यवाद विएतनाममें अपनी रक्षा कर लेने में सर्वथा असमर्थ रहा। सात वर्षोंके निरन्तर संग्रामने उसके छक्के छुड़ा दिये। हालांकि फ्रेन्च दलोंके पास आधुनिक शस्त्रास्त्र थे परन्तु हो ची० मिन्हकी जनसेनाके समक्ष वे टिक न सके। परिणामत: प्रजातन्त्रीय दलोंके प्रहारोंसे १०० वर्षोंसे भी अधिक पुराना—बूढ़ा फ्रेन्च उपनिवेशवाद अपनी अन्तिम साँसें गिनने लगा और कई दिन मरणासन्न स्थितिमें पड़े रहने पर, जिनेवामें उसने अन्तिम साँस ली। फ्रान्सकी सरकारने ज्यों-त्यों कर अपनी लाज बचाई।

आज भी स्वतन्त्र विएतनामकी अपराजित शक्तियाँ सतत प्रयत्नशील हैं और वह दिन दूर नहीं, जब विएतनामकी नृत्यमयी वसुन्धरा पर शान्ति और समताकी गंगाका अवतरण होगा।

'दक्षिणके लोगों' ने जो मशालें जलाई हैं, उनके प्रकाशमें एशियाके अन्य दास-देश भी अपना मुक्ति-मार्ग देखेंगे, यह निश्चित है!

●

नम्बर एक और कलम नम्बर छः में यू० एन० ओ० और उसके चार्टरकी जो छीछालेदर की गई है, उसकी ओर प्रधानमंत्री जवाहरलालने कटुतम व्यंग्य किया है।

## रूस

मास्कोके प्रसिद्ध पत्र 'प्रवदा' ने अपने २५-८-५४ के अंकमें सीटोपर करारी चोट की है। श्री एकोप्याननने इस पत्रमें लिखा है—"यह पैक्ट एशियाई लोगोंकी शान्ति और सुरक्षाको चुनौती और खतरा है। भारत, वर्मा, श्रीलंका और इण्डोनेशियाने मनिला-वार्तामें भाग न लेकर, सही क़दम उठाया है। यह पैक्ट एशियामें महायुद्धके क्षेत्रकी रचनाके लिए है।" जो डलेस महोदय जनेवामें अनुपस्थित रहे, वही उड़कर मनिला जाते हैं!

## चीन

पीपिंगकी 'न्यू चाइना न्यूज़ एजेन्सी'की रिपोर्टके अनुसार "—यह पैक्ट एशियाके अमनपसन्द लोगोंके खिलाफ़ फ़ौजी षड्यन्त्र है। इसके जरिये अमरीका एशियाई देशोंके घरेलू मामलोंमें हस्तक्षेप करेगा। उनके आज़ादीके आन्दोलनोंको दवायगा और उन्हें अपने उपनिवेशों तथा हमलोंका अड्डा वनायगा।"

चीनके प्रसिद्ध पत्र "तिनसिन-ता-कुंग-पाओ"के एक लेखके अनुसार चीनी एजेन्सीका बयान है—"यह पैक्ट जनेवा-समझौतेको सीधी चुनौती है। सीटोके हमलावर गुट्टके द्वारा जनेवाकी सैद्धान्तिक सफलताएँ मिट्टी में मिल जायँगी। सीटोके सदस्योंको अपने इस पैक्टके दुष्परिणामोंको सावधानीसे सोच लेना चाहिए और प्रतिफलमें जो उत्तरदायित्व उनपर आता है, उसे उठानेके लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए। एशियाकी जागृत जनता अमरीकी आक्रमणकारी दलकी इस अभिनव-युद्धप्रिय योजनाको सचेत होकर देख रही है। शान्तिकी शक्तियाँ संगठित होकर इस कुटिल आयोजनाको चकनाचूर कर देंगी। कोरियाई और हिन्दचीनी लड़ाइयोंने

यह सावित कर दिया है कि आजके एशियामें सशस्त्र हस्तक्षेप कदापि सफल न हो सकेगा ।

## इण्डोनेशिया

इस देशके राजनीतिक-दलोंने इस पेक्टकी अवमानना की और स्थानीय सरकारने इसमें भाग लेना अस्वीकार कर दिया। यह कहकर कि चाहे जो हो, इण्डोनेशिया इसमें भाग न लेगा। जकार्ताके एक उच्च अधिकारी ने कहा :—"पैक्ट पूर्व और पश्चिमके वीच उपस्थित आतंक और आशंकाओंको और गहरा कर देगा। मनिलाका 'पेसिफिक चार्टर' दावा करता है कि वह एशियामें उपनिवेशवादके विरुद्ध है। परन्तु यह केवल बनावटी बात और वहाना है, ताकि एशियाके चन्द गुमराह देश पश्चिमके फंदेमें फँस जायँ।"

## बर्मा

इस देशने सीटोके निमन्त्रणको ठुकरा दिया और कहा कि भारतकी शान्ति-प्रसारक नीति ही सही है और सब देशोंको उसका पालन करना चाहिए।

## श्रीलंका

यद्यपि इस देशकी वर्तमान सरकार स्पष्टतया पश्चिमी प्रभावसे भाराक्रान्त है तथापि अपने पड़ोसी देशोंकी निर्भयता देखकर उसका यह साहस न हुआ कि वह सीटोकी सभाका निमन्त्रण स्वीकार करे। आरम्भमें तो वह डाँवाडोल रही, पर अन्तमें उसे इन्कार करना पड़ा। और यह कहकर उसने अपना पिंड छुड़ाया कि श्रीलंका पेक्टके विपयपर विचार करेगी।

इस प्रकार सीटो एक अमरीकी प्रपञ्च है जो 'नेटो', 'मेडो' और 'ई० डी० सी०' के समान फैलाया गया है। अमरीकाके कर्ज़दार ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड परिस्थितियोंके वश इसका अनुमोदन कर रहे हैं। जिन एशियाई शक्तियोंके वलपर यह सन्धि स्थापित होनी थी, वे शक्तियाँ तो इसके विरोधमें हैं! पूरे एशियाके केवल तीन देश इसके पक्ष

में हैं और उनकी कुल जनसंख्या ११ करोड़ ६० लाख है, जो सर्वथा नगण्य हैं। इस प्रकार तो लगभग सवा अरब जनता और उसके नेता समवेत रूपमें सीटोके विपक्षमें हैं !

यदि एशियाके उपरोक्त जाति वहिष्कृत तीन देश विदेशियोंके बहकाने पर, एशियाके लिए हानिकर अपनी हठपर अड़े रहे, तो एशिया अवश्य अशान्तिका अड्डा बन जायगा और उसकी तपन योरप और अमरीकाको भी कभी चैनसे न बैठने देगी। यदि यह मान लिया जाय कि अमरीकी दल शान्ति चाहता है, अथवा सीटोका उपयोग केवल शीतयुद्धके लिए कर रहा है तो उसे अपनी अनीतिपूर्ण नीतिका परित्याग करना पड़ेगा। क्योंकि ऐसी कोई भी नीति जो शीतयुद्धके क्षेत्रका व्यापक परिवर्द्धन करती है कभी भी शान्तिकारक नहीं हो सकती। प्रजातन्त्रके प्रतिपालक अमरीकाको अपना अर्थतन्त्र भी वास्तविक रूपमें प्रजातंत्रीय बनाना पड़ेगा। तभी उसके सत्ताधारी शीतयुद्ध और उष्ण युद्धकी ये भाषाएँ भूल सकेंगे, जिन्हें एशियाके परम लोकप्रिय नेता, जवाहरलाल नेहरूने शान्तिका स्वाङ्ग भरनेवाली युद्धकी दानवीय बोलियाँ कहा है।

शान्ति पश्चिमी गुट्टके सर्वेसर्वाओंकी इष्टदेवी भले न हो। पर वह उनकी जनताकी आराध्य अवश्य है। इससे यह कहा जा सकता है कि एक न एक दिन जनता अशान्तिमय विषैले वातावरणमें रहनेसे इन्कार कर देगी और या तो उसके नेता पलटेंगे या नीति पलटेगी। भला, विषमें कब तक जीया जा सकता है ?

जीवन और मानवीय परम्पराओंकी संवाहिनी आदिशक्ति शान्तिके इस भूलोकमें अवतरणके लिए आज आवश्यक हो चला है कि पूर्व और पश्चिमके नेता और जेता अपने आपको देखें, झूठे गर्वगुमान और शानको छोड़कर, वे मानवताकी रक्षाके लिए कटिबद्ध हो जायँ और संसारको सर्व-संहारी समरकी ज्वालाओंसे बचायें। इस प्रकारकी सार्वकालिक शान्ति भारतीय सांस्कृतिक परम्पराके आधारपर पोषित नीति और रीतिके द्वारा ही स्थापित हो सकती है।

स्थायी शान्ति एवं सद्भावके लिए प्रत्येक राष्ट्रको जवाहरलाल नेहरूके दिये "पंचसूत्रीय" मन्त्रकी साधना करनी पड़ेगी :—

१. देशोंकी सीमाओंका सम्मान और स्थानीय प्रभुसत्ताका पारस्परिक समादर।

२. पारस्परिक अनाक्रमण।

३. पारस्परिक अनहस्तक्षेप, देश-विशेषके निजी मामलोंमें।

४. समानता और पारस्परिक आदान-प्रदान एवं हित-साधना।

५. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

और न केवल वाणी, वचन, विचार एवं व्याख्या में, वरन् सक्रिय कार्यो के द्वारा इस सूत्रकी सिद्धिका प्रयत्न करना पड़ेगा।

विश्वका भविष्य अगम अन्धकारमें है। एक ओर अमृत और दूसरी ओर विष है। दूसरी ओर अशान्ति और पहली ओर शान्ति है। प्रथम सोपान जीवनकी ओर ले जाता है, दूसरा ढाल मृत्यकी ओर। संसारके प्रत्येक देशको अपनी जनता और मानवताके नामपर इनमेंसे एक चुन लेना है।

नाश और निर्माण अपने-अपने निर्वाचकोंकी प्रतीक्षा कर रहे हैं!

श्री चाऊ एन लाई : चीन के प्रधानमंत्री

# पञ्चशिला और विश्वशान्ति

कुछ वर्ष पूर्व नेहरू-चाऊ-मिलनपर एक विशिष्ट सन्धिके रूपमें, 'पंचशिला'-का सर्वप्रिय सिद्धांत सबसे पहले संसारके सम्मुख आया। फिर तो, मार्शल टीटोके भारत आगमनपर युगोस्लाविया और भारतवर्षके बीच भी ऐसी सन्धि अंकित हुई। इसके बाद, एकके बाद एक—अनेक राष्ट्रोंने इस कल्याणकारी सूत्रको स्वीकार किया और पंडित नेहरूके रूस जाने पर, सोवियत सरकारने भी पंचशिलाके महत्त्वको मानकर, अपने आपको गौरवान्वित माना। अब तो पूर्वीय योरपके कई राष्ट्रोंने पंचशिलाके पथ पर प्रयाण किया। इस प्रकार तीन वर्षोंसे भी कम समय में, उस संसारको जो अणु युद्धके भयसे ग्रस्त था, शान्तिका सन्देश मिला। इतना ही नहीं, इस पञ्चसूत्रीय सिद्धान्तने शीतयुद्धके कुहरेको हटा दिया और विश्व-जनताने शान्तिकी साँस ली। इस प्रकार पञ्चशिला जो भारतीय इतिहास और संस्कृतिकी अपूर्व देन है, विश्वके वर्तमान और भावीकी आधारशिला बन गई!

पश्चिमके वैज्ञानिकोंने अणुबमसे बचनेके लिए चाहे जैसे अचूक अस्त्र बनाये हों, परन्तु पञ्चशिलाका अस्त्र सर्वाधिक सफल आयुध प्रतीत होता है। इसके सन्देशको सुनकर ऐसा लगता है, मानो अशोककालीन भारत विश्वको संघ और शान्तिकी शरणमें आनेका आमन्त्रण दे रहा है! पश्चिमके अणुबम-रंजित कार्यक्रमको पञ्चशिला एशियाई चुनौती है। ज़रा हम इसके उद्‌गमको भी देखें कि यह शब्द कब और कहाँसे जवाहरलालको मिला? और चीनके अद्वितीय नेता चाऊने इसे यों सहज स्वीकार कर लिया, तो इसमें कौनसा जादू था।

वास्तवमें पञ्चशिलाका मूल शब्द 'पञ्चशील' युगों पुराना भारतीय शब्द है। बौद्ध आगमोंमें यह शब्द हमें मिलता है। और इस प्रकार हम

भगवान् बुद्धके ऋणी हैं। बौद्ध ग्रंथोंमें बौद्ध गृहस्थोंके लिए दैनिक आचरण सम्बन्धी पाँच नियम हैं। प्रत्येक बौद्ध व्यक्तिको 'सरनत्रय'के साथ 'पंसिला'की भी प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है। ये 'पंसिला' निम्नलिखित पाँच नियम हैं:—

१—प्राणी हिंसा न करना—अहिंसा।

२—जो पदार्थ अपना नहीं है, उसे न लेना।

३—संयम और इंद्रिय-निग्रह।

४—झूठ न बोलना। सत्यं वद।

५—न मदिरापान करना; न जुआ खेलना।

भारतीय धर्मशास्त्रोंके ज्ञाता जानते हैं कि उपर्युक्त पाँचों नियम इसी रूपमें या थोड़े हेरफेरके साथ भारतीय जीवनके अंग बने रहे हैं। जैन धर्ममें वर्णित पंच अणुव्रत और पंच महाव्रत भी हमारी परम्पराके अंग हैं।

इण्डोनेशिया इसी पञ्चशिलाको 'पांज्यशिला' कहता है। बर्माने इसीको 'पञ्चशील'का नाम दिया है। इस प्रकार पञ्चशिला अपने विविध नामोंमें एशिया और आधे योरपके तन-मनमें रम गया है।

भारतने अपनी स्वतन्त्रता एक दीर्घकालीन संघर्ष के पश्चात् प्राप्त की है। उसके सर्वमान्य नेता नेहरूने विश्वके महायुद्धोंकी विनाशकारी लीलाओंको देखा-परखा है। सम्राट् अशोकके समान उनके हृदयमें अहिंसा और विश्वबन्धुत्वकी भावना प्रबल हो उठी है और उन्होंने विश्वमें छाये विषैले वातावरणको दूर कर, शान्तिकी गंगाको धरतीपर लानेका भगीरथ प्रयत्न किया है। उनका यह प्रयत्न, संक्षेपमें यों समझिए, पञ्चशिलाके प्रतीकमें साकार प्रस्फुटित हुआ है।

पञ्चशिलाके पाँच प्रमुख सिद्धान्त ये हैं:—

१. एक दूसरेकी सीमाओंका अनुल्लंघन और राज्यके प्रति पूर्ण विश्वास।

२. एक दूसरे पर आक्रमण न करना।

३. एक दूसरेके घरेलू मामलेमें हस्तक्षेप न करना।

४. परस्पर समानता और भलाईका व्यवहार तथा

५. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्वमें दोनोंका विश्वास :

मार्क्सका कथन है कि पूंजीवाद और समाजवादकी विरोधी विचार-धाराओंका संघर्ष अनिवार्य है। दोनोंमें सह-अस्तित्व नहीं हो सकता। परन्तु स्तालिनने १९४७ के अप्रैल मासमें अमरीकी नेता हैरॅल्ड स्टासनसे कहा था—"यह सम्भव है कि यदि कोई देश चाहे तो अपने राष्ट्रके लिए जिस नीति और पद्धतिको उपयोगी समझता है, उसे अपना सकता है। यह आवश्यक नहीं कि केवल विचारोंको लेकर ही हम एक दूसरेसे झगड़ें। राष्ट्रोंके पारस्परिक सहयोगके लिए यह अनिवार्य नहीं है कि सभी राष्ट्र एक पद्धति और पंथ पर चलनेवाले हों।"

इसी भेंटके पश्चात् विश्वके सम्मुख अंग्रेज़ीका 'कोएग्ज़िस्टेन्स' शब्द राजनीतिमें सर्वप्रथम प्रयोगमें आया। हिन्दीने उसीको 'सह-अस्तित्व' कहा और हिन्दूने इसे सुनकर खुशी जाहिर की, क्योंकि यह तो उसकी संस्कृतिकी ही परछाईं व्यक्त करता था। इसके अतिरिक्त, यह भारतकी तटस्थता-नीतिका पोषण करता है। रूसने भी इसे स्वीकार किया। यहाँ तक कि मार्शल बुल्गानिनने अमरीकाके सामने पारस्परिक सन्धिका जो प्रस्ताव रखा, वह पञ्चशिलाके आधार पर है।

'सह-अस्तित्व' शब्दका रूस-हिन्दके हाथों आविष्कार होना था कि विश्वके अम्बरसे युद्धके बादल उड़ चले। इसके जन्मकालके समय, शीत-युद्धका वातावरण अपने पूरे ज़ोर पर था। पूंजीवादी और समाजवादी देशोंके दो समूह मेघभरे विराट बादलोंकी तरह, टकराना चाहते थे। इस अवस्थामें, एशियाके सभी नवोदित राष्ट्रोंका अस्तित्व संकटसे आतंकित हो चला। कोरियामें जब समरका ी देशोंकी लिप्सा धधक उठी तो भारतने देखा कि सचमुच, मनुष्यका भविष्य मरणके मुखमें जा रहा है। यह ठीक हुआ कि भारतकी सावधानीके फलस्वरूप शान्तिका स्थायी वातावरण स्थापित हुआ।

इसी समय चीनके प्रधानमन्त्री श्री चाऊ-एन-लाइ भारत आये

और तिब्बतके जिस मामलेको लेकर पश्चिमीदल भारत और चीनको लड़ा देना चाहते थे, वह सहज ही हल हो गया—पञ्चशिलाके अमर आधार पर। न केवल एशिया-विरोधी देश, वरन् हितैषी राष्ट्र भी इस सूत्रकी उद्घोषणासे चकित रह गये। पूर्वमें हर्ष था, पश्चिममें विषाद था। पश्चिमने इतना तो जान-मान लिया कि अब पूरबके देशोंको आपसमें लड़वा देना बच्चोंका खेल नहीं है। अमरीकाके विदेश-मन्त्री डलेस तो पञ्चशिलाके शत्रुरूपमें उजागर हो गये और उन्होंने अमरीकाके चेम्बर ऑफ कॉमर्स की मुखपत्रिका 'नेशनल बिज़नेस'में लिखा कि 'यह एक छलिया शब्द है। इस पर निगाह रखनी होगी और इससे सावधान रहना होगा।' जिसके मनमें छलकी राजनीतियाँ होती हैं, उसे सब कुछ छलमय ही दिखता है।

भारत और चीनके समझौतेके कुछ दिनों बाद, इण्डोनेशियाके प्रधान-मन्त्री डॉ० अली शास्त्रोमिद् जोजो (अली शास्त्र-अमित-जय) भारत आये और उन्होंने पांज्यशिलाके रूपमें पञ्चशिलाको सहर्ष स्वीकार किया।

भारत, चीन और इण्डोनेशियाके पश्चात् बर्मा, विएतमिन्ह और युगोस्लावियाने भी पञ्चशिलाके सिद्धान्तको स्वीकार किया। कुछ दिनों बाद बादुंग सम्मेलनमें एशिया और अफ्रीकाके लगभग पच्चीस राष्ट्रोंने पञ्चशिलाको अपनी मुक्ति और पारस्परिक मंगल-योजनाके रूपमें मान्यता दी। इस सम्मेलनमें लंका, स्याम, फिलिपीन, पाकिस्तान और तुर्की जैसे अमरीकी प्रभावसे पोषित राष्ट्रोंने पञ्चशिलाको अस्वीकार किया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि दुनियामें कुछ ऐसे भी देश हैं, जिन्हें अशान्ति और विनाश इष्ट हैं। अच्छा ही हुआ, लोगोंके सामने यह षड्यंत्र प्रकाशित हो गया कि ये पाँचों विरोधी देश पश्चिमके किस गुट्टके हाथों खेल रहे हैं!

सन् १९४७ के पश्चात्की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिसे सम्बन्धित अवस्थाओंका अध्ययन करनेसे यह पता लगता है कि उक्तकालमें विश्वके राजनीति-मंचपर पं० जवाहरलाल नेहरूका प्रवेश कैसी चमत्कारी घटना

है! राम-चरित-मानसमें धनुष-भंगके समय, तुलसीदासने जो शब्द लिखे हैं, वही पं० नेहरूके लिए प्रयुक्त हो सकते हैं, जबकि उन्होंने महायुद्धरूपी धनुषका भंग किया। और उनके प्रवेशका इन शब्दोंमें वर्णन किया जा सकता है—"उदित उदयगिरि मंचपर, रघुवर-बाल पतंग।" जवाहर-लाल ने कथित 'फ्री वर्ल्ड' और कम्युनिस्ट दलोंको सहअस्तित्व और पञ्च-शिलाका महामन्त्र देकर शान्तिकी शक्तियोंको सबल बनाया है। विश्वके कई देशोंने इन्हें स्वीकार कर विश्व-शान्ति और मानवीय सहजीवनके प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है, तथापि कुछ देश-विशेष ऐसे हैं, जो पञ्च-शिलाके पुण्यपथमें बाधक बन रहे हैं। परन्तु, विश्वका बहुमत जब शान्ति-की पञ्चशिलाके पक्षमें है, तो देखना है वह अपनी सुरक्षाके लिए कहाँ तक सावधान है।

# एशियाका भावी नेतृत्व ?

पूर्व और पश्चिमके राजनीतिक्षेत्रोंमें एशियाके भावीको लेकर अनेक प्रकारके अनुमान लगाये जा रहे हैं। राजनीतिका प्रवाह इतना चपल और अस्थिर होता है कि उसके भावीके विषयमें भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। फिर भी, निकट भविष्यकी सहज सम्भावनाओं पर विचार किया जा सकता है।

पश्चिम सोच रहा है कि क्या एशिया और विशेषकर दक्षिण-पूर्वी एशिया तानाशाहीके अन्तर्गत चला जायगा क्या कम्यूनिस्ट बन जायगा? क्या प्रजातन्त्रीय परम्परा अपनायगा? इन्हीं प्रवाहोंपर एशियाका भावी आधारित है।

जापानको छोड़कर पूरा एशिया (चीन भी, जापानके पंजेमें) औपनिवेशिक दासताके तले पिसता रहा है। विदेशियोंने उसका शताब्दियों तक भरपूर शोषण किया। उसके लोगोंको पशुवत् समझा और उसका सामाजिक, राजनीतिक एवं व्यक्तिगत अपमान किया। द्वितीय महायुद्धके पूर्व और प्रथम महायुद्ध-काल में, निरन्तर यही दशा रही।

जब द्वितीय महायुद्धका आरम्भ हुआ और पाश्चात्य साम्राज्यवादियोंको, जिनमें ब्रिटेन प्रमुख था, बढ़ते हुए जापानी दलोंके आगे मैदान छोड़कर भागना पड़ा, तो एशियाके अनेक देश पश्चिमी पंजेसे मुक्त हो गये। दूसरी बड़ी लड़ाईने एशियापर छाये साम्राज्यवादी जालकी जालियोंको जगह-जगहसे काट दिया। इसका दूरगामी प्रभाव इस प्रकार पड़ा कि साम्राज्यवादी एशिया छोड़ने पर मजबूर हो गये। जिस प्रकार एशियाका लोक-जीवन सचेत होकर उपस्थित हो गया था, उसे देखते हुए उसे अधिक दिन अपने अधिकारमें रख लेना, गोरोंके लिए नितान्त असम्भव था।

जापानियोंकी विगत्यात्मक विजयके समय ही गोरोंने एशियाको अपने भाग्य-भरोसे छोड़कर, भागना शुरू कर दिया था।

द्वितीय महायुद्धके इस कालके पश्चात्, पूर्वके विभिन्न देश अपने स्वाधीनता-संग्रामके अंतिम छोर तक पहुँच चुके थे। उन्होंने एक लम्बा मैदान पार कर बहुत बड़ी बाजी जीती थी। यद्यपि वे स्वतन्त्र न हुए थे पर यह स्पष्ट हो चुका था कि यथाशीघ्र स्वतन्त्रताका सूर्योदय होने जा रहा है। पण्डित जवाहरलाल नेहरूने १९४५में जेलसे बाहर आते ही घोषित कर दिया था कि अगले दो सालमें हिन्दुस्तान आजाद हो जायगा। यही हुआ।

जापानके पराभवके साथ, पश्चिमी साम्राज्यवादी राष्ट्र जो वर्षोंसे एशियाका शोषण करते आ रहे थे और जापानके भयसे भाग चले थे, प्रजातन्त्रकी रक्षाके नामपर अब फिरसे अपना आसन जमानेका षड्यन्त्र करने लगे। इस कार्यमें इण्डोनेशिया और बर्मा जैसे देशोंमें वे एक सीमा तक सफल भी हुए, पर जन-जागरण और जनक्रान्तिकी आशंकासे वे प्रतिपल बेचैन रहने लगे।

निदान, इनमेंसे कुछ शक्तियोंके स्वामियोंने अपना बोरिया-बँधना समेटा और जान बचनेकी बधाई गाते हुए स्वदेश लौट गये। हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, बर्मा और श्रीलंकासे ब्रिटेन विदा हुआ। अमरीकनोंने फिलिपाइन्सकी स्वतन्त्रता स्वीकार की। छीना-झपटीकी कोशिशके बाद, डच लोगोंको भी अपना लोभ संवरण करना पड़ा और इन्डोनेशिया छोड़ना पड़ा। फ्रेंच पांडिचेरी छोड़नेको मजबूर हुए। एशियामें जन-जागृतिका एक अनदेखा, अनसुना, अजीब तूफ़ानी ज्वार उठ रहा था। नित नये परिवर्त्तनोंकी वह रचना कर रहा था। लेकिन मलाया, हांगकांग, हिन्द-चीन और गोआ जैसे स्थानोंमें गोरा अब भी शतरंजकी बाजियाँ लगा रहा था। साम, दाम, दण्ड और भेदकी नीतियोंके बल, साम्राज्यवाद अपना सिंहासन सुरक्षित रखना चाहता था, परन्तु वह यह भूल गया था कि तूफ़ानी समुद्रमें एक बार पैर उखड़ जाने पर फिरसे जमा लेना कितना कठिन है!

क्रान्ति और परिवर्त्तनोंकी यह जो लहर आग्नेय एशियाके आँगनमें वह रही हैं, उसकी मूल संवाहिनी शक्तियाँ इस प्रकार विभाजित की जा सकती हैं :—

१. विदेशी राजनीतिक प्रभुत्वको हटा देनेकी प्रवल कामनाएँ।

२. औपनिवेशिक शासन और शोषणका अन्त करनेकी अभिलाषाएँ।

३. सामाजिक, आर्थिक और व्यावहारिक न्याय, समता एवं सम्मान पानेकी इच्छाएँ।

यद्यपि एशियाके विविध देशोंसे साम्राज्यवादी राष्ट्र विदा हुए, पर शताब्दियोंसे, अपने देशकी आर्थिक अवस्थाका पोषण करनेके लिए उन्होंने जो शोपण किये, उनके कारण एशियाई लोगोंकी आर्थिक और सामाजिक अवस्था मृतप्राय हो गई। यह निर्विवाद सत्य हैं कि ब्रिटेनके स्वामी, यह महसूस कर लेने पर कि भारतमें अव अधिक दिन नहीं रह सकते और वलात् निकाले जानेपर अपना व्यापार भी खो वैठेंगे, सत्ता त्यागके लिए तत्पर हुए थे। चतुर वनियेकी तरह, सारा पदार्थ जाता देखकर, उन्होंने आधा वाँट दिया। एशियामें राज्य करनेवाली इन शक्तियोंके लौट जाने पर, यद्यपि एशियाई जनता आर्थिक-क्रान्ति लानेमें (चीनको छोड़कर) अभी सफल न हुई (क्योंकि वह इतनी सचेतन नहीं है), परन्तु वह यह तो जान गई कि हमारे भरपूर श्रमका पारिश्रमिक भरपूर नहीं है, और हमारा भाग भी चन्द लोगोंकी जेवमें चला जा रहा है। इस दृष्टिसे तो उनकी नज़रोंमें विदेशी और स्वदेशी शासनमें कोई अन्तर नहीं है।

यदि एशियामें यही अवस्था अवस्थित रही और कोटि-कोटि जनता की आर्थिक मुक्तिका विराट् अनुष्ठान न किया गया तो अपनी वृद्धिके लिए साम्यवादको विस्तृत क्षेत्र और निष्कंटक मार्ग मिल जायगा।

यहीं, पश्चिमी राजनेताओंकी दृष्टिसे दो प्रश्न उपस्थित होते हैं: पूर्वमें लोकतन्त्रका स्थायित्व और पश्चिममें साम्यवादकी स्थापना। यह भी स्पष्ट है कि पश्चिमी शक्तियाँ पूर्वमें साम्यवादकी वृद्धि नहीं चाहतीं।
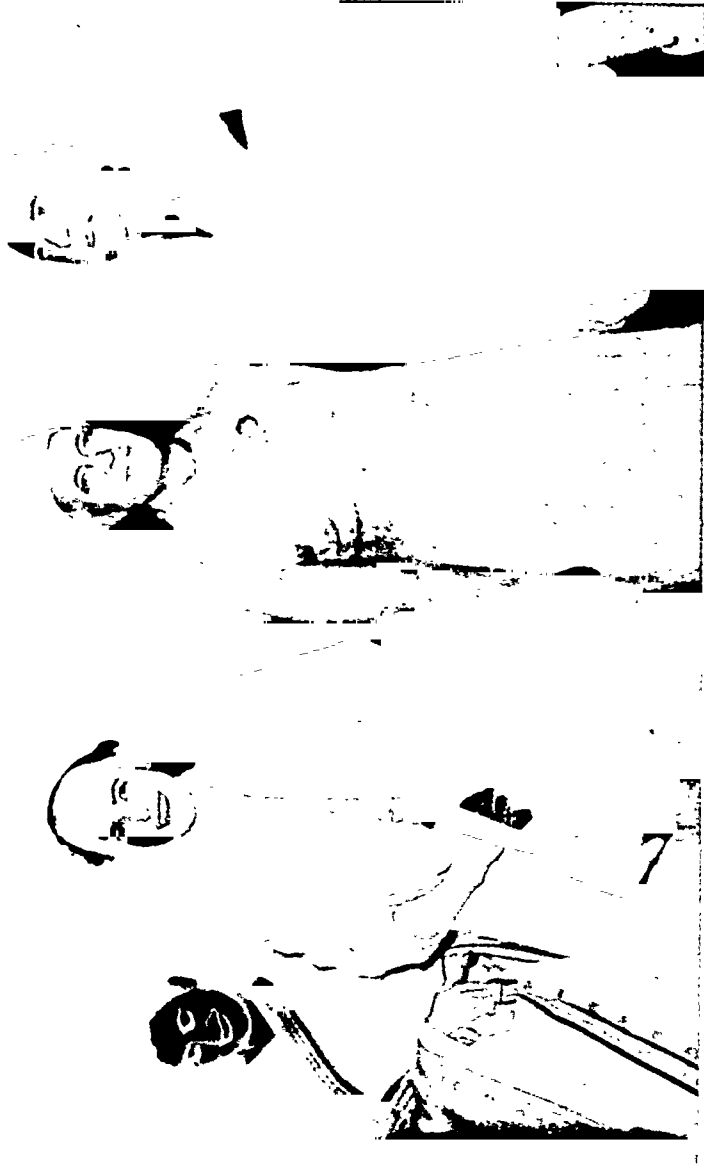
बाईं ओर से : श्रीमती इंदिरा गाँधी, श्रीमती सेंट लारेन्स, श्री नेहरू और कनाडा के प्रधानमंत्री श्री सेंट लारेन्स

ऐसी अवस्थामें, एक मात्र उपाय यही है कि पूर्वकी आर्थिक दुरवस्थाका अन्त किया जाय, और उसे यथाशीघ्र रोजी, रोटी, वस्त्र और आवासकी मानवोचित सुविधाएँ दी जायँ। पश्चिम इस प्रयोगमें महत्त्वपूर्ण भाग ले सकता है। तीन-चार सौ वर्षों तक उसने एशियाई देशोंका जो निरन्तर शोषण किया है, यदि उसका चतुर्थांश भी वह पुनः अनुदानमें दे दे, तो पूर्वमें सहज ही खुशहाली आ सकती है लेकिन, सवाल सिर्फ़ यही है कि वह स्वार्थों-में फँसे तथाकथित लोकतन्त्रियोंके हाथों आती है, अथवा साम्यवादियोंके शासन-द्वारा प्रविष्ट होती है! परन्तु यदि एशियामें ऐसा कोई परिवर्त्तन आया, जिसे पश्चिम पसन्द नहीं करता, जो उसकी नीति, रीतिके विपरीत है तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र उद्वेलित होकर रहेगा और उसका प्रभाव बहुत दूर तक पड़ेगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ तक कच्चे मालका सवाल है, एशिया बहुत सम्पन्न है। रबर, टिन, लोहा, काफ़ी, वनस्पति और चावल आदि पदार्थोंके अतिरिक्त सामरिक महत्त्वकी अन्यान्य सामग्री भी उसकी धरतीमें गड़ी पड़ी है। यदि एशिया 'लाल' हो जायगा तो, "बैलेन्स आफ पॉवर"—शक्ति संतुलन रूसके पक्षमें चला जायगा और बिना लड़े रूस विश्वका महामान्य नेता-जेता बन जायगा।

नेतृत्वकी इसी साधनागत तल्लीनताके कारण एशियामें महाशक्तियाँ दाँवपेच चला रही हैं। इसीलिए उनके शीतयुद्धके बादल एशियापर मँड-राते हैं और इसीलिए पाकिस्तान, स्याम और फारमोसा जैसे देशोंको अस्त्रशस्त्रोंका दान दिया जाता है। इसीलिए सीटो और पेसिफिक-पैक्टकी रचना होती है। सत्ता और प्रभुत्वकी स्थापनाके हेतु प्रयत्नशील इन आयो-जनोंका प्रभाव एशियाई क्रान्ति और विकासकी प्रक्रियापर पूरी तरह पड़ रहा है। एशिया पश्चिमको आशंकाकी दृष्टिसे देखता है। उसका यह सन्देह विश्वासमें ढलता जा रहा है कि पश्चिम पुनः हमें परतन्त्र बनाना चाहता है। हमारे हितकी बातें बनाकर अपने स्वार्थकी सिद्धि चाहता है।

एशियाका राजनीतिक भविष्य इस आधारपर भी अवलम्बित है

कि रूस और अमरीका दोनों महाशक्तियाँ एशियाके विकास-यज्ञमें कैसी आहुति अर्पण करती हैं !

पश्चिमी लोकतन्त्रके नेता अमरीकाने अपनी विविध योजनाओंके अन्तर्गत एशियाई देशोंको अपर्याप्त रूपमें आर्थिक सहयोग दिया है, परन्तु वह ऊँटके मुँहमें जीरेके समान है। और केवल अर्थका अनुदान लोकतन्त्रकी स्थापना नहीं कर सकता। दूसरी तरफ़, अमरीका अस्त्र-शस्त्र और अड्डे-खड्डेकी जिस सीमामें, सहयोग-प्राप्त राष्ट्रोंको रखना चाहता है, उसे देखते हुए यह साबित होता है कि केवल देश-विशेषके विकासके लिए वह कुछ देना नहीं चाहता, न उसे कोरे प्रजातन्त्रका ही मोह है। वह रूसके भयभूतसे अपनी सुरक्षा चाहता है और उस भयके यथार्थमें परिणत होने पर सहयोग प्राप्त राष्ट्रकी वलि देना चाहता है। यह मसल तो उस मुर्ग़ीकी तरह है, जिसे जिवह करनेके लिए मुटाया जाता है।

कुछ वर्ष पूर्व, अमरीकाकी एशियाई नीतिकी विवेचना करते हुए सेक्रेटरी आफ स्टेट्स एचिसनने कहा था—"पिछले डेढ़ सौ वर्षोंसे अमरीका-ने क्रान्तिका नेतृत्व किया है। और अमरीकाकी विदेश-नीतिका मूलभूत उद्देश्य यह है कि एक ऐसी दुनियाका निर्माण किया जाय, जिसमें समस्त देशोंकी सभी जनता, जिसमें एशियावासी भी सम्मिलित हैं, रह कर, अपनी अपनी प्रणालीसे उज्ज्वल भविष्यकी रचनाके निमित्त कार्य कर सके।"

श्री एचिसनके इस कथनके उपरान्त भी अमरीकाने आज तक ऐसा वातावरण तैयार न किया, जिसमें अन्य राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रताको अक्षुण्ण वनाये रख सकें। श्री जवाहरलाल नेहरूने जुलाई १९४९की अपनी अमरीकी यात्रामें, यू० एस० कांग्रेसमें जो भाषण दिया था, उसमें कहा था—"यद्यपि हम अपने-अपने देशोंके इतिहास और संस्कृतिसे परिचित हैं, तथापि आवश्यकता इस वातकी है कि हम एक दूसरेके दृष्टिकोणको समझें और सहानुभूतिपूर्वक उसकी सराहना करें। भले हमारा मतभेद हो परन्तु मतभेदके कारण ही हममें असहयोग नहीं होना चाहिए। क्योंकि हम जानते हैं कि सहानुभूतिमय जानकारी और समझके द्वारा ही आदर्शोंकी

प्राप्तिका प्रयास सिद्ध हो सकता है। आजकी दुनियामें जिस चीज़की सबसे अधिक कमी है, वह है व्यक्तियों और राष्ट्रोंमें, एक दूसरेके विचार और व्यवहारको समझनेकी भूल। अतएव, मैं आपके इस महान् देश, अमरीकामें, अमरीकी जनताके मन और मस्तिष्ककी खोजके लिए आया हूँ। साथ ही मैं आपके सम्मुख अपने वचन, वाणी और हृदयके द्वारा अपनी भावनाओंको अभिव्यक्त करना चाहता हूँ।"

अब हमें यह देखना है कि क्या आजकी अमरीकी सरकार श्री नेहरू और एचिसनके बतलाये मार्ग पर चल रही है? नहीं। क्योंकि अमरीकी नेताओं, लेखकों और सैनिक अफ़सरोंके बयान 'सह जीवन'के एशियाई सिद्धान्तके सर्वथा विपरीत जाते हैं। उदाहरणके रूपमें अमरीकी लेखक हर्बर्ट मेथ्यूज़ जो अनेक वर्षो तक 'न्यूयार्क-टाइम्स' और अनेक प्रसिद्ध पत्रोंके संवाददाता रहे हैं, लिखते हैं—"साम्यवादी साम्राज्यशाहीको हम अपना शत्रु मानते हे और हम उसके सामने नहीं झुक सकते, और नहीं झुकेंगे। हम मजबूरियोंको खत्म करेंगे और साम्यवादके प्रसारका विरोध करेंगे। हम किसी भी प्रकार साम्यवादको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न नहीं कर सकते। इस संघर्षमें हम साथी चाहते हैं और हमें मित्रोंकी आवश्यकता है और अमरीकाका यह सैद्धान्तिक ध्येय है कि एशियाई देशोंको, साम्यवादके विरुद्ध होनेवाले अपने संग्राममें, हम अपना मित्र बनायें। इन मित्रोंको हम सहायता और सहयोगके द्वारा अपनी ओर लेना चाहते हैं, न कि आक्रमण या दबावके जरिये। न इन देशोंकी आन्तरिक स्थितिमें हस्तक्षेप करके ही हम उन्हें अपना साथी बनाना चाहते हैं।"

उपरोक्त कथनसे दो बातें स्पष्ट होती हैं कि एचिसन और नेहरूके प्रस्तावके विरुद्ध मौजूदा अमरीकी सरकार साम्यवादियोंके साथ सह-अस्तित्व, सह-जीवन (कोएग्ज़िस्टेन्स) की कल्पना ही नहीं करती। दूसरे, यह भी स्पष्ट रूपसे प्रकट है कि अमरीका एशियाई धरती पर साम्यवादके विरुद्ध उठना चाहता है और उसके लिए उसे शीश-दान करनेवाले और अमरीकी बन्दूकोंका बोझा ढोनेवाले तथाकथित मित्रोंकी ज़रूरत है।

श्री हर्बर्ट मेथ्यूजका यह कथन कि अमरीका हस्तक्षेप नहीं करता, सर्वथा भ्रामक और मिथ्या है। पिछले कई वर्षोंसे अमरीकाने पूर्व और पश्चिमके कई राष्ट्रोंकी आन्तरिक और वाह्य नीतिमें खुले रूपसे हस्तक्षेप किया है। उदाहरणके लिए—जापान, कोरिया, हिन्द-चीन, स्याम, लंका, इन्डोनेशिया, बर्मा, पाकिस्तान, नेपाल, ईरान, यूनान, मिस्र, अरेबिया, टर्की, फ्रान्स, पश्चिमी जर्मनी और अनेकानेक देश ऐसे हैं जो अमरीकाके हस्तक्षेपकी कृपाके नीचे कराह रहे हैं। पिछले दिनों फ़्रान्सने ई० डी० सी०, हिन्द-चीन और पाण्डिचेरीके मामलोंमें, जिस रूपमें अमरीकी दावको अस्वीकार कर, उसके प्रति असम्मान प्रदर्शित किया, वह जगजाहिर है।

इन घटनाओं और तथ्योंसे यह प्रमाणित होता है कि प्रधान मंत्री नेहरू-के सह-अस्तित्वके विश्वकल्याणकारी सिद्धान्तके विपरीत अमरीका और उसका गुट्ट एशियामें अपने प्रभावकी वृद्धि चाहता है। कुछ जानकारोंका कहना है कि यह तो जान-मानकर रूसी प्रभावको प्रतियोगिताके लिए आमन्त्रण देना है और शीतयुद्धको जीवित रखना है। मोटे रूपमें यह भारत और चीनके शान्तिप्रिय प्रयासोंके विरुद्ध बेढंगी षड्यन्त्रबाजी है। देखना यह है कि उदीयमान एशिया अपने आँगनमें पश्चिमके इन फूट-परस्त पटाखोंका धमाका कब तक सहन करता है? क्योंकि एशियाके इस सहन करने या न करनेकी रीति-नीति पर ही उसका अपना और विश्वका भावी निर्भर है। सच बात तो यह है कि पश्चिमको एशियाके प्रति, अथवा गोरे देशोंको रंगीन जातियोंके प्रति अपनी निर्धारित नीति बदलना है। एक ओर तो पश्चिम हमें सहयोग देनेकी बातें करता है, दूसरी ओर वह हमारी बढ़ती हुई आबादीको बसानेके लिए हमें अपने एशियाके भू-भाग ही नहीं देना चाहता। मिसालके तौर पर हम आस्ट्रेलिया ही को लें कि जिसका क्षेत्रफल भारतवर्षसे दुगुना है, परन्तु जन-संख्या एक करोड़ भी नहीं, और सारी भूमि बेकार पड़ी है। जबकि जापान जैसे छोटेसे देशमें सात करोड़से अधिक जापानियोंको रहनेके लिए जगह नहीं है। और आस्ट्रेलिया किसी भी शर्त पर अपने यहाँ रंगीन जातियोंको बसने देना नहीं चाहता। उधर

अफ्रीकामें गोरे बरसोंसे बसे हुए काले लोगोंको अपने घरोंसे दिगम्बर बनाकर निकाल देना चाहते हैं। निश्चय ही, ये अशुभ प्रयास शान्ति और विश्व-विकासके मार्गमें बाधक हैं।

एशियामें एक ओर साम्यवाद है, जनतन्त्र है, तानाशाही है। पश्चिम-का भी यही हाल है। जहाँ एशियाई प्रजातन्त्र अपनी ग़रीबीसे लड़ रहे हैं, वहाँ पश्चिमी प्रजातन्त्र पूँजीवादसे गठबन्धन किये हैं। और पूँजीवाद नये क्षेत्रोंके शोषण, लाभ और युद्धके बिना जीवित नहीं रह सकता। युद्ध वह अपनी भूमि पर नहीं लड़ना चाहता, और कहीं—एशियामें लड़ना चाहता है। एशिया अपने निर्माणके नवयज्ञमें विघ्न नहीं चाहता। तो, पल भरके लिए यही मान लिया जाय कि बखेड़ा इस बात पर है कि लड़ाई कहाँ हो? अतएव, पश्चिमको अपने सभी साथियों, सहयोगियों सहित अपनी व्यावहारिक और राजनीतिक नीति परिवर्त्तित करनी पड़ेगी। तभी वह हमारा और उससे अधिक अपना भला कर सकता है। एशियामें जिन देशोंमें प्रजातन्त्रकी परम्पराएँ नहीं रही हैं और जहाँ एकता नहीं है और जहाँ ग़रीबी है और जहाँ सत्ता इने-गिने व्यक्तियोंके हाथोंमें है, प्रजातन्त्रका भविष्य अन्धकारमें है। इस अन्धकारको दूर करनेके लिए जो सम्भावित प्रयत्न होने चाहिए उनमें एक यह है कि पश्चिम कृपा कर हमें अपने हाल पर छोड़ दे और किसी प्रकारकी सहायता, निस्वार्थ रूपसे देना चाहता है तो एक ही प्रकार से दे, वह है आर्थिक सहयोग, जिसके साथ किसी प्रकारके पैक्ट, एक्ट, सन्धियाँ और समझौते न हों। वह पूर्वमें अपने मसान जगानेके मनसूबे छोड़ दे।

एशिया सहस्रों वर्षोंसे समता, बन्धुत्व और प्रेमका प्रहरी रहा है। उसके ये स्वरक्षित सद्गुण ही उसकी भावी उन्नति और मुक्तिमें सहायक हो सकते हैं। आज एशियाई एकता और अर्थ-नीतिकी असफलता पर प्रजातन्त्रके स्थान पर एकतन्त्रकी स्थापना सम्भव है। एशियाके प्रगति-कामी राष्ट्र इस सम्भावनाको दूर करनेके लिए प्रयत्नशील हैं। चीन, भारत और कई अन्य देश एशियामें जन-राज्यको जीवन देने के लिए प्राण-

पणसे चेष्टा कर रहे हैं। उनकी सफलता, शान्ति पर निर्भर है। पश्चिम इस शान्तिको भंग कर भयंकर भूल करेगा। जहाँ एक ओर यह नवागत अशान्ति एशियाका विध्वंस करेगी, वहाँ दूसरी ओर पश्चिमको भी पाताल-में पहुँचा देगी। इसलिए अपने ही हितकी दृष्टिसे पश्चिमको शान्तिका स्थायी वातावरण निर्माण कर एशियामें प्रजातन्त्रकी सफलताका सत्प्रयत्न करना चाहिए।

शान्ति एशियाकी माँग और पुकार है। यदि एशियाके अपने प्रयत्न सत्य और शिव हैं तो शान्ति स्थापित होकर ही रहेगी। शान्तिके उस मंगलमय वातावरणमें एशियाके नूतन भविष्य-भास्करका उदय होगा।

# एशियाके गणराज्य

यह तो निर्विवाद रूपसे प्रमाणित हो गया कि वैदिक-कालमें आर्यावर्त्त-में वैराज्य—जनताके राज्यकी स्थापना हो चुकी थी। उसके सहस्रों वर्ष पश्चात् बुद्धकालमें भी गणराज्य और सोलह महाजनपदके उल्लेख मिलते हैं। निस्सन्देह ये राज्य आधुनिक लोकतन्त्रके प्रथम आदिरूप थे। मेगास्थनीज़ और डायोडोरसके कथन हम देख चुके हैं। इन सब प्रमाणोंसे प्रमाणित होता है कि विश्वको गणराज्य-व्यवस्था भारतवर्षने ही दी है। लोकतन्त्र, जनतन्त्र, गणतन्त्रकी जन्मभूमि यह देवभूमि भारत वसुन्धरा ही रही है।

योरपमें तो सोलहवीं शताब्दीके बाद, लोकतन्त्र-व्यवस्थाका विकास हुआ है। प्रथम एवं द्वितीय महायुद्धके पूर्व एवं पश्चात्के काल-प्रवाहोंने विश्वकी जनताको अपने अधिकारों तथा स्वत्वोंके प्रति पूर्ण रूपेण सजग, सावधान कर दिया। स्वतन्त्रताके समरका शंखनाद हुआ। साम्यवाद आया। उपनिवेशोंकी जनताने अपने शासकोंके सिंहासन उलट दिये। विशेषकर एशियामें त्वरित गतिसे परिवर्तन हुए। इस प्रगतिके वेग और विकासको देखकर पश्चिम विस्मित रह गया। जापानके प्रथम जागरणसे लेकर भारतीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रकी स्थापना तकका सुकाल योरप और अमरीकाके लिए आश्चर्यकी चकाचौंध बन गया!

संक्षेपमें एशियाके गणराज्योंकी विकास-कथा इस प्रकार है:

## चीन

एशियाका महान् गणराज्य है। १९०५में डॉ० सुनयात सेनने 'तुंग-मेंग-हुई' नामक क्रान्तिकारी संस्था बनाई। इस संस्थाका उद्देश्य मंचू राज्यवंश और उसके अनाचारोंका अन्त कर चीनमें लोकतन्त्रकी स्थापना करना था। फलत: १९०६ और १९१०में चीन देशमें स्थान-स्थान पर विप्लव हुए। अबतक डॉ० सुनयात सेनके नेतृत्वमें उग्र विचारोंका वृद्धि-

मय विकास हो चुका था। इस विकासके भयसे त्रस्त होकर सरकार ने एक राष्ट्रीय परिषद् बुलाई और वैधानिक शासन देनेका प्रयत्न किया। परन्तु जनता इतनी जागृत थी कि उसने इस षड्यन्त्रको अस्वीकार किया। अन्तमें प्रथम महायुद्धके ३ वर्ष पूर्व सन् १९११में चीनमें विद्रोह हुआ। प्रजातन्त्रकी घोषणा हुई। इस परिवर्तनको इतिहास लेखक 'मून'ने इस प्रकार व्यक्त किया है: "जिस प्रकार सोलहवें लुईने फ्रान्समें क्रान्तिको आमन्त्रण दिया, उसी प्रकार चीनके राज्यने प्रान्तीय और राष्ट्रीय सभाओं-के प्रति व्यवहारमें अयोग्यता दिखाई।"

यद्यपि चीनी जनता मंचुओंसे मुक्त हुई पर देशके स्वार्थसाधकोंके शोषणसे नहीं। नौकरशाही और धन्नाशाहीने अपने डंक और फन फैलाये।

१९२० में चीनी जनताने यह समझ लिया कि अपनी स्वतन्त्रताकी सुरक्षाके लिए साम्राज्यवादियोंसे मुक्ति पाना आवश्यक है। डॉ० सुनयात सेनके नेतृत्वमें पुनः आन्तरिक संगठन पर ज़ोर दिया गया। कुओमिन्तांग नामक दलकी स्थापना हुई। १९२१में कम्युनिस्टों और कुओमिन्तांग-दलने मिलकर विदेशियोंसे लोहा लेना चाहा। १९२५में सुनयात सेनकी मृत्यु हो जाने पर चियांग काई शेक सामने आया। वह कुछ न कर सका। न भूमि-सुधार हुआ, न श्रमिक किसानोंको राहत मिली। चियांगकी पश्चिम-परस्त नीतिके दुष्परिणाम तत्काल प्रकट हो गये। १९२५में ही अँग्रेज़ोंने शांघाई और कैन्टनमें भयंकर रूपसे गोलियाँ चलाईं। छात्रों और श्रमिकोंके रक्तसे धरती रँग गई।

लोक-सेनाके निर्माण और राष्ट्रीय एकताकी स्थापनाके हेतु चियांगके सभापतित्वमें सैनिक-शिक्षाके लिए एक स्कूल खोला गया। तब श्री चाऊ-एन-लाइ इसके डीन थे। परन्तु अधिक दिन न बीते कि राष्ट्रवादियों और साम्यवादियोंका मतभेद तीव्र हो गया। इसका मुख्य कारण यह था कि प्रतिक्रियापन्थी राष्ट्रवादी गुट्टको किसानों और मजदूरोंकी बढ़ती हुई शक्ति फूटी आँखों भी न सुहाती थी। ज़मीन्दार, साहूकार, सरमायादार संगठित कुओमिन्तांगकी नीतिसे चिन्तित थे। अब उन्होंने कुओमिन्तांगमें फूट

डालनेकी कोशिश की और इसमें उन्हें पूरी सफलता मिली। विदेशियोंकी चालें भी अपना काम कर रही थीं। परिणाममें, चियांगके नेतृत्वमें राष्ट्र-वादियोंने राष्ट्रके विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी और साम्यवादियोंको अपना लक्ष्य बनाया।

१९२८में राष्ट्रवादी दलने नानकिंगमें अपनी सरकार स्थापित की परन्तु उसकी घूसखोरी, अनाचार, शोषण और असफलताएँ इतनी थीं कि वह स्वयं अपना वैरी बन गया। १९२८में ही भयंकर अकाल पड़ा। राष्ट्रवादियोंने अपने सारे काले कारनामों पर पर्दा डालनेके लिए, साम्यवादियोंको दोषी ठहराकर उन पर आक्रमण कर दिया। यह युद्ध १९३६ तक चला। इधर १९३४में साम्यवादियोंने, जिनके साथ जनताकी अनन्त सहानुभूति थी, आठ हज़ार मीलकी लम्बी यात्रा एक वर्षके अल्पकालमें समाप्त कर, क्यांगसी प्रान्तमें प्रवेश किया।

किन्तु चीनको इस प्रकार गृह-युद्धमें फँसा देखकर साम्राज्यवादी जापानने उसपर आक्रमण कर दिया। चीनी जनता फिर एक हो गई। साम्यवादियों और राष्ट्रवादियोंने मिलकर १९३७ से १९४४ तक जापानी आक्रमणकारियोंका सामना किया। साम्यवादियोंने इस लड़ाईमें प्राणोंको हथेली पर रखकर दुश्मनका मुक़ाबिला किया।

इन दिनों साम्यवादियोंका प्रभाव इतना बढ़ गया कि उनकी लाल सेनाकी संख्या ८ लाख और स्वयंसेवकोंकी संख्या ५० लाख हो गई। इस प्रभावको देखकर चियांग और उसके अमरीकी सहायक चिन्तामें पड़ गये और अपनी बौखलाहटमें उन्होंने सन्धिका उल्लंघन कर, फिरसे साम्य-वादियों पर आक्रमण कर दिया!

बावजूद अमरीकी सहायता, सलाह, षड्यन्त्र, देशके स्वार्थपोषक चियांग, सुँग, कुंग और चेन (ये चार परिवार जो समस्त चीनका शोषण करते थे)के—कम्युनिस्टोंका प्रभाव दिन दूना बढ़ता गया। उनकी जीत पर जीत होती गई।

और अक्टूबर १९४९के एक दिन साम्यवादियोंने समस्त चीनकी

महामुक्तिकी विजय घोषणा की। सारा संसार आश्चर्यसे स्तब्ध रह गया!

चीनमें संयुक्त मोर्चा बना। सभी प्रगतिशील ताक़तोंने मिलकर नई सरकारकी स्थापना की।

फिर सुधार, परिवर्तन और विकासके कार्यान्वित होनेमें देर न लगी। संक्षेपमें, जो पिछले दो सौ वर्षोंमें न हुआ था, वह साम्यवादियोंने दो वर्षोंमें कर दिखाया। चीन अपनी महानिद्रासे उठकर खड़ा ही नहीं हो गया, वरन् पण्डित जवाहरलालके पवित्र शब्दोंमें—'दुनियाकी तीसरी महाशक्ति बन गया!' इसे जादू कहिये, करिश्मा कहिये, कुछ भी कहिये!

## बर्मा

संसारकी धारणा बराबर यही रही है कि अँग्रेज़ किसी चीज़को तोड़ता है तो दो-चार सौ वर्षका भविष्य विचारकर ऐसा करता है। यदि वह किसी चीज़को जोड़ता है तो भी इसी नीतिका उपयोग करता है। उसका जोड़-तोड़, संधि-विग्रह, साथ-गाँठ, मेल-मिलाप, घुड़की-मनुहार—सब उसके अपने स्वार्थके लिए होता आया है! तभी न पण्डित जवाहरलाल नेहरूने लिखा है—अँग्रेज यह समझकर अपनी अकड़में विचरण करता है, मानो दुनिया उसके वाल्दैनकी जागीर है!

बर्मा तो, जबसे विधाताकी धरती बनी, तबसे भारतका अविभाज्य अंग रहा है परन्तु १९३५में अँग्रेज़ोंने इसे विभाजित कर दिया। एक अलग देशके रूपमें बर्माकी स्थापना हुई। १९३९ तक यहाँ ब्रिटिश राज्यका कुचक्र चलता रहा परन्तु जब द्वितीय महायुद्धका रणघोष सुनकर अँग्रेज़ पूरबसे भागने लगे तो उन्होंने बेचारे बर्माको भी अरक्षित छोड़कर पलायन किया। जापानियोंका आधिपत्य होने पर भी बर्माके देशवासियोंने अपनी लड़ाई जारी रखी और युद्धकी समाप्ति पर जनरल आँग-सानके नेतृत्वमें राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल हो उठा।

भारतके गणतन्त्र होनेसे पूर्व, ४ जनवरी १९४८को बर्मा प्रजातन्त्र बना।

यद्यपि अँग्रेज़ोंने राजकीय सत्ता हस्तान्तरित की, परन्तु अपने आर्थिक

स्वार्थों पर आँच न आने दी। व्यापारीके रूपमें गोरा अब भी बर्मामें बैठा रहा और अपनी आदतके अनुसार गड़बड़ी करता रहा। बर्मा आन्तरिक अव्यवस्थासे परेशान हो गया। यहाँ तक कि उसकी स्वतन्त्रता संकटमें पड़ती दिखाई दी।

कई षड्यन्त्रकारियोंके समूहने जनरल आँग-सानकी हत्या कर दी। उनका ख्याल था कि एक प्रभावशाली मार्गदर्शक एवं योग्य नेताके उठ जानेसे बर्मी जनता पथ भूल जायगी। परन्तु देशके दुश्मनोंके मनसूबे मिट्टी-में मिल गये और अपने भाई भारतकी सम्मति और सहयोगसे बर्मी नेताओंने शान्ति एवं सुराजकता स्थापित की। आज भारत और बर्माकी मैत्री ठोस आधार पर आश्रित है। हाल ही में भारत सरकारने बर्माको २० करोड़ रुपयेका ऋण देना स्वीकार किया है ताकि वहाँ स्वतन्त्र प्रजातन्त्रीय आधार पर विकास-योजनाओंको प्रश्रय मिले।

## इण्डोनेशिया (हिन्देशिया)

१६०२ से १९४१ तक डच साम्राज्यवादियोंके शासनमें रहनेवाला यह देश सर्वसंहारियोंकी भाषामें 'नीदरलैंड्स ईस्ट इंडीज' कहलाता रहा। १९०८में यहाँ स्वाधीनता-संग्रामका प्रथम शंखनाद हुआ। लगभग ४० वर्षोंके अविश्रान्त संघर्षके पश्चात् हिन्देशियाकी धरती पश्चिमी आक्रान्ताओं-के भारसे मुक्त हुई।

लंका, मलाया, हिन्दचीन और अन्यान्य एशियाई देशोंकी तरह हिन्दे-शिया भी प्राचीनकालसे भारतका अंग रहा है। भारतीय संस्कृति, भाषा, साहित्य, धर्म और कलाका पूर्ण प्रभाव हिन्देशियाके विविध विषयों पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

२७ दिसम्बर १९४९ को डच लोग सत्ता छोड़नेको मजबूर हो गये। हिन्दे-शियाकी आज़ादीकी लड़ाईमें जवाहरलाल नेहरूने जो अ.वरत सहयोग दिया, उसकी तुलना हिन्देशियाके किसी भी देशप्रेमीके सुकार्योंसे की जा सकती है। भारतने संयुक्त राष्ट्रसंघमें हिन्देशियाके पक्षके लिए निरन्तर

प्रयत्न किया, बहुमत बनाया और अनेक प्रकारसे विदेशियोंको अपनी आँखें खोलकर समयको पहचाननेको मजबूर किया।

इसके पूर्व द्वितीय महायुद्ध-कालमें, १९४१में जापानके प्रहारोंमें हिन्देशियाको अकेला छोड़ डच शासक जब भाग खड़े हुए थे तब डॉ० सोकार्नो-के नेतृत्वमें राष्ट्रीय सरकारकी स्थापना हुई। १९४५में जापानकी हार पर इसी सरकारने स्वतन्त्र हिन्देशियाई प्रजातन्त्रकी घोषणा की। लेकिन, अँग्रेज़ोंकी आड़में जब डच लोग सेना सजाकर वापस हिन्देशियामें अपने पर पसारने लगे तो राष्ट्रवादियोंने अपने गुरिल्ला युद्धसे उनकी नींद हराम कर दी। ब्रिटिश सरकारके लिए भी अपना मुँह छिपाना कठिन हो गया।

१९४६के मध्यमें अँग्रेज़ अपनी सेना-सहित अपनी जान बचाकर भाग खड़े हुए पर डचोंने समयके प्रवाहको न पहचाना। तथापि, १५ नवम्बर १९४६में डचोंने एक समझौता किया, जो 'लिंगड़जाति' या 'चेरिबॅन एग्रिमेण्ट'के नामसे प्रसिद्ध है। इसके अनुसार हिन्देशियाको आंशिक स्वराज्य मिलने वाला था। परन्तु वास्तवमें यह तो डचोंका एक बहाना था। राष्ट्रीय नेताओंको इस समझौतेका सपना दिखाकर वे अपनी सेनाएँ बढ़ाने लगे। यहाँ तक कि २० जुलाई १९४७को उन्होंने हिन्देशियाके प्रदेशोंको कई टुकड़ोंमें काट दिया और अनेक प्रकारके अत्याचार करने लगे। उनसे तंग आकर हिन्देशियाने अपने नेता भारतसे सहायताकी अपील की। परन्तु अमरीका बीचमें मुल्ला बनकर खड़ा हो गया। और उसने कहा कि हम मध्यस्थ बनकर निपटारा किये देते हैं। हिन्देशिया तो डचों और अमरीकियोंमें कोई फ़र्क़ नहीं करता था। वह जानता था कि दोनोंका स्वार्थ एक केन्द्र-बिन्दु पर टिका है। अन्तमें भारतके सहयोगसे यह मामला संयुक्त राष्ट्र संघके समक्ष पेश किया गया। फलस्वरूप संघने एक कमीशन भेजा और 'नीदरलैंड्स यूनियन'की रचनाकी तिथि १ जनवरी १९४९ रखी गई।

इस बीच देशको भयंकर अराजकताओंका सामना करना पड़ा। देशी और विदेशी षड्यन्त्रोंने हिन्देशियाकी स्वतन्त्रताको संकटमें डाल

दिया। फिर भी इण्डोनेशियाके देशप्रेमी मैदानमें डटे रहे और उन्होंने अपनी आज़ादीके जंगको जागृत रखा। इसका शुभ परिणाम शीघ्र ही प्रकट हो गया और १८ दिसम्बर १९४८में डच सरकारने हिन्देशियामें अन्तरिम शासनकी व्यवस्था की।

इस पर भी परिस्थितियाँ वैसी ही बनी रहीं और डच सरकारने हिन्देशियामें अवस्थित अपने लोभ और लाभके अवसरको छोड़नेमें काफ़ी आनाकानी दिखलाई। यहाँ तक कि डचोंने सुरक्षा परिषद्-द्वारा नियुक्त कमीशनके काममें भी बाधाएँ उपस्थित कीं। पं० जवाहरलाल नेहरूकी सदारतमें जनवरी १९४९में दिल्लीमें एक एशियाई सम्मेलन बुलाया गया जिसमें हिन्देशियाकी आज़ादीके सवालको काफ़ी ज़ोरदार शब्दोंमें दुनियाके समक्ष रखनेका प्रयत्न किया गया। इन्हीं प्रयत्नोंके परिणामस्वरूप हिन्देशियावासियोंके हृदयमें जो कृतज्ञता उद्भूत हुई, वह हिन्देशियामें पण्डितजीके स्वागतके रूपमें प्रकट हुई। इसके बाद तो साम्राज्यवादी गुट्टके मुँह पर पड़ा नक़ाब एशियाई जागरणने उलट दिया। और 'इण्डोनेशियन रिपब्लिक'की स्थापना हुई। इस रिपब्लिकके अन्तर्गत सोलह राज्योंका निर्माण हुआ और नीदरलैण्डकी रानी इस संघकी अध्यक्षा बनाई गई। शनैःशनैः जब हिन्देशियाई लोगोंका जागरण परिपक्व अवस्थामें प्रस्फुरित हुआ तो २७ दिसम्बर १९४९के शुभ दिन हिन्देशिया सार्वभौमिक, सर्वसत्ताधारी स्वतन्त्र राज्यके रूपमें संसारके समक्ष उपस्थित हुआ। इस समय डॉ० हाटा प्रधान मन्त्री और सोकार्नो राष्ट्रपति चुने गये। इतना होने पर भी, डच न्यू गाइनाका प्रदेश डच सरकारने नहीं छोड़ा। भला, जब आप पूरे देशको आज़ाद कर रहे हैं तो उसके किसी नन्हेंसे भागको अपने अधीन रखनेका क्या अर्थ हो सकता है? वास्तवमें यह वही षड्यन्त्र है जो एशियाके स्वतन्त्र राष्ट्रोंको परेशान करनेके लिए पश्चिमी शक्तियाँ प्रयोगमें लाती रही हैं। चीनके सरदर्दके लिए फारमोसा और हांगकांगके अतिरिक्त पुर्तगाली मेकाओकी बस्तियाँ हैं, जो आज भी विदेशियों अथवा उनके पिट्ठुओंकी कठपुतली सरकार-द्वारा शासित हैं। भारतके लिए गोआ और

गिलगिट काफ़ी चिन्ताके माध्यम बने हुए हैं। बर्मामें करेनों और राष्ट्रवादी चीनियोंकी विपदा रही है। उधर हिन्दचीनमें कई छोटे-छोटे टुकड़े साम्यवादी विएत्मिहको उद्वेलित करनेके लिए उपस्थित हैं।

## विएतनाम (जनवादी)

हिन्दचीनमें फ्रांसीसी साम्राज्यवादके विरुद्ध डॉ० हो ची मिंहके नेतृत्वमें जो ललकारें उठीं, वे पश्चिमी षड्यन्त्रकारियोंको काफ़ी महँगी पड़ीं। और जिस प्रकार, चियांगके चीनको अरबों डॉलरके हथियार देकर भी अपने अनर्थकारी मनोरथकी पूर्तिमें वे सफल न हुए, उसी प्रकार, हिन्दचीनमें फ्रान्सको शतरंजका मुहरा बनाकर वे बाजी जीतनेमें असफल रहे।

हिन्दचीनके युद्धके दौरानमें रूस तथा जनवादी राष्ट्रोंने विएतनामी प्रजातन्त्रको मान्यता दी। भारतके प्रयत्नों पर वहाँ शान्ति-स्थापना हुई और ज्यों त्यों कर फ्रांसने अपनी लज्जा बचाई। आश्चर्य है कि फ्रांस और हिन्दचीनकी अमरीकी सहायता प्राप्त सेनाएँ, जो आधुनिकतम शस्त्रोंसे सुसज्जित थीं काठकी बन्दूकोंसे लड़नेवाली डॉ० हो ची मिंहकी सेनाओंसे क्योंकर पराजित हुई। इसके मूलमें एशियाई आज़ादीकी वह अभंग भावना काम कर रही है, जो गोरों, चोरों और गिरह-कटोंको एशियाकी धरतीसे बाहर निकाल देनेके लिए आकुल-व्याकुल है!

## फिलिपाइन्स

कुछ छोटे-छोटे द्वीपसमूहोंका छोटासा प्रजातन्त्र है—फिलिपाइन्स। ४ जुलाई १९४६को अमरीकन स्वतन्त्रता-दिवस पर अमरीकी सरकारने इसे स्वाधीनता दी। यह स्वाधीनता हाथीदाँतकी तरह नकली और निकम्मी है। अमरीकी अधिकारमें आज भी अमरीका-परस्त गुट्ट फिलिपाइन्समें अपनी गुड़ियाका नाच दिखा रहा है। यह फिलिपाइन्स ही है, जिसकी राजधानी मनिलामें कुप्रसिद्ध सीटोकी सन्धिका अमरीकी गर्भपात हुआ है।

द्वितीय महायुद्ध-कालमें प्रशान्त महासागरको, बढ़ते हुए जापानियोंके प्रभावसे बचानेके बहाने अमरीकी सरकारने फिलिपाइन्समें बलपूर्वक

रहना, आवश्यक माना। किन्तु फिलिपाइन्स निवासियोंमेंसे सभी 'विभीषण' नहीं थे, फिलिपाइन्सके क्रान्तिकारी राष्ट्रीय आन्दोलनके विरुद्ध, सभ्य संसारके समक्ष अमरीकी सरकार कोई वहाना न वना सकी तो उसने बिदा ली।

फिलिपाइन्सका क्षेत्रफल १,१५,४०० वर्गमील है। इसकी आवादी में अधिकांश मलय और चीनी लोगोंका मिश्रण है। कुल जनसंख्या लगभग दो करोड़ है। १८९८ तक फिलिपाइन्स स्पेनी साम्राज्यवादियोंकी यन्त्रणासे पीड़ित रहा। आज भी फिलिपाइन्सके वोर्जुआ वर्गोंके रहन-सहन पर स्पेनी भाषा और संस्कृतिका प्रभाव पाया जाता है। सन् १९१६ में अमरीकी गवर्नर जनरलकी अधीनतामें फिलिपाइन्सको होमरूल ऐक्टके अन्तर्गत सीमित स्थानीय-स्वराज्य दिया गया। परन्तु, जब स्वतन्त्रताकी संग्रामशील भावनाओंको अमरीकी गोले-गोलियाँ और करेंसी नोट न दवा सके, तो मजबूर होकर १९३४ में टाइडिंग्ज़ मेक्डफ़ी ऐक्टके मातहत फिलिपाइन्सकी स्वतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ी। १९४६ तक फिलिपाइन्समें अमरीकी हाईकमिश्नर रहा और वहाँकी विदेशनीति और रक्षा विभाग अमरीकी हाथोंमें रहे।

सन् १९४१ में जापानियोंने फिलिपाइन्स स्थित अमरीकियोंको करारी हार दी और देशका अधिकांश भाग अपने अधीन कर लिया। १९४१ तक फिलिपाइन्सकी पार्लियामेंटकी सभी सीटों पर 'पार्तिदो नेशियानालिस्ता कन्सालिदेदो' का अधिकार था। परन्तु १९४६ में वामपक्षियों की जीत हुई और फिलिपाइन्सकी जनताको साँस लेनेका सुअवसर मिला।

जुलाई १९४६ में अमरीकी शिकंजे और पंजेसे मुक्त होनेका जो उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उसके मूलमें कई रहस्य और राज़ हैं। अमरीकाने अपने प्रचारका ढिंढोरा पीटकर संसारको वताया कि हमारी उदारता देखो—हम फिलिपाइन्सको स्वतन्त्र कर रहे हैं। पर १९४६ में स्वतन्त्रताका जो नाटक रचा गया, उसके अन्तर्गत सन्धिकी शर्तोंमें एक धारा है कि ९९ वर्षों तक फिलिपाइन्स अमरीकी अधिकार-सम्वन्धोंकी छायामें रहेगा।

## यूरेशियाके गणराज्य

इनमें सोवियत यूनियनके अन्तर्गत जो राज्य हैं, उनका विशेष महत्त्व है। जैसे, तुर्किस्तान, उज़्बेकिस्तान, ताज़किस्तान। रूसके व्लादिवॅस्तक, याकुत्ज, वेरियल, मँगरेल गणतन्त्र और साइबेरिया एशियामें स्थित हैं। जार्जिया, आर्मेनिया और अज़रवेज़ान गणराज्य ट्रान्सकोकेशियन गणराज्योंके अन्तर्गत सोवियतमें सम्मिलित हैं। यों सोवियत संघ में १८० विविध जाति-समुदाय हैं। जिनकी अपनी आज़ादी विधान-द्वारा सुरक्षित है। समस्त जातियों, जिरगों और जमातोंके लिए अपनी-अपनी भाषाके अपने स्कूल हैं और उनकी स्वतन्त्र संस्कृतिको समुत्साहित किया गया है। इस संघमें सोलह प्रजातंत्र सम्मिलित हैं। मध्य एशियाई प्रजातन्त्रोंकी आवादी विखरी हुई है और अधिकांश लोग राष्ट्र-भाषा रूसीके अतिरिक्त, अपनी मातृभाषाएँ—तुर्की अथवा मंगोली, व्यवहार में लाते हैं। यूरेशियाके रूसी गणराज्य १२ मार्च १९२२ ई० के समझौते-द्वारा स्थापित हुए। सबसे पहले युक्रेन १७ दिसम्बर १९१७ ई० के क्रान्तिकालमें गणतन्त्र घोषित हुआ। मालदेविया और श्वेत रूस क्रमानुसार १९२४ और १९१९ ई० में गणराज्य रूपमें स्थित हुए।

रूसके इन एशियाई गणराज्योंने एक युगसे भी अल्पकालमें अपार प्रगति दिखलाई। उज़्वेक और अन्य राज्य जो आजसे दो सौ वर्ष पूर्व, वहुत पिछड़े हुए और अर्धसभ्य माने जाते थे, यहाँ तक कि भारतमें किसी मूढ़-गँवारको अपशब्द कहनेके लिए "उज़्वक" माध्यमका प्रयोग किया जाता था। परन्तु, आज यही राज्य ज्ञान-विज्ञान और उद्योगकी दिशामें आगे वढ़ रहे हैं।

## पूर्वी एशिया और मध्यपूर्वके मुस्लिम राष्ट्र

अरव देश, ईरान, मिस्र, पाकिस्तान, कोरिया आदि स्वतन्त्र राज्य प्रजातन्त्रीय व्यवस्थाकी स्थापनाके लिए प्रयत्नशील हैं, परन्तु इन देशोंकी पिछड़ी हुई राजनीतिक और सामाजिक स्थितिको

देखते हुए, इस समय यह कहना कठिन है कि ये देश प्रजातन्त्रके पथपर कहाँ तक अग्रसर हो सकेंगे! जैसे पाकिस्तानमें कतिपय स्वार्थ-पोषित नेताओं-द्वारा उपस्थित बाधाओंके कारण विधानका जन्म भी टाल दिया गया था। फिर भी देखना यह है, कि भविष्य इस्लाम और प्रजातन्त्र के गठबन्धनको कहाँ तक स्वीकार करता है? इस्लामकी चुस्त और सीमित रूढ़ियाँ, व्यक्ति और राष्ट्रको धर्मनिरपेक्ष रखनेमें कहाँ तक मुक्त-मना हो सकेंगी! फिर भी भारत, चीन, रूस, युगोस्लाविया और अन्यान्य पड़ोसी देशोंकी प्रगतिशील अवस्थाको देखते हुए हमें मुस्लिम मुल्कोंके प्रजातन्त्रीय सम्बन्धकी ओरसे निराश न होना चाहिए।

देश, काल और वातावरण मध्यएशियाके इस्लामी संस्कृति-सम्पन्न राष्ट्रोंको प्रभावित किये बिना न रहेंगे। विज्ञान उनकी धार्मिक कट्टरता और सीमित श्रद्धापरताको अवश्य मुक्त करेगा!

# विश्वकी कूटनीतिक परम्परा पर एक दृष्टि

आर्य ऋषि-मुनियों और साधकोंने अपने जीवनके आत्मानुभव, तप, ज्ञान और साधना-द्वारा अर्जित विचारोंको सम्पूर्ण स्वतन्त्रताके साथ व्यक्त कर अनेक नीति-ग्रन्थोंकी रचना की है। विदुर-नीति, भीष्मनीति और चाणक्यनीति हमारे देशके सर्वमान्य अमर शास्त्र हैं।

प्रसंगवश यह कह देना अनुचित तो नहीं कि भारत सरकारने नई-दिल्ली स्थित 'डिप्लोमेटिक् ऑक्लाव्' को 'चाणक्यपुरी' का नाम दिया है। २२ सौ वर्ष पूर्व, चन्द्रगुप्त मौर्यको सिंहासनारूढ़ कर आर्य चाणक्य महान्-ने जिस कूटनीति-कुशलताका अद्वितीय परिचय दिया, वह विश्वइतिहासमें अन्यत्र दुर्लभ है। शायद, यही कारण है कि इन दिनों चाणक्यके 'अर्थ-शास्त्र' का रूसी भाषामें अनुवाद किया जा रहा है।

भगवान् कृष्ण तो कूटनीति-कुशल थे ही। महाभारतमें अनेक अवसरों पर उन्होंने अपनी गहन बुद्धिमत्ताका परिचय दिया। राजसूय यज्ञ, कर्ण-अर्जुन-युद्ध और अन्यान्य अवसर उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यह कहना ज़रा कठिन है कि रामने ताड़वृक्षोंके पीछे रहकर बलशाली वालीका वध किया था—इस घटनाको श्रीरामकी कूटनीति-कुशलताके अन्तर्गत समझा जाय या नहीं? किन्तु, यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि उनका दूत अंगद अवश्य सफल कूटनीतिज्ञ था। अंगदने साम, दाम, दण्ड, भेदकी चतुराइयोंका उपयोग कर रावणको समझाया और अन्तमें अपना पैर रोप कर नतमस्तक रावणका दर्प-दलन किया। तुलसीदासने इससे आह्लादित होकर अपने प्रभुके दूतकी महामहिमाको चित्रबद्ध किया है।

पौराणिक कालके पश्चात् भी भारतवर्षमें कूटनीतिज्ञ राजदूतोंकी उत्तम परम्परा रही है। महात्मा चाणक्यने अपनी कूटनीतिक चपलताके

वल नन्दवंशका नाश किया और मगधका राज्य चन्द्रगुप्तको दिलाया। इस ऐतिहासिक घटनाका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इसके उपरान्त चन्द्रगुप्तसे हारकर यूनानी सम्राट् सेल्यूकसने अपना दूत मौर्य सम्राट्की सभाके लिए नियुक्त किया था। मेगस्थनीज़ और सेल्यूकसके विवरण, भारतके विदेशोंसे स्थापित सम्बन्धोंके द्योतक हैं। इसी परम्परामें शाहन्शाह जहाँगीरके दरवारमें झुकते हुए फिरंगी सर टॉमस रोका चित्र किसने नहीं देखा ?

कूटनीतिके प्रति उदासीन रह, धर्मयुद्धके विश्वासी प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रतापसिंहको रणभूमिसे लौटना पड़ा और आजीवन वनान्तरोंमें वास करना पड़ा। यदि प्रताप ऐसा न करते, तो भारतका इतिहास कुछ और ही होता। कूटनीतिको युद्ध कला-रूपमें स्वीकार कर शिवाजी महाराज 'छत्रपति' वने। इसीके वल उन्होंने विशाल मुग़ल साम्राज्यसे लोहा लिया। शिवाजी महाराज-द्वारा इस नीति और पद्धतिकी स्वीकृतिके मूल कारणोंमें भारतवर्षका पिछला इतिहास था। उनके सम्मुख परम प्रतापी महाराज पृथ्वी राज चौहानकी हार थी, अस्सी घावों वाले महाराणा साँगाकी हार थी, जिन्होंने युद्धको सदैव 'धर्मयुद्ध' ही जाना और वैरीको रणक्षेत्रके वाहर वंधु-मित्र माना। लेकिन शत्रुदल तो निरन्तर अनीतियोंका उपयोग करता रहा। और भारतीय इतिहासको दुर्दिन देखने पड़े !

हमारे देशमें अँगरेज़ोंके आगमनके साथ राजनीतिमें कूटनीतिकी गहरी नीवें पड़ीं। क्लाइव, वारिन हेस्टिंग्ज़, डलहौजी आदि लुटेरोंने न्याय और मानवोचित सभ्यताको वलि वनाया। इस स्थलपर उनका विस्तृत वर्णन एक लम्वी कहानी होगी। फिर भी, यह विषय इसलिए विस्मयकारी एवं रोचक होगा कि गोरोंने अपने इस इतिहासको आज तक यथाशक्ति गुप्त रखा और जाते-जाते, स्वतन्त्रता-संग्रामके विरुद्ध किये गये काले कारनामोंके काग़ज़ात भी अंतिम वाइसराय जलवाता गया !

अपने राष्ट्रकी नीतिको समझाने, उसका प्रचार करने और परराष्ट्र-की नीतिको समझने और उससे सावधान या अवगत रहने तथा राष्ट्र विशेष

के रहन-सहन और जीवन सम्बन्धी समस्त अवस्था-व्यवस्था और स्वरूपों-से अपने देशको परिचित रखनेके लिए कूटनीति-विशारद राजदूतोंकी नियुक्तियाँ होती हैं। इन्हीं दूतों-द्वारा देश-विदेशके बीच संधि-समझौते होते हैं और मेल-विग्रहके बादल बनते-बिगड़ते हैं। यदि शंका या शत्रुता हुई तो, ये राजदूत अपने देशके लिए अमुक देशमें विविध षड्यन्त्र, जासूस और जाल रचते हैं।

वास्तवमें कूटनीति, विदेशनीतिका एक ऐसा पहलू है जो उसके कार्य-क्रमको कार्यान्वित करता है। अँग्रेज़ी शब्द 'डिप्लोमेसी' यूनानी शब्द 'डिप्लौन'से बना है। मानव-जातिके विभिन्न समुदायोंमें सम्बन्ध स्थापित करनेकी दृष्टिसे देखा जाय तो कूटनीति इतिहासका प्राचीनतम अंग है। राजदूतका महत्त्व इसीलिए बढ़ जाता है।

प्राचीन भारत और चीनके अतिरिक्त अन्य देशोंमें भी राजदूत प्रथा रही है।

पुरातनकालमें राजदूतोंको बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता था। राजा और शासककी प्रसन्नता पर उसकी नियुक्ति निर्भर थी। अप्रसन्नता पर प्राण संकटमें पड़ जाते थे। प्रायः कुलीनों और सामन्तोंके परिवारोंमेंसे राजदूत चुने जाते थे। आकर्षक व्यक्तित्ववाले नीतिज्ञोंके अतिरिक्त, सभा और समाजकी मर्यादाको जाननेवाले, राजदरबारके अदब-क़ायदोंसे परिचित पुरुष ही इस पदके लिए बुलाये जाते थे। राजदूतका सफल सैनिक होना भी आवश्यक था, क्योंकि उसका जीवन पग-पग पर संकटमें रहता था। मुग़ल और राजपूत कालमें भारतीय राजदरबारोंमें और राजपूत कालमें साधारण वार्तालापजनित उत्तेजनाओंके बीच तलवारें म्यानसे बाहर निकल आती थीं। यूरोपमें तो बात-बात पर द्वन्द्व-युद्धकी ललकारें उठती थीं।

इन सब बातोंसे विचित्र और मनोरंजक बात यह है कि पिछले ज़मानेमें जनता राजदूतों और अन्य विदेशियोंको अशुद्ध और ख़तरनाक मानती थी। परिणाममें, राजदूतोंको अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती थी। वे जो भेंट लाते,

उसे भी आगकी लपटोंसे निकाला जाता था। इस क्रियाके पश्चात् ही उसे शुद्ध माना जाता!

जब राजा जस्टिन द्वितीयने तुर्कीके सुल्तानसे विचार-विमर्श करनेके लिए दूतोंका एक दल भेजा, तब सर्वप्रथम उन बेचारोंकी अग्नि-द्वारा शुद्धि हुई। ऐसे समय जाति और देशके जादूगर एकत्र होते और दूतोंको घेरकर बड़े ज़ोरसे ढोल पीटते, नाचते-कूदते और मन्त्र पढ़ते। उनका विश्वास था कि इससे नवागन्तुक विदेशीका समस्त हानिकर प्रभाव दूर हो जायगा। तातारके खाँके पास आनेवाले दूतोंकी ऐसी ही दुर्गति होती थी।

अन्धविश्वासोंके इस प्रतिनिधित्वकी यहीं समाप्ति नहीं होती, वरन् आजसे केवल चार सौ वर्ष पूर्व, वेनिसके प्रजातन्त्रने यह घोषणा कर दी थी कि जो वेनिसवासी किसी विदेशी महिलासे यौन-सम्बन्ध रखेगा, उसे निर्वासन या मृत्युदण्ड दिया जायगा। किंतु, ज्यों-ज्यों हम पौराणिकसे ऐतिहासिक युगकी ओर आते हैं, त्यों-त्यों राजदूतोंका संसार अधिक सभ्य और संस्कृत होता जाता है। समय पाकर जैसे-जैसे देश देशान्तरोंकी सीमाएँ टूटती गई और लोगोंको मालूम हो गया कि हमारे देशमें ही संसारकी इति नहीं हो जाती; और भी देश हैं, जो हमसे अधिक प्राचीन और सुसभ्य हैं, तो, ऐसे देशोंको झुककर चलना पड़ा और विदेशोंसे आनेवाले मुक्त पवनके लिए उन्हें अपने अवरुद्ध द्वार खोल देने पड़े।

भारतके बाद, दूत-प्रथाको सबसे पहले प्रचलित करनेवाले देशोंमें यूनान आता है। यूनानियोंमें दूत-पद पारम्परिक पैतृक अधिकारमें सम्मिलित था। लगभग २५०० वर्ष पूर्व यानी ईसा मसीहसे पाँच सौ वर्ष पूर्व यूनानने बाक़ायदा राजदूत चुनकर विदशोंमें भेजे थे।

यूनानी शासक इस पदके लिए उन्हीं व्यक्तियोंको चुनते थे, जो उत्तम अभिभाषक हों, सुन्दर और सुदृढ़ देहवाले हों और जिनकी देशभक्तिका भरोसा किया जा सकता हो!

तत्कालीन यूनानमें एक विचित्र बात यह थी कि नियुक्त राजदूतको किसी देशका भेद लेने, देश विशेषमें प्रचार करने अथवा सन्धि-विसन्धि करने

नहीं भेजा जाता था, न उसे अपने शासकको रिपोर्ट या सूचनाएँ ही भेजनी पड़ती थीं, वरन् केवल लच्छेदार भाषण देना उसका प्रमुख कार्य था। स्थान-स्थान पर अपने देश और नरेशका गुण-गान करना दूत महोदयका कर्त्तव्य समझा जाता था!

यूनानियोंसे रोमन लोगोंने इस प्रथाको पाया। इससे पूर्व, रोमन लोग, शताब्दियोंके अपने लम्बे शासनमें पूर्णतया असभ्य एवं अविकसित तरीक़ों पर चलते थे। वे किसी प्रकारका वाक्य-व्यवहार न कर, असि-व्यवहारका आश्रय लेते थे।

रोमन साम्राज्यके अन्तिम चरणोंमें बाइज़ेन्टाइन सम्राटोंने यह महसूस किया कि दूतोंका होना आवश्यक है। इस आवश्यकताके मूलमें तीन प्रधान कारण थे। एक तो यह कि रोमन लोग बर्बर जातियोंको निर्बल बनाना चाहते थे और प्रतिस्पर्द्धामें उन्हें पीछे छोड़ जाना चाहते थे। दूसरा कारण यह था कि वे सीमान्त-प्रदेशीय जंगली जातियोंको साम और दाम-द्वारा मित्र बना लेना चाहते थे, ताकि सीमा पर सदैव शान्ति रहे। तीसरा कारण था धर्म। नास्तिक काफ़िरोंको वे ईसाई बनाकर अपने धर्म और राज्य-को मजबूत बनाना चाहते थे।

राजदूत-प्रथाका विकास धीरे-धीरे हुआ और पन्द्रहवीं शताब्दीम जाकर योरपके कई देशोंने स्थायी दूतोंकी नियुक्तिके महत्त्वको जाना। आम तौर पर, इसी समय शासकोंने कूटनीति-कलाकी अहमियत मानी। तथापि, राजदूतोंके पद, मर्यादा, नियम, नियुक्ति आदि विषयक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते १८१५ की वियेना-काँग्रेसके पश्चात् ही हुए।

ब्रिटेनमें भी १७९६ से पूर्व, 'कूटनीति' और 'कूटनीतिज्ञ' शब्द अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और विदेश-व्यवस्थाके अर्थोंमें कभी प्रयुक्त नहीं हुए। वहाँ सबसे पहले एडमन्ड बर्क द्वारा ये शब्द, उपरोक्त आशयके लिए प्रयुक्त हुए।

अन्धयुगीय और सामन्तकालीन योरपमें तो अवसर ही नहीं था कि व्यवस्थित रूपमें देश-विदेशोंमें किसी प्रकारके सम्बन्धों पर चर्चासे सम-झौते हों। किन्तु, आधुनिक कूटनीतिज्ञताकी स्थापना योरप में, सर्वप्रथम

इटलीमें हुई। इटलीको ही आज-जैसी दूत-प्रथा सवसे पहले अपनानेका गौरव प्राप्त है, जव कि १३ वीं और १४ वीं शताव्दीमें वहाँ इसका विकास हुआ। इटलीका नगर फ्लोरेन्स अपने अद्वितीय राजदूत दाँते, पेतरार्क और वोसासियो पर गर्व कर सकता है। वादमें जाकर इसी नगरने मेकिया-वेली जैसा रत्न प्रदान किया!

फिर भी, निश्चयपूर्वक यह जान लेना तो कठिन ही है कि अस्थायी दूतों और साधारण संदेशवाहकोंके पश्चात् स्थायी दूतों और कूटनीतिज्ञों की नियुक्तियाँ कवसे होने लगीं ? और दूतावासके भवन सवसे पहले कहाँ वनाये गये ?

योरपमें, सर्वप्रथम नियुक्त स्थायी दूत-मण्डलका उल्लेख इटलीके कुछ पत्रोंमें मिलता है। जव कि, जिनेवामें १४५५ ई० में मिलानके ड्यूक फ्रांसिस्को फोर्जाने दूतावासकी स्थापना की और दूत भेजे। इसके पाँच वर्ष पश्चात् सेवॉयके ड्यूकने उसवियो मार्गेरियाको रोममें अपना स्थायी प्रतिनिधि वनाकर भेजा।

इस प्रकारके प्रतिनिधि और वकील तो भारतवर्षमें भी, मुग़ल-कालमें दिल्लीमें रहते थे। जो विभिन्न मनसवदारों, राजाओं और महाराजाओंका प्रतिनिधित्व करते थे।

सन् १४९६ में वेनिसकी ओरसे लन्दनमें रहनेवाले दो व्यवसायी व्यक्तियोंको प्रतिनिधित्व दिया गया। किन्तु, उन्हें प्रतिनिधि वनानेका कारण अजीव था—कारण यह था कि ब्रिटेन जाने-आनेका मार्ग कठिनाइयों-से भरपूर था।

इसके कुछ वर्ष पश्चात्, लन्दन और पेरिसकी राजसभाओंमें इटालियन राज्योंके स्थायी दूत भेजे गये। इन्हीं स्थानोंमें दूतावास भी स्थापित किये गये। अन्य राष्ट्रोंने इस उदाहरणकी नकल की और सन् १५१९ में सर थॉमस वोलेन और डॉ० वेस्ट स्थायी ब्रिटिश राजदूत वनाकर पेरिस भेजे गये।

सामन्तकालीन युगमें, चाहे वह युग देशमें रहा हो या विदेशमें, यह

प्रथा रही है कि राजदूत देशका नहीं, वरन् राजाका प्रतिनिधित्व करते थे। कारण यह था कि उस समय राजा ही सर्वोच्च शासक, सत्ता और सरकार होता था। उसे 'देवानां प्रिय' कहा जाता। 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो' कहकर लोग उसे पूजते थे! उसके अधिकार 'दैवी' (डिवाइन-राइट्स) थे! और उससे विद्रोह करना साधारण शक्तिका काम नहीं था। साधारण जनता तो अपने राज-परिवारको देशके समस्त धन, जन और जीवनका स्वामी समझती थी और व्यावहारिक रूपमें यही होता था। परन्तु १८१५ के पश्चात् कूटनीतिज्ञ राजदूतों पर स्थापित राजकीय छाया तिरोहित होने लगी। राजाका प्रभाव मंद पड़ने लगा और शक्तिका केन्द्र राजदरबारसे हटकर, मन्त्रि-मंडलकी ओर बढ़ आया।

'डिप्लोमेसी एंड पीस' नामक प्रसिद्ध पुस्तकका लेखक कहता है—"योरप में, कूटनीतिक पद्धतिके विकासकालको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रथम—ईसाके ४७६ वें सन् से १४७५ वें साल तक। द्वितीय—१४७६ से १९१४ तक। तृतीय—प्रथम महायुद्धके बादसे। वास्तवमें, इस कालका श्रीगणेश १९२० में अमरीकाके प्रेसिडेन्ट विल्सन-द्वारा हुआ।

विद्वानोंने कूटनीतिके चार भेद बताये हैं। प्राचीन, अर्वाचीन, गोप्य और प्रकट। प्रकट कूटनीतिको जनतान्त्रिक कूटनीति भी कहते हैं। 'प्राचीन' और 'नई या अर्वाचीन' नीतिके इन दो शब्दोंका प्रयोग, आजसे कई वर्ष पूर्व रूस, ब्रिटेन और फ्रान्स-द्वारा होता आ रहा है। विश्व युद्धकी घटाएँ बरस जाने पर जब शान्तिका वातावरण बना तो १९१९ में दुनियाके लगभग ५० देशोंके बीच नये सम्बन्ध स्थापित हुए। स्थापनाकी इस विधिको 'नई नीति'का नाम दिया गया।

वास्तवमें, प्राचीन कूटनीति ही 'गोप्यनीति' है। जिसके सभी कार्य सर्वथा गुप्त रखे जाते थे और स्वार्थके लिए आदर्श और नीति गिरगिटकी तरह, रंग बदलते थे! हिटलर और मुसोलिनी इसी प्रकारकी नीतिके खिलाड़ी थे।

इतिहासमें अनेक उदाहरण मिलते हैं कि राजाओंकी सनकने कैसे-कैसे महाभारत रचे हैं! विदेशनीति और उसके अन्तर्गत आनेवाले सभी कार्य राजाके हाथमें रहते थे। यह उसकी मर्ज़ी पर था कि वह चाहे जिससे युद्ध छेड़ दे, चाहे जिससे समझौता कर ले। यद्यपि परिस्थितियाँ भी प्रमुख भाग लेती थीं पर राजाओंकी अपनी स्थिति और गति, मति अधिकांशमें अन्तिम, निर्णायक शक्ति थी।

उदाहरण रूपसे देखिए—पृथ्वीराज चौहानने देशके दुश्मन मुहम्मद ग़ोरी को १७ वार हराकर क्षमा कर दिया। वार वार युद्ध, शान्ति और वार वार क्षमा करनेका महाराजको क्या हक़ था? फ्रान्सका चौदहवाँ लुई, कैथेराइन द्वितीय और फ्रेडरिक महान् भी मनमौजी महाराज थे। ऐसी अवस्थामें कूटनीति और राजनीतिके सारे व्यवहार-सम्बन्ध शासक या राजाके निजी व्यवहार-सम्बन्ध हो जाते हैं।

अतएव नीतिका उद्गम-स्रोत शासककी निजी सम्पदा होनेसे, परिणाम यह निकलता रहा कि राजदूत प्रायः राजाके दरबारियोंको रिश्वतें और प्रलोभन देकर सुविधाएँ एवं उच्च पद प्राप्त करते रहे। ज़रा-सी बुराई होने पर वे निकाल दिये जाते थे अथवा शासकके किसी भी प्रकार अकारण ही अप्रसन्न होने पर उनका जीवन संकटमें पड़ जाया करता था।

यह अवस्था पूरी उन्नीसवीं सदी तक रही, वरन् १९१८ तक भी यही दशा रही। जर्मनीका सम्राट् द्वितीय विलियम तो सदैव यही समझता था कि वह स्वयं ही अपना विदेश-सचिव है। विलियम स्वयं सारे पत्रोंके उत्तर लिखवाता, नियुक्तियाँ करता और आदेश देता। इसके प्रमाण-में हम रूसके सम्राट्से किया गया उसका पत्र-व्यवहार पेश कर सकते हैं; जो कुछ ही समय पूर्व, सोवियत सरकारने प्रकाशित किया है। इससे हम जान सकते हैं कि विलियम द्वितीयने अपने आप पर कितनी ज़िम्मे-दारियाँ लाद ली थीं। यही नहीं, वह और भी आगे बढ़ा और सन् १९०५ ई० की जुलाईमें फिनलैण्डके 'जोरको' नामक स्थानमें उसने सम्राट् ज़ार-से मुलाक़ात करनेकी व्यवस्था की। और नावके एक कैबिनमें बैठे बैठे ही

दोनों—चचा भतीजोंने रूस-जर्मन मित्रताकी सन्धि कर ली। दोनों खुश-खुश घर लौट गये! किन्तु, जब प्रत्येक अपनी-अपनी राजधानीमें पहुँचा तो, उसके मन्त्रियोंने, सन्धिका अनुमोदन करनेसे, इन्कार कर दिया! मन्त्रियोंने इस समझौतेको अवैध और अनुचित घोषित किया!

ब्रिटेनके सप्तम अँडवर्डको कौन नहीं जानता? आप भी दैवी-अधिकारोंके लोलुप थे। आपने भी विदेशी मामलोंमें बड़े-बड़े रोड़े अटकाये और राजदूतोंको अपने निजी प्रतिनिधि बनाने और माननेका प्रयत्न किया। परन्तु अँडवर्ड सप्तम विचक्षण बुद्धिका कुशल, कुटिल, राजनीतिज्ञ था। और उसने विधानका कभी उल्लंघन नहीं किया—यह, उसकी बुद्धि और दूरदर्शिताका परिचायक है।

कूटनीतिका कार्य है—व्यावहारिक चर्चा-द्वारा दो स्वतन्त्र राष्ट्रोंके पारस्परिक सम्बन्धोंकी व्यवस्था करना। कूटनीतिज्ञ-विशेष अपने देशकी सार्वभौमिक सत्ताका सेवक है। प्रजातान्त्रिक देशोंमें इस सार्वभौम सत्ताका प्रतिनिधित्व, सर्वप्रथम तो लोकसभाका बहुमत करता है। दूसरी बारी देशकी सरकार अथवा मन्त्रि-मण्डलकी है, जिन्हें बहुमत—शासनके अधिकार देता है, अतः प्रजातान्त्रिक कूटनीतिकी मूलभूत व्याख्याको एक विद्वान्के मतानुसार इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं- "कूटनीतिक चूँकि नौकर है, अतः विदेश-मन्त्रीके शासनमें है। विदेशमन्त्री चूँकि मन्त्रि-मण्डलका सदस्य है, अतः लोकसभाके बहुमत-द्वारा शासित है। और लोकसभा चूँकि प्रतिनिध्यात्मक सभा है, अतः वह सार्वभौम जनताके मतके शासनान्तर्गत है।"

प्रजातन्त्रीय व्यवस्था जहाँ अधिक उत्तरदायी है, वहाँ उसकी विशाल काया-माया प्रत्येक कार्यके संचालनमें अतीव एवं अनावश्यक समय नष्ट करती है। जहाँ एकतन्त्रीय शासनमें अनेक बुराइयाँ हैं वहाँ प्रजातन्त्रीय व्यवस्थाकी अपनी कमज़ोरियाँ भी हैं। तानाशाह अपना निर्णय तुरन्त देते हैं। उनके आदेशोंका पालन भी तत्क्षण होता है, किन्तु, प्रजातन्त्र-की छायामें सब चैनकी बंसरी बजाते हैं! फिर भी, हमारे इन शब्दोंका

यह आशय तो नहीं कि हम एकतन्त्रका स्वागत कर, उसका अभिषेक करना चाहते हैं।

जब राजनीतिका नियन्त्रण एक निरंकुश शासक (व्यक्ति) के हाथोंसे निकलकर, जनता या उसके किसी वर्गके हाथोंमें आता है, तो यह भावनाएँ विकसित होकर प्रचार पाती हैं कि उस वर्ग या जनताकी सरकार-द्वारा संचालित एवं निर्देशित कोई भी कार्य उसके अपने सम्मान व प्रतिष्ठाको लेकर चल रहा है। सरकारका अच्छा या बुरा काम—उस वर्ग या जनताकी अच्छाई-बुराई कहलायगी। फिर भी, विश्वकी अधिकांश जनतामें अभी यह ज्वलित, संजीवनी, चेतना नहीं आ पाई है कि वही (जनता) सही और समर्थ शासक है। सन्धि-विग्रह या सुराज्य-कुराज्यकी जन्मदात्री भी वही है। उसे यह समझ लेना है कि युद्ध क्यों हो रहा है और शान्ति, जय-पराजय आदिके क्या कारण हैं? इस चेतनाको जन-जनमें लानेके लिए लोक-शिक्षण-प्रचुरता चाहिए। सच्ची घटनाओं, नीतियों और संवादोंका प्रचार-प्रसार होना चाहिए और सबसे महत्त्वपूर्ण बात है—व्यक्ति और समाजके अधिकारोंकी संचेतना जागृत करना और उसका यथातथ्य, उचित उपयोग करना!

जन-समूहका व्यक्ति-व्यक्ति बिखरा होता है और अपने निजी अनुभवोंके आधार पर अपनी मत-रचना करता है। और दूसरोंसे शीघ्र प्रभावित हो जाता है। यदि हमारे मद्यनिषेधक प्रान्तोंमें किसी अमरीकनकी पूरी आवभगत नहीं होती और उसे तत्काल शराब नहीं मिल जाती है, तो सहज स्वाभाविक है कि वह भारतवासियोंके लिए एक भ्रमपूर्ण धारणा बना ले। इसी प्रकार एक भारतीय जब फ्रान्स देशमें जाता है और सौभाग्यसे पेरिसमें उसका अच्छा स्वागत होता है तो वह प्रभावित होकर फ्रेन्च लोगोंकी उदारता और अतिथिसेवाका प्रशंसक बन जाता है। इसी प्रकार व्यक्तिके अपने-अपने अनुभव और मानसिक ह्रास-विकासके ज्वार-भार पर देश-विदेशोंके लिए लोकमत बनता-बिगड़ता चला जाता है!

अब जब लोकमतको अपने पक्षमें या विपक्षमें बनाने-बिगाड़नेका प्रश्न

उठता है तो, सूचना, प्रसार और प्रचारके साधनोंका आश्रय लिया जाता है और उनके आधार पर जनतामें इच्छित प्रचार किया जाता है। इसीलिए न, पत्रों पर अंकुश है और रेडियो सरकारकी पूंजी है। सोविय के एक अधिकृत व्यक्तिका मत रहा है कि दस अंशोंमेंसे एक अंश काम और नौ अंश प्रचार आवश्यक है। इससे हम प्रचार —उल्टे-सुल्टे प्रचारका महत्त्व समझ सकते हैं। आज नारा लगाया जाता है कि देश विशेष हमारा साथी और मित्र है (मित्र है इसलिए महान् है)। कल उसी देशको शत्रु और लुटेरा सिद्ध किया जाता है। खबरें छापी जाती हैं, चित्र प्रकाशित किये जाते हैं और वहाँकी किसी भी घटनाको जनताके लिए घातक-पातक बताया जाता है। उसके विरोधमें सभाएँ की जाती हैं, भाषण दिये जाते हैं और जिन सभाओंमें मुश्किलसे दो-चार श्रोता होते हैं, उन्हींको लाखोंकी भीड़ कहा जाता है। सूचना-संवाद, रिपोर्ट-बयानके बीच-बीच में— 'हँसी', 'हियर-हियर' और 'तालियाँ' शब्द डाल दिये जाते हैं! यह सब क्या है?

उपरोक्त कथन सूचना-प्रसारके दुरुपयोगात्मक अर्थोंके विरुद्ध हैं। प्रचारकी अपनी शक्ति, सीमा, साधन और लाभ भी हैं।

ब्रिटेनके मन्त्री केनि और पामर्स्टनका शिक्षित लोकमत पर प्रबल विश्वास था और फलतः १९ वीं सदीके उत्तरार्द्धमें 'टाइम्स' जैसे पत्रने लोकमत-निर्माणमें पर्याप्त प्रभाव डाला। इटलीके निर्माता केउर और जर्मनीके विधाता बिस्मार्क प्रेसकी शक्तिको मानते थे। हाँ, उन्होंने प्रेस, प्रचारका प्रयोग गुप्त स्वार्थों और छद्मनीतिके लिए ही अधिक किया। परन्तु दिन बदलनेके साथ ज़माना बदल गया है, और ज़माना बदलनेके साथ दुनिया बदल गई है और दुनिया बदलनेके साथ आज कलकी समस्याएँ बदल गई हैं एकतन्त्र राज्योंमें राज्य-द्वारा नियन्त्रित प्रेस मात्र कठपुतली होता है और प्रोपेगेंडाका साधन सिद्ध होता है। लोकतन्त्र देशोंमें उसका सम्बन्ध सूचना और शिक्षाके प्रसरणसे है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युगमें शासक सत्ता और शासित

जनताके बीच सत्य सूचनाओंका कितना बड़ा महत्त्व है ! बाहरी सूचनाओं-को विदेशोंसे अपने देशमें भेजने और विदेशोंमें अपने देशके समाचारों .'ा प्रचार करनेके लिए सफल, नीतिमन्त कूटनीतिज्ञ की आवश्यकता होती है। ऐसा कूटनीतिज्ञ अपने देशके हितोंको ध्यानमें रखता हुआ, समयानुसार अपनी सरकार और जनताको आवश्यक सूचनाओंसे अवगत रखता है और विदेशोंमें प्रतिपल होनेवाली प्रत्येक घटना और परिस्थितिका अत्यन्त सावधानीसे अध्ययन करता है।

किसी राजदूतका कूटनीतिज्ञ होना कहाँ तक ज़रूरी है, यह बताना सरल नहीं है, किन्तु यह स्पष्ट होता जा रहा है कि दिन-प्रतिदिन संसारकी समस्त जनता युद्ध और हिंसाके दावानलको भड़कानेवाले युद्ध जीवियोंके विरुद्ध होती जा रही है। वह शान्ति और प्रेम रहना चाहती है। स्नेह सम्बन्ध और समान व्यवहार चाहती है। और जब जनताकी आवश्यकताएँ उपरोक्त कथनके अनुरूप हैं, तो राजनीतियोंके खिलाड़ियोंको भी विश्व-जनताकी आकांक्षाओंके अनुसार अपने वर्त्तनमें परिवर्त्तन लाना पड़ेगा !

शान्ति और सन्मार्गके लिए कूटनीतिकी आवश्यकता नहीं। राष्ट्रों-के अपने स्वार्थ होते हैं, अपनी कमज़ोरियाँ और अपनी ज़रूरतें होती हैं, जिन्हें पूर्ण किये विना वे जीवित तो रह सकते हैं पर उन्हें भय रहता है कि जी नहीं सकते। अपने इसी उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिए सत्-असत् प्रयासोंको वैध सिद्ध करनेका नाटक करते हैं। शायद, वे नहीं जानते कि अशिव साधनोंसे प्राप्त उद्देश्य—प्रतिफल अशिव ही होंगे। विष पीकर जीवन की चाह रखना भ्रमितजतित्वका द्योतक है। इस कथनसे भी वर्त्तमान कूटनीतिक स्थिति पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता और सहज ही उसके पक्ष या विपक्षमें इसलिए मत-विमत नहीं बनाया जा सकता कि काल और परिस्थितियाँ ही आवश्यकतानुसार वस्तु, नीति, रीति और गतिको मूल्य, महत्त्व और जीवनदान देती हैं !

●

# एशिया पर पाक-अमरीकी पैक्टका प्रभाव

एक दिन पार्लियामेण्टमें पण्डित नेहरूने कहा—'एशिया पश्चिमी राजनीतिके लिए खेलका मैदान नहीं है।' लेकिन, पश्चिमने इसे अनसुना कर दिया। मालेंकोवने कहा—'पुराना एशिया पुराने ज़मानेकी कहानी है।' लेकिन, पश्चिमने इसे स्वीकार नहीं किया, इस पर ध्यान न दिया।

यही नहीं, तत्काल ही अमरीकाने इन नेताओंके कथनका मखौल उड़ाया। उसने पाकिस्तानको हथिया कर उसे अपना जंगी अड्डा बना देनेकी सफलता पर सरे आम मुहर लगाई!

द्वितीय महायुद्धकी समाप्ति पर साम्राज्यवादके संरक्षकोंने 'शीतयुद्ध' (कोल्डवार) को जन्म दिया और इस प्रकार विश्वके अधिकाधिक भूभागको भयग्रस्त कर, अपने प्रभावमें लानेका अन्तहीन प्रयत्न किया।

पश्चिमके कई राष्ट्रोंका स्थायित्व और उनके अर्थमय भौतिक जीवनका अस्तित्व शस्त्रास्त्रोंके उत्पादन, विक्रय और विदेशी-व्यापारपर निर्भर है। इन उद्देश्योंकी पूर्त्ति-हेतु उन्हें नये नये प्रदेश और प्रभावक्षेत्र चाहिए, जहाँ वे मनमाने ढंगसे सौदागरके बहुरूपिये वेशमें शासन करें और उस देश-विशेषकी आन्तरिक राजनीतिके सूत्रधार बनें। उसके अर्थ, सत्ता और समर-संरक्षणके स्वामी बनें। ये राष्ट्र अपने ही समान समबलधारी राष्ट्रके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते। 'सह-अस्तित्व'के शान्तिप्रिय सूत्र पर उनका विश्वास नहीं। वे तो निरन्तर षड्यन्त्र रचते हैं कि किस प्रकार सामने खड़ी सत्ता या शक्तिका सहज ही सर्वनाश कर सकें।

और संसारमें यह जो युद्धभय और विनाशभयकी आँधी साम्राज्यवादियोंने प्रवाहित की है उसे रोकना आवश्यक है। भारत इस ओर समस्त शक्तितया प्रयत्नशील है। अमरीकाके प्रसिद्ध पत्रकार नार्मन कज़िन्स अपने पत्रके लिए पण्डित नेहरूसे 'इण्टरव्यू' लेकर लौटने लगे तो

अमरीका के राष्ट्रपति श्री आइज़न हावर

उन्होंने पूछा—'पिछली वारकी तरह इस वार भी क्या आप अमरीकनोंके लिए कोई संदेश देंगे?'

इसके उत्तरमें पण्डितजीने जो कुछ कहा, उसके अन्तमें यह शब्द थे कि निश्चय ही अमरीका चाहे तो संसारमें 'भय' और 'घृणा' से रहित वातावरणका निर्माण हो सकता है। और विश्वमें पारस्परिक सद्भावना और सहयोगकी वह कर्मण्यता उत्पन्न हो सकती है जिसे पाकर लोग 'जीयो और जीने दो'के शान्तिमय प्रस्तावको स्वीकार करेंगे।

लेकिन, यह तो अमरीकी जनता ही वता सकती है कि क्या उसका अमरीका भय और घृणाके विरुद्ध वातावरण वना रहा है? यदि वह निर्भयता और प्रेमका प्रसार चाहता है तो पाक-अमरीकी पैक्ट क्या वला है?

साम्राज्य विपक्षीको, शान्तिको, सहयोगको नहीं चाहता। अपने स्वार्थोंकी पूर्तिके लिए वह राष्ट्रोंको एक दूसरके विरुद्ध खड़ा करता है और उनके हाथमें वम और वन्दूक देकर उन्हें उकसाता रहता है। उनके विनाशपर उनकी भस्मसे अपना घरौंदा वनाना चाहता है।

पाक-अमरीकी पैक्ट एशियामें अमरीका-द्वारा आयोजित एक तान्त्रिक अनुष्ठान है। मेघनादने लक्ष्मणसे लड़नेके पूर्व जिस प्रकार यज्ञ किया था, उसी प्रकार अमरीका विपक्षियोंको ललकारनेसे पहले, पाक-प्रदेशमें यज्ञ-कुण्डकी रचना कर रहा है!

अमरीका पाकिस्तानके विभिन्न क्षेत्रोंको अपने अधीन रख, सैनिक अड्डे वनाकर अस्त्र-शस्त्रीय सहायता दे रहा है।

जिस प्रकार 'वर' प्राप्तिके पूर्व वलिदान देकर देवको प्रसन्न किया जाता है, उसी प्रकार पाकिस्तान अपने राजनीतिकदलों पर पावंदी लगाकर, अपने यहाँके राजदूतोंकी गति सीमित कर, पश्चिम-विरोधी समस्त तत्त्वोंका सामूहिक सर्वान्तकर अमरीका रूपी देवको रिझा रहा है! और इस प्रकार जो 'आयुध' वह प्राप्त करेगा, उसकी उद्दाम एवं सर्वसंहारिणी प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखना किसके लिए संभव हो सकेगा? क्योंकि पाकिस्तानने

काश्मीर पर हमला किया। कच्छ पर किया और हाल ही में आसामकी सीमा पर भी छेड़छाड़ की है!

पाकिस्तानको अधिकार है कि वह ऐसी सहायताओंके लिए विदेशी राजदरबारोंमें अनुनय-विनय करे और अपनी आज़ादी गिरवी रख दे। परन्तु, इसके साथ ही यह प्रश्न उठते हैं कि भौगोलिक एवं राजनीतिक परिस्थितियोंको देखते हुए, क्या पाकिस्तानकी सरगर्मियाँ उचित हैं? केवल सीमाएँ बँट जानेसे ही एक विस्तृत भूखण्डके हित-अहित भी क्या बँटकर भिन्न हो जाते हैं? एक विशाल भवनमें अनेक कमरे हैं और उनमें-से हरेकका स्वामित्व अलग-अलग व्यक्तियोंके अधिकारमें है, इनमेंसे एक मदमत्त व्यक्ति यदि अपने कमरेमें आग लगाना चाहे या पूरे भवनको वन्धक रखना चाहे तो क्या वह ऐसा करनेका अधिकारी है? पाकिस्तान यही करने जा रहा है? जिस प्रकार व्यक्ति अपनी मर्यादामें स्वतन्त्र होते हुए भी, समाजका अंग है, उसी प्रकार राष्ट्र अपनी सीमाओंमें स्वतन्त्र होने पर भी अन्यान्य राष्ट्रोंका अभिन्न अंग है। आजका युग और जीवन, आजके इतिहास और अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वके सार्वभौम अधिकारको चुनौती नहीं देता, परन्तु उसे मर्यादामें रखनेकी माँग अवश्य करता है!

पाकिस्तान और अमरीका भारतसे कहते हैं कि हमारे आन्तरिक मामलोंमें चुप रहिये। लेकिन, आज यदि अमरीकाका पड़ोसी कनाडा अपनी धरती रूसको वेच दे, वहाँ रूसी अड्डे स्थापित हों, और रूसी सेनाएँ परेड करें तो, क्या अमरीका इसे चुपचाप वर्दाश्त करेगा? क्या ऐसी अवस्थामें भी वह स्वतन्त्र राष्ट्र कनाडाके कथित 'सार्वभौम अधिकार'का सम्मान करेगा? यदि पाकिस्तान रूपी कनाडा अपने भवनमें होली जलाये, तो क्या भारत रूपी अमरीका चुप रहेगा? सार्वभौमका यह अर्थ तो नहीं कि लाख-लाख मनुष्योंकी हत्याके षड्यन्त्र रचे जायँ और विश्व-शान्तिको भंग करनेके लिए अविश्रान्त प्रयत्न किये जायँ!

एशिया और विशेषकर भारतकी भोली निरीह जनताने अमरीकाके प्रति कोई अपराव नहीं किया, फिर भी अमरीकाने उसे समर-कुण्डमें स्वाहा

करनेकी यह कुटिल चाल चली है। किन्तु, अमरीका और पश्चिमको यह समझ लेना चाहिए कि एशिया और भारत ऐसी आहुतियोंके प्रति सर्वथा सावधान हैं। १५ नवम्बर १९५३को भारतीय संसद्‌में जवाहरलाल नेहरूने वतलाया कि हमारा सम्बन्ध केवल इसी बातसे है कि पाक-अमरीकी पैक्टके क्या परिणाम निकलते हैं! इसी दृष्टिसे हम पैक्टको सम्पूर्णतम सावधानीसे समझ रहे हैं।

पैक्टके विरुद्ध न केवल भारतीय जनताने समवेत स्वरमें अपना विरोध व्यक्त किया है, वरन् कुछ समझदार अमरीकनोंने भी भारतके प्रति सहानुभूति प्रकट की है। सिनेटर फुलब्राइटने अपनी कटुतम आलोचनामें कहा—"मेरी रायमें, इस समय पाकिस्तानकी सशस्त्र सहायता करना दुर्भाग्यपूर्ण त्रुटि है। न तो भारत और न पाकिस्तान ही साम्यवादसे शासित हैं। और यह जानते हुए भी कि दोनों देशोंके बीच वैमनस्य है, किसी एकका पक्ष लेना और उसे सैनिक सहायता देना अमरीकी राजनीतिज्ञोंकी भारी भूल, अदूरदर्शिता और असावधानी प्रकट करता है।"

इसके साथ, वर्मा, इण्डोनेशिया और मिस्रने इसका प्रबल विरोध किया। मिस्रके महासेनापति मेजर जनरल अब्देल हकीम आमेरने एक अखवारी भेंटमें वतलाया था कि "पाकिस्तानने सहायता लेनेसे पहले यह नहीं सोचा है कि एशियाके अन्य देशों और खासकर अरब-राष्ट्रोंपर इस पैक्टका क्या प्रभाव पड़ता है? यदि अरब जनताका सम्मान और गौरव जीवित रखना है तो एक मिली-जुली नीतिका अनुसरण करना आवश्यक है। मुझे तो इस पैक्टकी सचाईपर विश्वास ही नहीं होता!"

वर्माके लोकप्रिय दैनिक 'द वर्मन' ने अपने सम्पादकीयमें पाकिस्तान और अमरीक की तीव्रतम आलोचना करते हुए लिखा—'हम पाकिस्तानको चेतावनी देते हैं कि इस पैक्टके द्वारा एक महाशक्तिसे इस प्रकार गठबन्धन कर लेनेसे वह अपने भविष्यको अन्धकारके गहरे गर्त्तमें फेंक रहा है। और जब असली मौक़ा आयगा, पाकिस्तान पायगा कि उसके दोस्त नौ दो ग्यारह हो गये हैं और वह अकेला रह गया है!' आगे

चल कर सम्पादक पुनः ज़ोरदार शब्दोंमें लिखता है—'हमारा वर्मा एक छोटा-सा देश है। उसकी सीमा पर चीन, भारत और पाकिस्तान जैसे देश हैं। वर्मा चाहता है कि वह दोनों वैरवंत महाशक्तियोंके हंगामेसे दूर रहे। लेकिन, यदि पाकिस्तान एक महाशक्तिसे वँध जाता है तो वर्माकी निश्चिन्तता चली जाती है और उसे सचेत हो जाना पड़ता है। इस प्रकार यदि एक वड़ा पड़ सी पाकिस्तान अमरीकाको, जो एक महाशक्ति है और पश्चिमी पक्षका नेता है, अपना परित्राता-संरक्षक वना लेता है और पाकिस्तान वाशिंग्टनमें निर्धारित नीति पर अमरीकाके इशारे पर चलता है, अपने पड़ोसियोंके सम्वन्ध विदेशियोंके सूत्र-संकेत पर वनाता, विगाड़ता है, तो वर्माका सशंकित रहना सहज सम्भाव्य है।'—वेचारा वर्मा!

एशियाकी जिस भूमिको भारत, अफ़ग़ानिस्तान, वर्मा और इण्डोनेशिया मिलकर परिश्रमपूर्वक 'शान्ति-क्षेत्र' वनाना चाहते हैं, उसे पाकिस्तानने अपने इस पैक्ट-द्वारा सहज ही 'युद्ध-क्षेत्र' वनानेका कुकर्म किया है।

विगत अनेक वर्षोंकी अपेक्षा भारत और एशियाकी स तन्त्रता आज सवसे अधिक संकटमें है। पाक-अमरीकी-पैक्ट उस संकट और सर्वनाशका वाहन है। पैक्टके अनेक उद्देश्य हैं। अमरीका एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना, पाकके सीमान्त पर चीन और रूसको खदेड़ना, एशियाई धरती पर काला खून वहाना, शीत युद्धके द्वारा भय फैलाकर शस्त्रास्त्र-व्यवसाय वढ़ाना चाहता है। अमरीकाकी आँखें एशियाके गगनांगनमें उदित 'भास्कर' भारत और 'चन्द्र' चीनकी चमकसे चकित, चौंधिया रही हैं। वह इन दोनों देशोंके प्रचण्ड प्रभावको क्षत-विक्षत, नेस्तनावूद कर देना चाहता है। पाक-प्रदेशमें अपने द्वारा संचालित सैनिक-स्थल स्थापित कर रूसी सीमाके अति निकट रहकर युद्ध-पाषाणसे अपना सर पीटना चाहता है। ऐसा युद्ध—जिसमें एशियावासी परस्पर लड़ें, युद्ध एशियाई भूमि पर हो, गोरा एक न मरे और हथियारोंकी विक्रीके साथ एशियाकी ग़ुलामी वढ़ती रहे। पाक इस दलालीमें काश्मीर चाहता है, पर नहीं जानता कि वह

उस मूर्ख बन्दरकी तरह है जो पश्चिमकी दी हुई पैक्टकी सुनहरी छुरीको अपने कलेजेमें भोंक रहा है!

यह पैक्ट पाकिस्तानको राष्ट्रोंके रूपमें गुंथी उन अनेक कड़ियोंमेंसे एक कड़ी बना देता है, जो एक लम्बी जंजीरकी शक्लमें अमरीकाके हाथमें है। जिसमें एकके बाद एक, कई राष्ट्र बँधे हुए हैं। एक छोर पर चिनगारी लगा देनेसे सारी पंक्ति धधक उठती है और किसी एक इकाईमें इतनी शक्ति नहीं कि ज़रा-सा स्फुलिंग भी बुझा सके। निश्चय ही, पाक 'युद्ध-क्षेत्र' बन जाता है और उसकी ज्वालासे आसपासके देशोंको भी झुलसाता है। निश्चय ही, पाककी सियासी पालिसी उसके दाता और परित्राताके हाथमें चली जाती है, जो उसे अपने स्वार्थोंकी शक्लमें गढ़ता है। एशियामें लोक-जागरणका जो महामहिम प्रकाश प्रसारित हो रहा है वह इस पैक्टसे अन्धकार-ग्रस्त हो सकता है, इतिहासकी वेगवन्त धाराका प्रवाह विपथगामी हो सकता है। आज़ादी गुलामीमें पलट सकती है और एक बार फिर गोरा काले पर शासन करने आ सकता है। क्योंकि उसकी—गोरेकी यही मनोकामना है जो इस प्रकार व्यक्त हुई है—

अमरीकी सहायक मन्त्री, राबर्टसनने साफ़ साफ़ शब्दोंमें कहा—'अमरीकाको चाहिए कि अनिश्चित अवधि तक एशिया पर अवश्य अपना अधिकार स्थापित करे।' राजनीतिक षड्यन्त्र और धोखेसे भरे ये वे शब्द हैं जिनसे एशियाके हरेक बेटेको सावधान हो जाना चाहिए। साफ़ जाहिर है कि अमरीका चीनको भस्मसात् करना चाहता है, काश्मीर पर उस सत्ताका आसन चाहता है, जो अमरीकाकी डुगडुगी पर नाचती हो, वह नेहरूके शान्तिक्षेत्रकी हरियाली अपने शीत-युद्धके गधेको चराना चाहता है।

इस प्रकार अमरीका मध्यपूर्वकी राजनीतिको अपने चंगुलमें रखना चाहता है और उसके लिए पाकको आगे कर उसे अपना अड्डा बना, दाव-पेंचकी लड़ाई लड़ना चाहता है। पाकको लालच है कि सैन्य शक्तिकी वृद्धि पर वह मुस्लिम देशोंका नेता बन जायगा। लेकिन, पड़ोसी रूस

पाकिस्तानकी ऐसी तैयारियाँ मौन रह देख सकेगा, इसमें सन्देह है! इधर मध्यपूर्वकी दैनिक राजनीति और घरेलू व्यवस्था—एकताको छिन्न-भिन्न करनेके लिए ही अमरीकी राजनीतिज्ञोंने पाक-तुर्की पैक्टकी रचना की है। अपनी भौगोलिक अवस्थाका लाभ लेकर पाकिस्तान और तुर्किस्तान मध्यपूर्वके निर्बल अरब देशों पर दबाव डालकर उन्हें अपने और अपने आकाओंके गुट्टमें मिलाना चाहते हैं। ईरानको इस दलमें शामिल कर ही लिया गया है। यों, अरब देशोंकी एकता और संगठित शक्तिका अन्त होने पर पश्चिमी ताक़तें अपने साम्राज्यवादी उद्देश्योंकी पूर्तिमें सहज सफल हो सकती हैं। वे अनौद्योगिक, खेतिहर और पिछड़े हुए इन मुस्लिम देशोंकी सभ्यता और संस्कृतिको नष्ट कर अपने पञ्जेमें जकड़ लेना चाहती हैं। पाकिस्तान और तुर्कीके पश्चात् प्रतिगामी ईरान पश्चिमी पटरी पर प्रस्थान करने को प्रस्तुत हैं। सीरियाकी उथल-पुथल और इराक़की अड़चनें अपने भावी मार्गकी ओर स्पष्ट संकेत करती हैं। उधर यूनान अमरीकी अड्डा है। इनके अतिरिक्त पूरे दो दर्जन राष्ट्र अमरीकाको अपने अड्डे बेच चुके हैं। पूर्वीय देशोंमें अफ़ग़ानिस्तान, भारत, बर्मा, नेपाल और इण्डोनेशिया आदिकी अखण्ड तटस्थताको खण्ड-खण्ड करनेके षड्यन्त्र जीवित हैं।

पैक्ट होनेके साथ ही अफ़ग़ानिस्तानको रूसकी सूचना मिली है कि पाकिस्तानकी ओरसे संकटमय आशंका होने पर, हम अफ़ग़ान अड्डों पर अपने वायुयान उतारेंगे!

उपरोक्त परिस्थितियोंमें भारतके लिए, इसके सिवाय कोई चारा नहीं कि वह विदेशी सैनिकोंको अपने यहाँ प्रविष्ट न होने देकर अपने सुरक्षा-साधनोंकी वृद्धि करे। पैक्टने भारतीय नेता और जनताके लिए अनिवार्य चिन्ताकी ज्वाला जला दी है। पाकिस्तानी प्रधान मन्त्री बारम्बार अपना सही स्वरूप उजागर कर चुके हैं, जिससे यह स्पष्ट हो गया है कि पाक इस शस्त्र-प्रवाहको किस ओर बहाना चाहता है और किसे अपना लक्ष्य बनाना चाहता है। प्रेसिडेण्ट आइज़नहावर-द्वारा प्रदर्शित विश्वास और 'भारत-

सहायता-प्रस्ताव'के खोखलेपनको पं० नेहरू प्रकाशित कर चुके हैं। भारतके सम्मुख इस बातकी कोई गारंटी नहीं कि पाकिस्तान काश्मीर या किसी अन्य भारतीय-भाग पर आक्रमण नहीं करेगा। इस आशंकाको इससे भी पुष्टि मिलती हैं कि पाकिस्तानने 'भारतीय अनाक्रमण-प्रस्ताव'को वारम्बार ठुकराया हैं। भला, किसी भी शान्तिप्रिय देशका सन्धिवार्तासे क्योंकर विरोध हो सकता हैं?

पाकिस्तानके पश्चिमी गुट्टमें सम्मिलित हो जानेसे, भारतीय सुरक्षा-व्यवस्थाके पुर्नानिर्माणका प्रश्न अनिवार्य एवं तात्कालिक आवश्यकता बन गया हैं! इससे भारत शीतयुद्धवादी शक्तियोंसे घिर गया हैं। उसकी जल-थल एवं वायु-शक्ति नगण्य हैं। उसकी सीमाके महत्त्वपूर्ण भागों पर ऐसी शक्तियोंका आधिपत्य हैं, जो भारतको मित्रताकी दृष्टिसे नहीं देखतीं!

विश्व-शान्तिको भस्म करनेके लिए पाक-पैक्ट एक चिनगारी है। पार्लियामेण्टमें प्रधान मन्त्री नेहरूने १ मार्च ५४ को जो वक्तव्य दिया, वह पश्चिमके बड़े राष्ट्रोंके लिए प्रश्न-पत्र हैं।

संयुक्त राष्ट्र-संघ, जो विश्वकी शान्ति और मैत्रीका संरक्षक हैं, सन्धि, विग्रहका मन्त्रणा-गृह हैं, अपने पंचोंको बुलाकर क्या यह सोचेगा कि जन्म-दाता जिस पैक्टको 'शान्ति एवं सुरक्षाका प्रहरी' कहते है वह सचमुचमें क्या हे? कहीं वह 'अशान्ति एवं अरक्षाका राहु' तो नहीं है?

पेट्रिक हेनरी (१७७५)ने अपनी स्वतन्त्रताके आनन्दमें जो भावना व्यक्त की थी, पाक-नेता ठीक उसके विपरीत कर रहे हैं—'क्या जीवन इतना प्रिय हैं और शान्ति इतनी मधुर हैं कि उन्हें स्वाधीनताके मोलपर ख़रीदा जाय और उनके बदले बेड़ियाँ पहनी जायें और ग़ुलामीको गले लगाया जाय! हे ईश्वर, इससे मेरी रक्षा कर! मैं नहीं जानता कि ऐसी अवस्थामें दूसरे लोग कौन-सा रास्ता चुनेंगे, पर जहाँ तक मेरा प्रश्न हैं—मुझे आज़ादी दे या मौत दे!'

पाकिस्तान न तो आज़ादी चाहता है, न मौत चाहता हैं, वह तो ऐसा

प्रतीत होता है, दोनों देकर ज़िन्दगी और गुलामी चाहता है। वह गुलामीकी ज़िन्दगी और ज़िन्दगीकी गुलामी चाहता है!

अन्धकारमें भटकने वालेको क्षमा किया जा सकता है, किन्तु यह देखना है कि न्याय और ज्ञानका स्वांग रचने वाली संस्था यू० एन० ओ० दूसरेको अँधेरेमें भटकाने वालोंको कबतक, कहाँ तक क्षमा करती है, उनका भार सहती है!

# कोरियाकी करुण कहानी

जब दूसरा महासमर हिरोशिमा और नागासाकीकी आहुतियाँ लेकर समाप्त हो गया तो अपने भावी अन्तसे सशंकित पूँजीवादी साम्राज्य-वादने शीतयुद्ध (कोल्ड वार) का सिलसिला शुरू कर दिया !

प्रथम महासमरके समान द्वितीय महासमरकी समाप्ति पर भी साम्राज्य-वादी-शृंखला स्थान-स्थान पर विश्रृंखलित हो गई। उसकी जो कड़ियाँ, पूर्ण या आंशिक रूपमें निर्बल थीं—तड़क गई। अगस्त १९४२में, भारत-वर्षमें प्रबल जनविद्रोह ज्वारकी तरह जगा। फरवरी १९४६में नौ-सेनाके सूरमा सैनिकोंने बग़ावतका नारा बुलन्द किया। पूर्व और सुदूर पूर्वके अनेक देशोंमें जनता-जनार्दनके कण्ठसे 'एशिया छोड़ो' और 'एशिया एशियावालोंके लिए'का गगनभेदी उद्घोष हुआ। गोरे साम्राज्यवादियों-के विरुद्ध स्थान-स्थान पर विद्रोह उठे। उधर पूर्वीय योरपकी कई रियासतों-ने लाल झण्डेकी छायामें पूँजीवादी शासनको उखाड़ फेंका। उधर चीनमें अमरीकनोंका ज़र-खरीद ग़ुलाम चांग काई शेक हारा, और बुद्ध-धर्मकी पवित्र धरतीवाला पीला-मुल्क रातों रात छोड़नेको मजबूर हुआ। इस प्रकार देश-देशमें सार्वभौमिक साम्राज्यके संरक्षकोंके सिंहासन हिल उठे।

दूसरी लड़ाईके दौरान और उससे पहले भी पश्चिमके सत्ताधारी रूसको एक मामूली मुल्क मानते थे, परन्तु ज्यों-ज्यों सोवियतकी सुसंगठित जन-सेनाएँ हिटलरके हौसले पस्त करती गईं, त्यों-त्यों एंग्लो-अमरीकन गुट्ट रूसकी अपराजेय शक्तिको देख-देख कर स्तम्भित-स्तब्ध होता गया। एक ओर, पश्चिमका एकके बाद दूसरा देश अमरीकी प्रभावसे मुक्त हो रहा था। दूसरी ओर एक-एक कर कई देश रूसी प्रभावको, शासन-प्रणालीको अपना रहे थे। पूरबमें स्वतन्त्रता-देवी उषा बन कर चीनमें चमक रही थी। चीनके साम्यवादी बन जानेसे अमरीकी हाथोंके तोते उड़ गये। इधर

भारतने अपने कन्धेसे व्रिटिश-जुआ झकझोर कर फेंक दिया। जब दुनियाकी आधीसे अधिक आवादीको जंगके नक्शानवीसोंने अपने आवृत्तसे छिटक जाते देखा तो, वे वेचैन हो गये।

अपनी हड़वड़ाहट और हड़बड़ाहटसे उत्पन्न तैयारी और तैयारीसे पैदा हुई अनेकानेक कुरीतियोंमें 'शीतयुद्ध' उन्हें प्राप्त हुआ। सागर-मंथन पर निकला यह वह विप है, जिसे पान करनेके लिए नीलकण्ठ चाहिए। अमरीकाने धरतीके ओर-छोर पर इसकी बौछार कर दी। उसने योरप, एशिया और स्वयं अपने देशकी जनताको युद्धके भूतसे वुरी तरह डरा दिया। भारतीय प्रधान मन्त्री श्री नेहरूने ऐसे भय-भूत प्रसार-कार्यका प्रवल विरोध किया। योरपकी जनताने इसके लिए पण्डितजीके प्रति आभार प्रदर्शन किया।

तत्पश्चात् अमरीका नई आक्रमणात्मक नीतिका प्रणेता वना। 'नार्थ अटलाण्टिक ट्रीटी-आर्गेनाइज़ेशन' (नेटो), 'पेसिफिक-पैक्ट' और 'मिडल ईस्ट-डिफेन्स-आर्गेनाइजेशन' (मेडो) जैसी साजिशें कीं। १९४९ से खाली पड़ी आर्थिक खा कोो शस्त्रोंके उत्पादन और विक्रयसे पाट देनेका, अमरीका ने यह नया और सर्व-सत्यानाशी तरीक़ा निकाला।

इतना कर लेने पर अमरीकाका 'चुप-वैठे रहना' मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी अस्वाभाविक था।

आकुलतापूर्वक अमरीका अवसरकी खोज करने लगा। अपनी शक्ति और सत्ताकी अचूक विनाशकताका प्रयोग करनेको वह उतावला हो गया। उसने तय किया कि एशियामें जिस-तिसको कमज़ोर देखो, डराओ-धमकाओ और लड़ाई लड़ाओ। इस प्रकार पुराना गोलावारूद (शस्त्रास्त्र) भी काम आ जायगा। अमरीकी वेकारोंको फ़ौजी तालीम भी मिल जायगी। न ो शस्त्रोंकी मारकताका परीक्षण भी हो जायगा। रूसकी पूर्वी नीतिके लक्षण मिलेंगे। चीन उलझ जायगा और उसकी सारी विकास एवं जीवन-दायिनी योजनाएँ धरी रह जायँगी। एशिया डर जायगा। उसे एक वार फिरसे सुला दिया जायगा, समर-स्थलके श्मशानमें, जहाँसे वह कभी न

उठ सकेगा। एशियाके आँगनमें जब एशियाके कौरव-पाण्डव परस्पर लड़ेंगे तो उस सारे महाभारतको देखकर फिरंगीको अपार आनन्द मिलेगा! वह हर्षके पारावारमें नृत्य करने लगेगा! (कोरियानोंके कटे हुए सिर देखकर जनरल मैकआर्थरने कहा था—'इन एशियनोंकी ऐसी दशा और ऐसा दृश्य देखकर मेरी बूढ़ी आँखोंको अनन्त आनन्द मिलता है।' इस पर पण्डित नेहरूने मेकआर्थरकी कठोर आलोचना की थी। सम्भवत: पण्डितजीके विरोधवश ही अमरीकाको एशियासे अपना मेकआर्थर लौटा लेना पड़ा।) परिणाम यह हुआ कि समर-साधनोंको क्षेत्र मिल गया और —रणचण्डी जागी!

द्वितीय महायुद्ध-कालमें १९४३ के दिसम्बर मासमें संयुक्त राष्ट्र अमरीका, ब्रिटेन और चीनने काहिरामें इस बातकी घोषणा की थी कि तीनों शक्तियाँ समय आने पर कोरियाको स्वतन्त्र कर देंगी। इस घोषणा-को २६ जुलाई १९४५के दिन पोस्टडममें फिरसे दुहराया गया। इसके अलावा ८ अगस्त १९४५को रूसने ऐलान कर दिया कि हमारी लड़ाई कोरियाकी आज़ादीके लिए है।

जब नागासाकी और हिरोशिमाके नगरोंपर पाश्चात्य बर्बरता प्रेत बनकर मँड़राई और जापानकी उद्दाम समर-क्षुधा पराजयसे परितुष्ट हो गई और योरप भरमें, पलनेकी डोर झुलाती माताओंके अश्रुपूरित लोचनोंसे हिटलरी आतंकका तप्त ताप तिरोहित हो गया, तब कोरियाई-लोगोंके मन आशा बँधी कि अब हम भी आज़ाद हो जायँगे और अपनी धरती पर अपनी माँके गीत गायँगे, शान्तिकी साँस लेंगे और सन्तोषसे रहेंगे। किन्तु, इस भावीको वे चारे-हीन बेचारे कैसे जानते कि उन्हें और भी काले दुर्दिन देखने हैं। जापानी बर्बरोंके बाद पश्चिमी बर्बर आनेवाले हैं!

पिछली किसी कान्फ्रेन्समें रूस और अमरीकाके बीच यह समझौता हो गया था कि दोनों ताक़तें कोरियामें 'आकुपेशन-ज़ोन' बाँट लेंगी। जब ओकिनावाकी अमरीकी सेनाको जापानियोंका आत्मसमर्पणका सन्देशा मिला तो रूसी-अमरीकी दलोंमें यह तय पाया कि ३८वीं अक्षांशके उत्तरमें

रूसी और उसके दक्षिणमें अमरीकी सेनाएँ जापानियोंका आत्म-समर्पण स्वीकार करेंगी। २ सितम्बर १९४५को मित्र-राष्ट्रोंके प्रधान सेनापति जनरल मेकआँर्थरने इसी आशयकी घोषणा भी प्रकाशित की।

कोरियाके काफ़ीसे ज्यादा हिस्सेको रूसने जापानी पंजेसे छुड़ाया था, इसलिए १२ अगस्त १९४५को उत्तरी कोरिया पर अधिकार करनेके लिए और स्थानीय जापानियोंको शरणमें लेनेके लिए लाल झण्डेवाली रूसी सेनाएँ बढ़ चलीं। ८ सितम्बरको अमरीकी हवाई जहाज़ोंने अपनी सेनाएँ उतारीं और दूसरे दिन उन्होंने कोरियाके दक्षिणी भाग पर अधिकार जमाया। कोरिया उसी दिन दो टुकड़ेमें वँट गया!

भाईसे भाई जुदा हो गया। पति-पत्नी और बाप-बेटे अलग कर दिये गये।

दिसम्बर १९४५ में मास्कोमें रूस, अमरीका और ब्रिटेनके विदेश-मन्त्रियोंकी एक वैठक हुई जिसमें यह समझौता हुआ कि सारे कोरियाके लिए एक अस्थायी प्रजातन्त्रीय सरकारकी स्थापना हो। चीनकी सरकार भी इससे सहमत थी।

अपने वचनानुसार रूसने कोरियासे अपनी फ़ौजें हटाने और उसे स्वराज्य देनेका काम तुरन्त शुरू कर दिया। फलतः ९ सितम्बर १९४८में कोरियामें 'डेमोक्रेटिक पिपुल्स रिपब्लिक' नामसे नई आज़ाद सरकार वनी। इससे पूर्व रूसी सेनाएँ हट चुकी थीं। किन्तु, अमरीकाकी नीयतमें फ़र्क था, उसने अपनी फ़ौजें दक्षिण कोरियासे नहीं हटाईं, वहीं रहने दीं।

आज़ाद सरकार वन जानेसे कोरियनोंको वड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने उसी वर्ष एक असेम्वलीका चुनाव किया। किम इर सेन रिपब्लिकके प्रथम प्रधान निर्वाचित हुए। सोवियत सरकार और दूसरे समझदार देशोंने इस कोरियाई शिशु-सरकारको संपोषण दिया और इसे तुरन्त स्वीकार कर अपनी वरावरीका दर्जा दिया। यही नहीं, हर तरहसे उसे मदद देना भी मंजूर किया। कोरियाकी स्वतन्त्रता और संस्कृतिकी रक्षा और उसके आर्थिक-उत्थानके सम्वन्धमें एक सहयोगिक समझौता भी

हुआ। उत्तरी कोरियाके इस विकासने दक्षिण पर भी अपना प्रभाव डाला। हवाकी लहरें उत्तरकी आज़ादीका सन्देश दक्षिणके द्वार-द्वार पर पहुँचा आईं। परिणाम यह हुआ कि सारे कोरियाने एकता और आज़ादीका नारा उठाया।

जून १९४८ में 'यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फादरलैण्ड फ्रण्ट' नामी संस्थाकी छायामें उत्तर और दक्षिणके छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, वाम, अवाम—सभी दल एकत्र हुए और उन्होंने अपनी माँगोंको स्पष्ट रूपसे घोषित किया। १९ जून १९५०के दिन उत्तरी धारासभाने एक प्रस्ताव पास किया और विदेशी सत्ताओंसे निवेदन किया कि वे कोरियाई-भूमि पर अपनी काली परछाईं न डालें। इसी दिन समूचे कोरिया राष्ट्रके लिए एक 'राष्ट्रीय संसद्' बनानेका निश्चय हुआ। दक्षिणी भाइयोंको भी इस संसद्के लिए निमन्त्रण दिया गया कि उनका एक दल अवश्य पदार्पण करे।

सीधी, सादी बातें थीं। कोरियाके अपने घरेलू मामले और मसले थे। उसकी अपनी समस्याएँ और उसके अपने देशकी रीति-नीतिके अनुरूप उनके समाधान थे। विदेशियोंको बीचमें पड़नेका क्या अधिकार था, क्या ज़रूरत थी, क्या कारण था?

समझौता, संगठन और शान्तिकी इन तैयारियों पर किसे उज्र हो सकता था?

लेकिन अमरीकी नीयतमें फ़र्क़ आ गया था। रूसके फ़ौजें हटा लेने पर भी, अमरीकाने फ़ौजें न हटाकर समझौतेको भंग किया था। इधर कोरियनोंकी आज़ादी और एकताका ज्वार देखकर वह बौखला गया कि इस तूफ़ानमें अपने स्वार्थका बेड़ा बचना कठिन है!

अमरीकाने तुरन्त अपने पिछलग्गुओं और कठपुतलोंको अगुआ बनाकर रातोंरात एक सरकार खड़ी कर दी। उसे फिरंगी-मुल्कों और अमरीकी क़र्जसे आपाद-मस्तक दबे अर्धदास-देशों-द्वारा स्वीकृति प्रदान करवाई और उसे शिखण्डीका पूरा बाना पहना कर आप उसके पीछे खड़ा हो गया और 'ट्रिगर' पर अंगूठा जमाये मसान जगानेको तत्पर हुआ।

जब 'राष्ट्रीय संसद्'के दलके मामलेने ज़ोर पकड़ा तो अमरीकासे उड़कर डलेस तत्काल कोरिया पहुँचा। षड्यन्त्रोंकी सफल रचना हुई और ३८वीं अक्षांशके उस पार छुटपुटे हमले शुरू हुए। आये दिन दक्खिनी लोग उत्तरवालोंको परेशान करने लगे। लेकिन उत्तरवाले इन चालोंके मूलकारणोंको, शिखण्डीकी ओटमें खड़े वृहन्नलाको जानते थे, अतः चुप बैठे, सहते रहे। उनकी इस चुप्पीको दक्षिणवालोंने कमज़ोरी और कायरता माना। नतीजा यह हुआ कि दक्षिणी जंगख़ोरोंका दिमाग़ी-नशा हज़ार-गुना बढ़-चढ़ गया और वे खुले रूपमें बराबर आगे बढ़ने लगे, यहाँ तक कि उन्होंने २५ जून १९५०के दिन उत्तरके खिलाफ़ बाक़ायदा जंग छेड़ दिया।

अब तो उत्तरकी सरकार मजबूर हो गई। उसने अपनी सेनाके शूरवीरोंको हुक्म दिया कि आज़ादीके डंकेसे दुश्मनकी दसों दिशाओंको गुंजा दो।

स्वदेश प्रेम, आत्म-बलिदान-भावना, राष्ट्रीय-संगठन और मानवताके इस परम तेजस्वी प्रकाशमें जिनकी आँखें चौंधिया गई थीं उनकी सारी योजनाएँ धरी रह गईं। उनके सारे 'आधुनिकतम' अस्त्रशस्त्र धरे रह गये और वे अपने हमराहियोंके साथ सर पर पाँव रख कर भागे।

अब ३८वीं अक्षांशके पूर्व और पश्चात्का लेखा-जोखा देखें:—

पश्चिमके राजनीतिज्ञोंने चीनको संयुक्त राष्ट्र-संघका सदस्य न बना-कर भारी ग़लती की थी। यदि वे चीनका प्रवेश न रोकते तो इस संकट-वेलामें चीनको अपराधी (पश्चिमकी दृष्टिमें)के रूपमें पंचोंके समक्ष खड़ा किया जा सकता था। पण्डित नेहरू बारम्बार चीनी सदस्यता पर ज़ोर देकर शान्तिकी ओर संकेत कर रहे थे। उनका आशय समझनेमें पश्चिम पिछड़ गया। अब चीनसे क्या कहा जाय? कौन उसे कुछ कह सकता है? वह तो पंचायतसे—जातिसे बाहर है। उसे तुम स्वीकार ही नहीं करते तो, वह भी तुम्हारा अस्तित्व स्वीकार नहीं करता।—यह साधारण-सी बातें पश्चिमने नहीं समझीं। सम्भवतः समझते हुए भी, स्वीकार न

कीं। जब उत्तरी कोरियासे भयंकर मारकी बौछार होने लगी तो शायद सिंग-मन-री के फिरंगी-साथियोंको चीनकी सदस्यताका स्मरण हुआ हो !

अब भी समय था कि चीनकी महासत्ताका अभिनन्दन करते। उसके वास्तविक अधिकार एवं सम्मानका स्वामी उसे बनाते। किन्तु, इससे तो युद्ध न टल जाता ! और युद्धको टालना, वे लोग क्यों चाहते, जो अशान्तिको पालना चाहते थे। अतएव वे तीव्र स्वरमें चीनकी निन्दा करने लगे कि उत्तरी कोरियाके साथ चीनका हाथ है।

चीनके विरुद्ध चिल्लानेमें पश्चिमका उद्देश्य यह था कि चीनको दोषी, अपराधी एवं आक्रान्ता प्रदर्शित कर, किसी-न-किसी बहाने, उस पर ज़ोरदार हमला कर दिया जाय। उनके अनेक उद्देश्योंमें से एक यह भी था कि मंचूरिया पर आक्रमण किया जाय। लेकिन, ज़रा रुकिए, यहाँ इतिहास और राजनीतिके दावपेंच शुरू होते हैं।

रूस और चीनके मध्य सन्धि-द्वारा पारस्परिक सहयोग और सुरक्षाका वचन है। मंचूरिया पर ३८वीं अक्षांशका उल्लंघन कर आक्रमण करनेका अर्थ हुआ—चीन पर आक्रमण। चीनके किसी प्रदेश पर आक्रमण—स्थितिका अर्थ हुआ रूसका सदल-बल युद्ध-प्रवेश। रूसके संगी पूर्वी योरपके देश ! उधर नेटो, मेडोके भानमतीके कुनबेके साथ अमरीका। इधर पारस्परिक विद्वेषमें सुलगती छोटी-छोटी होलियाँ—कश्मीर, स्वेज, श्रीलंका आदि। दोस्तोंने चित्र तो ऐसा बनाया कि साक्षात् महासमर सुलग उठे। किन्तु विधिका विधान सम्भवतया राजनीतिमें भी काम करता है।

अशान्ति और विश्वनाशकी इस जलती ज्वालाके बीच शान्ति और प्रेमका संदेश लिये जवाहरलाल नेहरू उपस्थित हुआ।

पण्डितजी जानते थे कि यदि मंचूरिया पर बम डाल कर आगे बढ़नेका प्रयास किया गया तो अवश्य चीनी-रूसी-संधि अमलमें लाई जायगी। और वसुन्धराका कोना-कोना अनबुझ आगसे भस्म हो जायगा। अतः उन्होंने बारम्बार विनती की दोनों ओरके सूरमाओंसे। उत्तरसे कहा कि शान्ति और धैर्य रखो। दक्षिणवालोंको स्पष्ट शब्दोंमें सावधान कर दिया

कि आगे न बढ़ो, रुक जाओ। यह ३८ वीं अक्षांशकी लक्ष्मण-रेखा है। इसका उल्लंखन करनेवाला भस्म हो जायगा।

पार्लियामेण्टमें दिये गये ६ दिसम्बर १९५०के भाषणमें श्री जवाहर· लाल नेहरूने कहा था—"हमारी सरकारने अमरीका और इंग्लैण्डको सूचित कर दिया था कि यदि ३८वीं अक्षांशको लाँघा गया तो अवश्य ही चीनी सरकार इस क़दमको अपनी स्वतन्त्रताके लिए सबसे बड़ा संकट समझेगी और कदापि सहन न करेगी। फिर भी, यह तय किया गया कि ३८वीं रेखाको पार किया जाय, और उसे पार किया गया। उसका जो नतीजा हुआ वह किसीसे छिपा नहीं है। चीनी स्वयंसेवकोंकी भारी सेनाने बढ़ते हुए यू० एन० ओ०के दलोंका मुक़ाबिला किया और उन्हें इस तरह घेर लिया कि वे एकदम पीछे हटनेको मजबूर हो गये।"

इसके दो दिन बाद, पण्डित नेहरूने पार्लियामेण्टमें पुनः शान्तिकी पुकार पर कहा :—"आप सोचते हैं कि केवल प्रस्ताव पास करनेसे परिस्थिति पलट जायगी? जिम्मेवाराना क़दम उठाकर ही हम लड़ाईको रोक सकते हैं। इसलिए, यथातथ्य स्थितिको देखते हुए, मैं कहता हूँ कि मौजूदा सवाल को हमें आज और आगामी कलकी दृष्टिसे देखना चाहिए। वाशिंगटनमें प्रेसिडेण्ट ट्रुमेन और एटली साहबकी मुलाक़ात हो रही है। दोनों साहबान-को थ्योरीके फेरमें न पड़कर साकार सत्यको देखना चाहिए। उन्हें चाहिए कि अपने आदमियोंको हुक्म दें और फ़िजूल बातोंके बवंडर न बनायें।"

लेकिन, मेकऑर्थरकी अध्यक्षतामें दक्षिणकी सेनाएँ चीनी भूमि पर प्रलय वर्षा करती रहीं। तथापि, सम्भवतः भारतके सद्भावनापूर्ण सहयोग एवं शान्ति-निवेदनसे चीन चुप रहा। साधारण प्रतिरोधके सिवाय उसने विश्वयुद्धको टालनेवाले क़दम ही उठाये। इस पर भी उसे निरन्तर दुत्कारा गया। उसे लुटेरा, डाकू और हत्यारा कहते-कहते पश्चिमी षड्यन्त्र-कारियोंके गले बैठ गये!

यही नहीं, उसे बाक़ायदा 'हमलावर' करार दिये जानेकी साजिशें बनीं। यू० एन० ओ० पोलिटिकल-कमिटीने लेक-सक्सेसमें तारीख ३१

जनवरी १९५१के दिन इस अमरीकी माँगका समर्थन किया कि 'साम्यवादी चीनको आक्रान्ता घोषित किया जाय।'

दुनियाके ६० देशोंमेंसे ४४ने इसकी तरफ़दारी की, या यों कहें—अमरीकाका साथ दिया (ये देश बहुत छोटे-छोटे हैं और इनमें से लगभग सभी अमरीकाके क़र्जदारहैं), ७ मुल्कोंने मुखालफ़त की और ८अनुपस्थित रहे। अनुपस्थित देशोंमें अफ़ग़ानिस्तान, सीरिया, मिस्र, इण्डोनेशिया, पाकिस्तान, यमन, स्वीडन और युगोस्लाविया थे। सऊदी अरबने इस चर्चामें कोई भाग नहीं लिया। १२ राष्ट्रोंने, जो युद्धबन्दीका प्रस्ताव रखनेवाले थे, सोवियत रूसका साथ इस कथनमें दिया कि अमरीकी प्रस्तावको कुछ दिन और स्थगित रखा जाय। किन्तु, पोलिटिकल-कमिटीने एक न सुनी और मामलेको प्रस्तावके रूपमें पास करनेको पेश किया। फलतः रूस, भारत, बर्मा, पोलैंड, जेकोस्लोवाकिया, बिलोरशिया और युक्रेन—इन सात देशोंने जमकर विरोध किया और मतगणनाके समय अमरीकी प्रस्तावके विरुद्ध वोट दिया।

यू० एन० कमिटीने न केवल चीनको आक्रान्ता घोषित किया, न केवल १२ राष्ट्रों-द्वारा पोषित भारतीय प्रस्तावको अस्वीकार किया, वरन् भारतके इस सुझावको भी नामंजूर कर दिया कि साम्यवादी चीनको सात सत्ताओंकी सुदूर पूर्वीय कान्फ्रेन्समें बुलाया जाय। (भारतके बहुत प्रयत्न करने पर इस प्रस्तावका कुछ भाग स्वीकार किया गया था।)

और उस दिन अमरीकी धरती पर भारतका 'शान्ति-सन्देश' अस्वीकृत होने पर, चीनको 'एग्रेसर' घोषित करनेवालोंसे भारतीय प्रतिनिधि श्री रामारावने बड़ी तेजस्वितापूर्वक कहा था: "दुनियाके साठ मुल्को ! चीनके साथ जो जुल्म करने जा रहे हो, उस पर पहले ग़ौर कर लो। हमारे हिन्दी प्रस्तावको नामंजूर करने पर क्या-क्या मुश्किलें सामने आयेंगी, उस पर ज़रा विचार करो। हमें इस बातकी चिन्ता नहीं कि, हमारे प्रस्तावको कौन-सी सजा दी जाती है, हम तो रिकार्डमें यही लिखा (उल्लेख) चाहते हैं कि जब दुनिया विनाशकी ओर दौड़ रही थी, जब सर्वनाशकी होलियाँ

धधकाई जानेवाली थीं तब शान्तिप्रिय भारत और एशियाई ताक़तोंने उस दौड़ और उन होलियोंको रोक देनेकी पूरी कोशिश की थी। अगर हमारा प्रस्ताव मंजूर नहीं होता, तो यह याद रक्खें कि निकट भविष्यमें युद्ध-विराम न होगा। दूर पूर्वका प्रत्येक प्रश्न घपलेमें पड़ जायगा और अनुकूल वार्तालापका वातावरण हवा बन जायगा।"

इसके पश्चात्, चीनको 'आक्रान्ता' घोषित किया गया। घोषणा होने पर अमरीकी प्रतिनिधि वारेन आस्टिनने चैनकी साँस ली और कहा—"मैं ख़ुदाका शुक्रगुजार हूँ"—मानो ख़ुदा भी यही चाहता था और चीनको हमलावर करार देनेका कुकार्य भी उसीने किया था।

इन सारे प्रयत्नोंके उपरान्त भी पश्चिमी साम्राज्यवादियोंके मनको सन्तोष न हुआ। उन्होंने 'कलेक्टिव मेज़र्स कमिटी', स्थापित की। जिसमें आस्ट्रेलिया, मिस्र, फ्रान्स, मेक्सिको, फिलिपाइन्स, टर्की, ब्रिटेन, अमरीका, वेन्जुएला और युगोस्लाविया थे।

इस समितिको यह काम सौंपा गया कि वे सब तरीक़े ढूंढ निकालें, जिनसे शीघ्रातिशीघ्र लाल चीनकी समाप्ति की जा सके। वर्माने इस समितिका सदस्य बनना स्पष्टतया अस्वीकार किया।

बावजूद एंग्लो-अमरीकी गुट्टकी काली करतूतोंके, चीन समझौतेके लिए, उन दिनों तैयार था।

इसके प्रमाणमें श्री रामारावके ये वाक्य रखे जा सकेंगे—"मेरी सरकारकी यह जानकारी है कि एशियाई प्रस्तावके आधार पर शान्तिपूर्ण समझौता करनेके लिए लाल चीनकी सरकार सम्पूर्ण सहयोग देनेको प्रस्तुत है।"

श्री रामारावके इस संकेत पर भी, अमरीकी दल निरन्तर विरोधी बना रहा।

इसी समय रूसी प्रतिनिधि मशिए ज़ारापकिनने एक प्रस्ताव रख कर यह चाहा कि पहले सीज़फायरका मामला तय हो जाय, परन्तु, ब्रिटेन और कनाडाने रूस और भारतके इस प्रस्तावका हठपूर्वक खुला सामना किया।

इसके बाद जब रूसी प्रतिनिधिने देखा कि विरोधी दल किसी प्रकारके
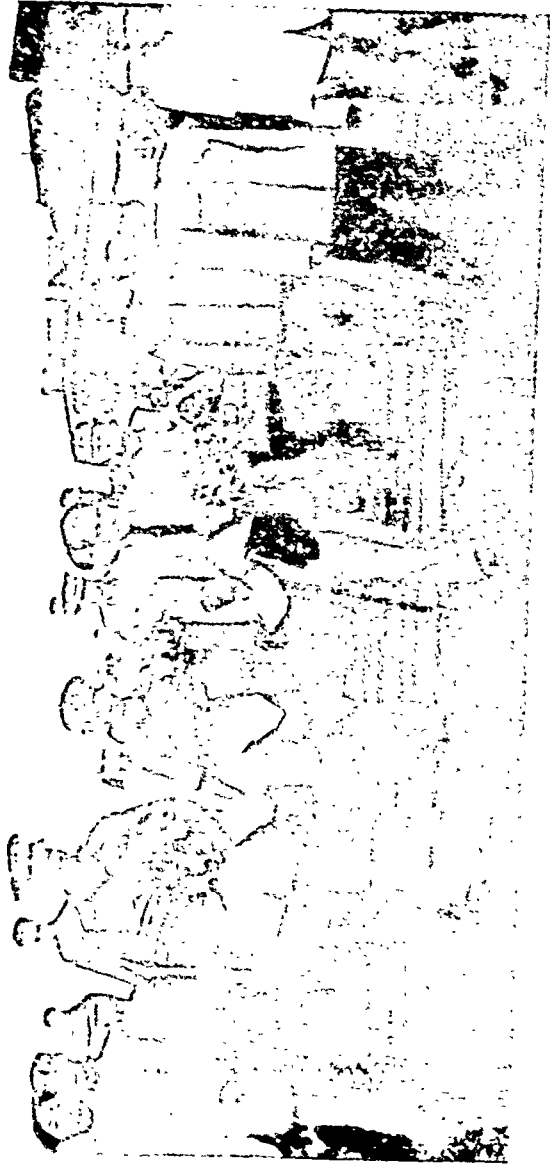
कोरिया में भारतीय शान्ति-संस्थापक-दल
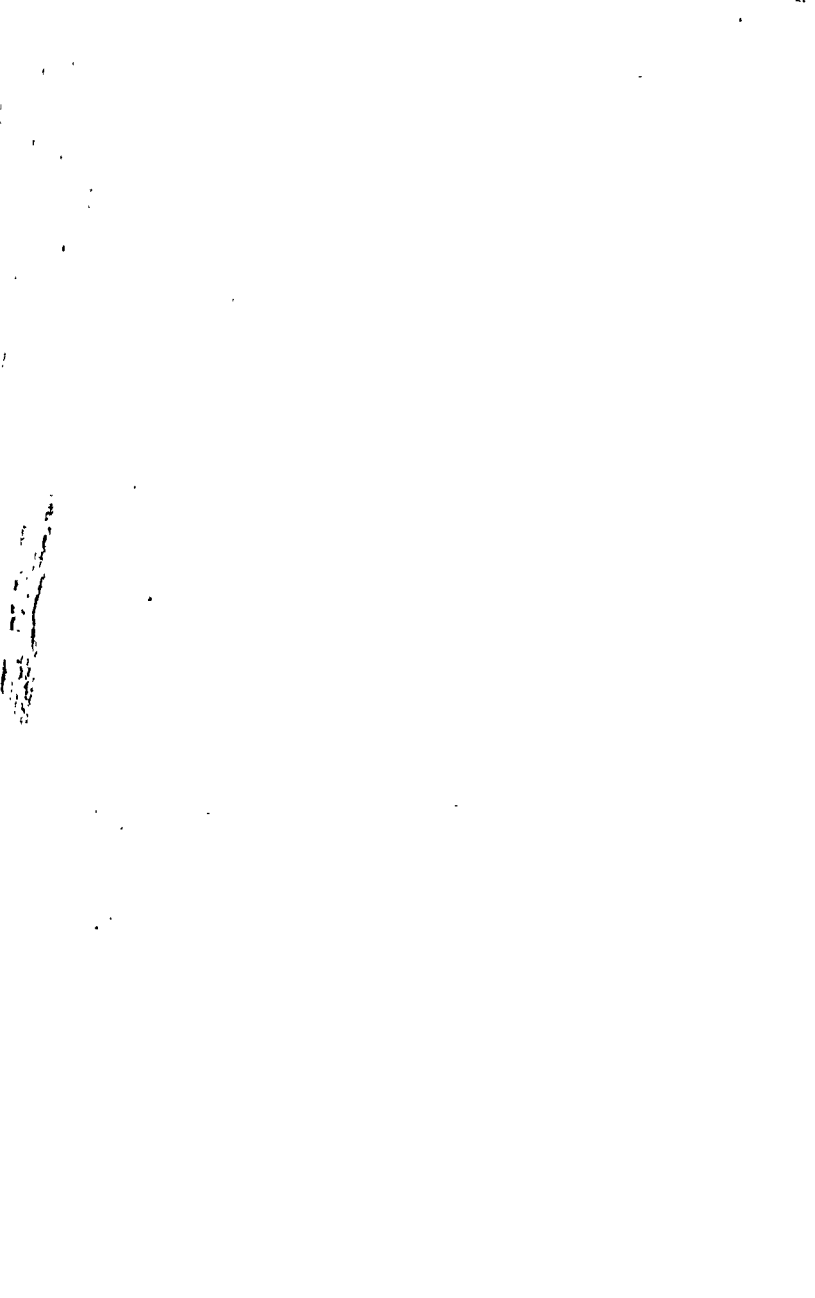
सोच विचारके लिए भी समय देना नहीं चाहता और उतावली कर रहा है तो उसने भारत और पोलेंडकी यह माँग पेश की कि 'समय दिया जाय', लेकिन पश्चिमी गुट्टने इसे नामंजूर किया।

अन्तमें निराश हो, राव साहबने कहा :—"यदि ग्यारह राष्ट्रों-द्वारा संपोषित भारतीय प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता तो अगले चौबीस घंटोंमें कोरियामें अवश्य ही तोपें ठंडी हो जातीं और संसार शान्तिकी साँस लेता।"

इस प्रकार भारत-एशियाई-प्रस्तावके पतनसे शान्तिका मामला अन्धकारकी खाईमें गिर पड़ा। यू० एन० पोलिटिकल-कमिटीका प्रस्ताव शान्ति-हितोंके विरुद्ध पड़ता था, तथापि अमरीकी गुट्टने जानबूझ कर उसके लिए कन्वेसिंग की। यू० एन० ओ० में, कामनवेल्थ प्रिमियर्स कान्फ्रेन्समें और संसारकी राजधानियोंमे इसके पक्षमें पालतू तत्त्व पोषित किये गये।

इससे अमरीकाकी यह मंशा साबित हो गई कि वह युद्ध और शान्तिसे सम्बन्धित एक पेचीदा और उलझनभरे सवालके जरिये दुनियाको दो दलोंमें बाँट देना चाहता है। चीनको आक्रान्ता घोषित करवा कर अमरीका अपने उद्देश्यमें सफल हो गया। उसने कई निर्बल देशों पर अपनी रायका बोझ लाद दिया। उन देशों पर, जो 'आर्थिक-सहायता'के लिए उसके द्वार पर हाथ-बाँधे खड़े थे और चाहते हुए भी खुलकर विरोध करने का नैतिक बल जिनमें नही था। 'फ्री वर्ल्ड नेशन्स'का सिपहसालार बननेकी जल्दीमें अमरीकाने कथित 'फ्री वर्ल्ड'के कई मुल्कोंको अपने पीछे चलनेवाले कठपुतली पुछल्ले बना दिये। समझमें नहीं आता कि रूसके साथियोंको 'सेटेलाइट' कहनेवाला देश स्वतन्त्र देशोंके प्रति इस प्रकारकी निर्ममताका दुर्व्यवहार कैसे कर सकता है?

इसी ओर संकेत करते हुए पण्डित नेहरूने कहा था—'दोषारोपणसे तो यही साबित होता है कि आप जल्द लड़ाई चाहते हैं। अगर हम जंगको टालना चाहते हैं तो मैदानमें उतर आनेकी धमकियाँ हानिकर हैं। शान्तिका एकमात्र उपाय समझौतेका मार्ग पकड़ लेना है।"

कोरिया चीनका पड़ोसी है, इसलिए कोरियामें जो कुछ गुजरता है

उसका चीनियोंके लिए बड़ा महत्त्व है। इस सत्यको नजरअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। हाँ, कोई चीन और चीनियोंको ही भूल जाय तो बात दूसरी है। उनका अस्तित्व ही अस्वीकार कर दे तो, उसे समझाया नहीं जा सकता।

अमरीका और उसके यू०एन० ओ० पंथी हमराहियोंने उत्तरी कोरिया-को आक्रान्ता घोषित किया और यह अपील निकाली कि एक स्वतन्त्र देश पर जो विनाश बरसाया जा रहा है, उसका विरोध किया जाय।

यदि दो पलको यह मान लिया जाय कि उत्तरी कोरिया आक्रान्ता था तो भला, मंचूरियाका क्या अपराध था? तथापि, मंचूरिया पर दक्षिणकी ओरसे अमरीकी सेनाने आक्रमण किया।

भारतीय प्रधानमन्त्रीने सेनापति मेकऑर्थर-द्वारा इस क़दमके उठाये जानेके पहले ही संगीन चेतवनी दे दी थी। उन्होंने कहा था कि ३८वीं अक्षांशका उल्लंघन न करो, परिणाम ठीक न होगा। किन्तु यू० एन० ओ० के संरक्षकोंने बात न मानी। इसके बाद वही हुआ जो पण्डितजीने कहा था। यू० एन० ओ० और उसके दम्भी सेनापतिको भारी पराजय मिली और व्यर्थ जनहानि हुई। इसलिए दक्षिणी सेनाका मंचूरियाकी ओर बढ़ना यह साबित करता है कि अमरीकी नीयतमें फ़र्क़ था। बेवनने कहा था :—'कोरियाई सीमान्तके चीनी पॉवर-स्टेशनों पर बम डालना ऐसा घृणित कार्य है जिससे ब्रिटेनका विरोध है। इस कार्यसे अंग्रेज़ और अमरीकी जनताके बीच पड़ी खाई और चौड़ी हो जायगी!' ब्रिटेनके सारे समझदार लोग इसके विरुद्ध थे।

कुछ निष्णातोंका कथन है कि मंचूरिया पर किया गया आक्रमण उन युद्ध-पक्षी व्यक्तियोंका षड्यन्त्र है, जिनका अमरीकी राजनीति पर प्रभाव है। अगले उदाहरणसे यह और स्पष्ट हो जायगा।

आप यह जानते हैं कि चियांग काई शेकने कई दिनों तक जापानके विरुद्ध यह सोचकर शस्त्र न उठाये कि एक न एक दिन जापान और अमरीका लड़ेंगे और ऐसे अवसरपर चीनको स्वतन्त्र करनेका अवसर उसे मिल जायगा! जापान बढ़ता रहा और चियांग देशके संघर्षकामी वर्गोंके जोश पर पानी

छिड़कता रहा। उसे आशा थी कि वालस्ट्रीटके वणिक् भी युद्धके आंगनमें उतरेंगे ! मी लिंग सुंग चियांग (मदाम चियांग काई शेक) का पति कितना मूर्ख हो सकता है, इसका अनुमान उपरोक्त उदाहरणसे मिलता है। इसके वादका दूसरा मनोरंजक उदाहरण देखिए—पहले तो वह चीनको जापानी पंजेसे छुड़ानेके लिए, अमरीकी-जापानी युद्धकी राह देखता रहा, अव फारमोसामें वैठा-वैठा यह दुआ कर रहा है कि रूस और अमरीकामें 'छिड़' जाय तो चीनी मैनलैण्डसे साम्यवादियोंको वाहर निकाल दें। और विस्मय तो इसमें है कि उसकी ऐसी—शेखचिल्ली-सी कल्पनाओंमें अमरीकी सत्ताका सहयोग है।

यदि अमरीकाकी चीन सम्वन्धी नीति अधिक स्पष्ट होती और अमरीकन सरकार चीनी क्रान्तिको स्वीकार कर, चीनी जनताकी विजयका अभिनन्दन करती तो क्या चियांग काई शेककी निर्मूल धारणाओं और आशाओंको वढ़ने और पकनेका अवसर मिलता ?

चीनकी नई सरकारको अस्वीकार करते हुए अमरीकी सत्ताधारी कहते हैं—'यह सरकार क्रान्तिके वल पर स्थापित की गई है और साधारणतया वननेवाली सरकार नहीं है।' यह तो विचित्र तर्क है। और यह तर्क वे लोग रख रहे हैं, जिनके पूर्वजोंने ईसा मसीहके १७८३ वें सालमें क्रान्तिद्वारा ही अपनी स्वतन्त्रता और सरकार स्थापित की है। माओकी नीति और सरकार का अपमान और तिरस्कार कर, क्या वे स्वयं जनरल वाशिंगटनकी नीति और सरकारका अपमान नहीं कर रहे हैं ? अथवा अमरीकी नीतिके क्या दो पहलू हैं, क्या वह दुरंगी है ? अपने लिए वह कुछ चाहती है और एशियावासियोंके लिए 'कुछ' भी नहीं ? चीनकी न्यायसम्मत लोकप्रिय सरकारको स्वीकार न करके, अमरीकाने एशियाका अहित और अपमान तो किया ही है, स्वयं अपनी जनताका भी वहुत वड़ा अहित किया है। शान्ति, समता और लोकतान्त्रिक पवित्रताकी रक्षाका एकमात्र मार्ग क्रान्ति ही तो है। अमरीका क्रान्तिसे क्यों डरता है ?

यदि अमरीकन फारमोसा-स्थित सेनाको साम्यवादियोंके विरुद्ध

मैनलैण्ड पर लड़ने भेजते हैं तो क्या उसके परिणामोंका उत्तरदायित्व भी लेते हैं? चियांगकी बात छोड़ दीजिए। लाल चीनकी अपार शक्तिके विरुद्ध मुट्ठीभर राष्ट्रवादी कब तक लड़ेंगे? व्यर्थ ही, गीदड़ोंको शेरों की माँदमें क्यों भेजते हैं? भला, उन दीनहीन सैनिकोंने क्या बिगाड़ा है कि चियांग या अमरीका अपनी झोंक और हठ पर उनका गला कटवायें? लेकिन, यह स्पष्ट है कि अमरीका कोरियाका युद्ध चाहता था और ऐसे अन्य स्थल आज भी चाहता है, जहाँ आसानीसे ज्वाला जल सके।

जनवरी १९५२ में फिलिपाइनके प्रतिनिधिसे अमरीकी ८ वीं सेना के सेनापति जनरल वान फ्लीटने कहा था :—'कोरिया हमारे लिए एक वरदान साबित हुआ है। एक कोरिया तो होना ही चाहिए था। चाहे यहाँ, चाहे दूसरे किसी स्थान पर।"

लेकिन वान फ्लीट भूल गया था कि ऐसे स्थान बहुत कम हैं जहाँ री और मुहम्मदअली (पाक प्रधान) जैसे सर्वेसर्वा हों।

सिंगमन री चालीस साल अमरीकामें रह कर भी, लोगोंके, नकली चुनावोंका विरोध करने पर भी, अध्यक्ष बना दिया गया और अत्याचारका अकाण्ड ताण्डव आरम्भ हो गया।

यदि संसारके सारे समाचार-प्रकाशकोंको प्रचारक मात्र मान लिया जाय और मात्र सिंगमन री की सरकारको ही सत्यकी पुजारिन माना जाय तो भी दक्षिण कोरियाके सरकारी आँकड़ोंके अनुसार जुलाई १९४९ तक री की सरकार-द्वारा ४ लाख ७८ हज़ार व्यक्तियोंको गिरफ्तार किया। इनमें से लगभग १ लाख मार डाले गये और शेषको जेलोंमें डाल दिया गया।

कोरियाके मूलमें डलैस था। १७ जूनको खाइयोंमें जमी दक्षिणी सेनाओंका उन्होंने निरीक्षण किया। दो दिन पश्चात् १९ जूनको दक्षिण कोरियाकी राष्ट्र-सभामें एक 'भयंकर भाषण' दिया, जिसमें उत्तेजनाका विष भरा था। उन्होंने युद्धार्थ री को अमरीकाकी सम्पूर्ण सहायताका वचन खुले शब्दोंमें दुहराया।

इधर १८ जूनको टोकियोमें षड्यन्त्रका चक्र चल रहा था। उसी दिन अमरीकी जंग-मन्त्री जॉन्सन और चीफ़ आफ स्टाफ जनरल ब्रैडले टोकियो पहुँचे और उन्होंने जनरल मेकऑर्थरसे गुप्त मन्त्रणा की। डलैस भी टोकियो आये।

मेकऑर्थर-वार्ताके पश्चात् डलैसने घोषणा की कि सुदूर पूर्वकी शान्ति के लिए अमरीका 'सुनिश्चित कार्यवाही' करेगा।

२५ जूनको जब कि डलैस अभी टोकियोमें ही था, यह सुनिश्चित क़दम उठा। दक्षिणने उत्तर कोरिया पर आग वरसाना शुरू कर दिया। एशियाके सीने पर फिरसे घमासान आरम्भ हो गया।

जान गुंथरने मेकऑर्थरके विषयमें जो पुस्तक लिखी है 'रिडल आफ मेकऑर्थर' उसमें उल्लेख किया है—'२५ जूनकी सुबह हम (लेखक) मेकऑर्थरके स्टाफ़के दो अधिकारियोंके साथ सैरके लिए निक्को गये थे। भोजनके पूर्व उनमें से एकको टोकियोसे फ़ोन पर वुलाया गया। लौटने पर वह वोला, अभी अभी एक विचित्र अध्यायका आरम्भ हुआ। दक्षिण कोरियाइयोंने उत्तरवालों पर आक्रमण शुरू कर दिया है।'

युद्धारम्भके दो दिनमें ही अमरीकी सेनाएँ दक्षिणके पक्षका पोषण करने लगीं। अपने वहुमतके वल पर सुरक्षा-समितिमें अमरीकाने उत्तर कोरियाको आक्रान्ता घोषित कर दिया। यहाँ तक पश्चिमी गुट्ट जल्दीमें था कि उत्तरी कोरियाकी सफ़ाई सुननेका भी उसे अवसर न था। तत्पश्चात् जनरल मेकऑर्थरको कोरियामें लड़नेवाली संयुक्त राष्ट्रीय सेनाओंका प्रधान सेनापति वनाया गया। मास्को और पेकिंगने शान्तिके लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया पर, उनकी आवाज़को अनसुना कर दिया गया।

अमरीकी हस्तक्षेप और नौसेना द्वारा फारमोसाके रक्षात्मक घेरेने स्पष्ट कर दिया कि अमरीका और तत्कालीन प्रेसिडेण्ट, ट्रूमैनकी असली मंशा चियांग काई शेककी सहायता-द्वारा जनवादी चीनको कुचलनेकी कोशिश करना है। भारत और ऐसे ही अन्य मुल्कोंमेंसे, जिन-जिनका शुरूमें यह विश्वास था कि अमरीका कोरियामें सत्यका समर्थक वन कर गया है

और उत्तरी कोरियासे दक्षिणकी रक्षा करने गया है, उन दिनों घटनेवाली घटनाओंसे उनका समस्त भ्रम-जाल टूट गया। अमरीका शान्ति-प्रयासोंका विरोध करता रहा और युद्धको अधिक गतिमान और भयानक बनानेका यत्न करता गया।

इसी समय एशियामें शान्तिकी एक गम्भीर और बुलन्द आवाज़ उठी। पण्डित नेहरूने मार्शल स्तालिन और अमरीकी विदेशमन्त्रीसे अपील की कि दोनों राष्ट्र शान्ति-स्थापनाके लिए प्रत्येक संभव कार्यवाही करें और युद्धकी लपटोंको आगे बढ़नेसे रोकें। यद्यपि भारतने सुरक्षा-समितिमें उत्तर कोरियाके विरुद्ध वोट दिया था पर जल्द ही उसे अपनी भूलका अनुभव हो गया और वह उसे सुधारनेके प्रयत्नमें लग गया।

मार्शल स्तालिनने पण्डित नेहरूके प्रस्तावका हार्दिक अभिनन्दन किया, अनुमोदन किया और पण्डितजीको फ़ौरन उत्तर भी दिया। लेकिन अणु और स्वर्णशक्तिके मदमें मतवाले अमरीकाने आर्यावर्त्त और उसके महान् नेताके शान्ति-अनुष्ठान-आवेदनको पूर्णरूपेण ठुकरा दिया।

तभी फारमोसाका प्रश्न जनरल असेम्बलीमें आया। जिसके विषयमें हम पहले लिख चुके हैं। अमरीकी युद्धपोषकों और मेकऑर्थर-दलने फारमोसाके मामलेको अशान्तिमें पटक रखनेके लिए भरसक प्रयत्न किया और कहीं जनरल असेम्बली कोई समझौता न कर ले, इस उद्देश्यसे अप्रिय एवं कठोर भाषणोंका ताँता बाँध दिया। मेकऑर्थरने अमरीकाके अवकाश-प्राप्त सैनिकोंके नाम जो संदेश दिया, वह तो इतना अनर्गल और उत्तेजनात्मक था कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति नहीं तो सभ्यता, शिष्टता और मर्यादाके सर्वथा विपरीत था। मेकऑर्थरके भाषणोंको यदि उसी प्रकार रहने दिया जाता तो विश्वके प्रांगणमें प्रकाण्ड काण्ड घटित होते, अमरीका भी इन सम्भावनाओंसे भयभीत हो गया और प्रेसिडेण्ट ट्रूमैन ने घोषणा की कि हम मेकऑर्थरके शब्दोंको वापस लेते हैं। तथापि, यह तो स्पष्ट है कि वार वापस नहीं लिया जा सकता। यह एक ही संदेशा नहीं था अमरीकामें प्रतिदिन ऐसे जंग-जगाऊ संदेशे, भाषण और कथन प्रकट होते थे। न केवल

मेकऑर्थर वरन् अनेक सैनिक अधिकारी और सरकारी अफ़सर ऐसे बयान देते रहते थे।

सन् १९५० के १५ और १६ सितम्बरमें, कोरियाई जंगने नई शक्ल अख्तियार की। नौसेनाकी सहायतासे अमरीकी सेनाएँ इंचोनमें उतरीं। इन्हें लानेके लिए इंग्लैंड और अमरीकाके ३०० जंगी जहाज़ों और ५०० से ऊपर हवाई जहाज़ोंने दौड़ लगाई। ४०,००० पैदल सिपाही इंचोन आये। इस प्रकार शीघ्र ही दक्षिण कोरिया पर संयुक्त राष्ट्रीय सेनाओंका अधिकार हो गया। १५ दिन वाद कोरियन पिपुल्स आर्मीने स्वेच्छासे सिओल खाली कर दिया और वह ३८ वीं अक्षांशके उत्तरमें हट गई।

राजनीतिक एवं सामरिक दृष्टिसे यह एक नाज़ुक घड़ी थी। उत्तरी कोरियाकी सेनाओंको ३८ वीं अक्षांशके परे—उत्तरमें हटा देने पर, संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनाओंका काम पूरा हो जाता था।

अब सामरिक दृष्टिसे पूर्वरूपेण स्पष्ट स्थिति स्थापित हो गई थी और राजनीतिक दृष्टिसे भी युद्धके पूर्वकी अवस्था उत्पन्न हो गई थी। अर्थात् कोरियामें युद्धान्त और शान्ति-स्थापनाकी अनुकूल सम्भावनाएँ उत्पन्न हो गई थीं।

लेकिन शायद युद्धान्त और शान्ति-प्रसारणा तो अमरीकी-सरकारका उद्देश्य नहीं था। ट्रुमेन-गुट्टकी नीति थी कि रूस पर हमला भी न करें और अशान्ति बनी रहे। इसके पोषणके लिए ज़रूरी था कि तेज़ तनाव तना रहे। जिसकी आड़में जापान और जर्मनीके पुनःशस्त्रीकरणकी अपनी आकांक्षाएँ पूरी हों और कर-वृद्धि द्वारा अपने वर्गको लाभ पहुँचाया जाय। यदि कोरिया-युद्धका अन्त आता तो "शीतयुद्ध" का जनाज़ा निकल जाता। ट्रुमैन-शासनको अशान्ति इष्ट थी और शान्तिसे भय था, मेकऑर्थर-दलने इस अवस्थासे पूरा-पूरा लाभ उठाया।

इस बीच कोरिया-स्थित अमरीकी फौज़ी हवाई जहाज़ चीनी सीमा का उल्लंघन कर चीनसे छेड़छाड़ करते रहे। १८ अक्टूबर १९५० को चाऊ-एन-लाईने यू० एन० जनरल एसेम्बलीके प्रेसिडेण्ट श्री नसरुल्ला इन्तज़ामको

एक केवल-द्वारा इस विषयक शिकायत की। २८ वीं अक्टूबरको चाऊने पुनः रपट लिखवाई। लेकिन, कौन सुनता?

अमरीकी सेनाएँ प्यांगयांगमें डटी रहीं और उत्तरकी ओर बढ़ती रहीं।

ठीक इसी समय, जब संसारमें किसी ओरसे सत्यको सहायताका सहारा न रह गया तो, अपने घर-बारकी रक्षा और अपने देशके लिए बलिदान होनेके लिए 'चाइनीज़ पेपुल्स वालंटियर्स' दलोंने कोरियाके लिए प्रस्थान किया। इन्होंने जल्द ही अमरीकी और री की १५८०० सेनाको वेकार वना दिया।

८ नवम्बर १९५० के दिन सुरक्षा-समितिने जनरल मेकआँर्थरकी विशेष रिपोर्ट पर वहस करनेके लिए समितियोंके सदस्योंकी एक सभा वुलाई। लेकिन, एक प्रस्ताव-द्वारा साथ ही साम्यवादी चीनके प्रतिनिधिको कोई स्थान देने या उसकी वात सुननेसे साफ़ इन्कार कर दिया। इसके पूर्व कि संयुक्त राष्ट्र-संघ इस उलझी हुई राजनीतिक गुत्थीको सुलझाये या समस्याका कोई निदान खोज निकाले संयुक्त राष्ट्रीय सेनापति पदके मदमें चूर जनरल मेकआँर्थरने १ अक्टूबरको उत्तरीय कोरियाई सेनापतिके नाम आत्म-समर्पणका ऐलान व्राडकास्ट किया। और इस ऐलानके पन्द्रह मिनट पूर्व ही उनकी सेनाओंने अड़तीस अक्षांश पार कर उत्तरी सीमामें प्रवेश किया!

कोरियाई युद्धमें फिर एक नाजुक घड़ी खड़ी हो गई। उस समय भारतीय प्रधानमन्त्रीने वड़े गम्भीर शव्दोंमें ३८ अक्षांश पार न करनेकी चेतावनी दी। भारतने कोरियाई युद्धको 'एक एशियाई सवाल'की दृष्टिसे सदैव महत्त्वसे देखा है। ६ दिसम्वर १९५० को भारतीय पार्लियामेंटमें वोलते हुए पं० नेहरूने कहा—"मैं चाहता हूँ, आप यह याद रखें कि जो कुछ कोरियामें गुजरता है, वह चीनी जनताके लिए वड़े महत्त्वका है। इस तथ्यको तव तक नजरअंदाज़ नहीं कर सकते जव तक कि कोई समस्त चीन और चीनी जनताको ही नजरअंदाज करनेको तैयार न हो जाय। यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि चीनी लोग एक दो मुट्ठी भर नहीं हैं। इसलिए सदैवसे हमारा यह ख्याल और तरीक़ा रहा है कि कोरियाई सवाल विना चीनी सहयोगके

हल नहीं हो सकता। कोरियामें युद्धका चाहे जो फैसला रहा हो और संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएँ चाहे जिस प्रकार लड़ी हों, हमारा शुरूसे ही यह मत रहा है कि चीनको संयुक्त राष्ट्रसंघमें अपना अधिकृत पद अवश्य मिलना चाहिए। इसके पूर्व ३८ अक्षांश विषयक अवस्था पर प्रकाश डालते हुए जवाहरलाल नेहरूने कहा—"जिस उद्देश्यके लिए संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएँ कोरिया गई थीं वह पूरा हुआ और उनकी पूर्ण विजय भी प्रतीत होती है। हमारे पेकिंग स्थित राजदूतने जो रिपोर्ट भेजी है उसके दृष्टिकोणसे हमने इंग्लैंड और अमरीकाकी सरकारोंको अवगत किया है। इस दृष्टिकोणके अनुसार चीनी सरकारका ख्याल है कि यदि अड़तीस अक्षांशको पार किया गया तो चीनी सरकार इसे, अपने विरुद्ध एक ख़तरनाक क़दम मानेगी और सही या ग़लतकी वहसमें न पड़कर उसका पूरा-पूरा मुक़ाबला करेगी, और किसी भी हालतमें उसे वर्दाश्त न करेगी।"

वावजूद पं० नेहरूकी चेतावनीके अमरीकी कमानमें लड़नेवाली संयुक्त राष्ट्रीय फ़ौजोंने ३८ अक्षांशको पार किया। अव क्या था, वहाँ चोट खाये हुए उत्तरीय कोरियाई दल और चीनी वालंटियर दल इन गोरी फ़ौजोंके स्वागतके लिए तैयार खड़े थे। जनरल मेकऑर्थरको मुँहकी खानी पड़ी। और विदेशी सेनाओंको भागने पर भी अपने प्राणोंकी रक्षा करना कठिन हो गया।

जव राष्ट्रवादी चीनके ज़ोर देने पर साम्यवादी चीनको आक्रान्ता घोषित किया गया तव पं० नेहरूने इस ग़लतीका विश्लेषण करते हुए कहा :—"कोई सही या ग़लत हो सकता है परन्तु सवाल यह है कि जव आप विश्व-युद्धके किनारे पर खड़े हों तव एक दूसरे पर कीचड़ उछालने और गाली-गलौज करनेसे क्या फ़ायदा? इसका तो यह अर्थ हुआ कि आप देरसे आने-वाली लड़ाईको जल्दी लाना चाहते हैं। अव एक मात्र संभव तरीक़ा यही है कि हम पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा समस्याको सुलझाएँ। विचार-विनिमय तव तक सही तरीक़े पर नहीं चल सकता जव तक कि चीनका समितिके सदस्योंमें स्वागत न किया जाय।"

लेकिन पं० नेहरूकी इन अहिंसावादी बातोंको कौन सुनने वाला था ? अमरीकी जनरल विचारभ्रष्ट हो चुके थे और यह उनकी समझमें न आता था कि वे चीनी और कोरियाई दलोंके सम्मुख (जिनका नैतिक स्तर बहुत ही ऊँचा था) पराजित भी हो सकते हैं।

किन्तु, पराजय तो अमरीकाकी उसी दिन हो चुकी थी, जब उसने न्याय-की सीमाका उल्लंघन किया था और ३८ वीं अक्षांशकी साड़ी खींचकर चीनी द्रौपदीको नंगा करनेकी ठान ली थी।

इस पापका प्रायश्चित्त विदेशी सेनाओंको अपने खूनसे चुकाना पड़ा और हारकर उन्हें भागना पड़ा। दूसरी ओर जनवादी कोरियाई दलों और चीनी स्वयंसेवकोंकी सेनाओंने नये वर्षके नये मोर्चेके नाम पर री और मेकऑर्थरकी फ़ौजोंको न केवल बुरी तरह हराया, वरन् उन्हें ३७ वीं अक्षांश तक खदेड़ दिया, बहुत-सा इलाका वापस पाया और शत्रुके लगभग बीस हज़ार सैनिकोंको बंदी बनाया।

चीनी और कोरियाई जनताके इस साहसपूर्ण क़दमके एक ही झोंकेने अमरीकी जंगखोरों और उनके जनरल मेकऑर्थरके होश ठीक कर दिये। इसका परिणाम यू० एन० ओ० में शीघ्र ही प्रकट हो गया और यू० एन० पोलिटिकल-कमिटीके अध्यक्षने १३ जनवरी १९५१ ई० को चाऊ-एन-लाई को एक पंचसूत्रीय खरीता भेजा कि किस प्रकार पूरबमें और कोरियामें शान्तिकी स्थापना हो सकती है। इससे साफ़ जाहिर हो जाना चाहिए कि अमरीकी युद्धवासियोंके सर नीचे और पैर ऊपर हो चुके थे और अब वे राष्ट्र-संघ और भारतके द्वारा शान्तिकी बंशी बजानेको अकुला रहे थे। फिर भी, चीनको इसमें क्या उज्र हो सकता था, क्योंकि वह सदासे शान्ति और मैत्रीका इच्छुक रहा है।

इन्हीं दिनोंके युद्धभूमिके इतिहासको ज़रा और सावधानीसे पढ़ना पड़ेगा—भारतकी इस चेतावनी पर कि ३८ वीं अक्षांशको पार न करो और साथ ही १ अक्टूबरको चाऊ-एन-लाईके पेकिंग भाषणको भी जनरल मेकऑर्थरने हँसीमें उड़ा दिया और उन्होंने दुनिया और अपने प्रेसिडेण्टको

यही वतलाया कि ३८ वीं अक्षांश पार करने पर चीन केवल हस्तक्षेपकी धमकी देता है, वास्तवमें वह ऐसा न करेगा और न उसमें ऐसा करनेकी सामर्थ्य ही है।

पाठक पूछेंगे कि मेकऑर्थरने यह चाल क्यों चली? मेकऑर्थरने 'चीनी हस्तक्षेप न होगा'—यह हवाई बात इसलिए उड़ाई कि वह पं० नेहरू और अन्य शान्ति-पसन्द नेताओंकी बातको काटना चाहता था। दूसरे, वह जंग ज़ारी रखना चाहता था, क्योंकि इससे उसके उन साथियों और हिस्सेदारोंको लाभ पहुँचनेवाला था, जो अमरीकामें युद्धके शस्त्रास्त्र वनाते हैं। तीसरे, मेकऑर्थर जैसा प्रतिक्रियावादी फ़ौज़ी आजके वदलते हुए युगकी वदलती हुई जनता और उसकी विकसित भावनाओंको समझनेमें सर्वथा असमर्थ था। मेकऑर्थर जिस अमरीकी वर्गका प्रतिनिधित्व करता था, वह वही वर्ग था जो एक न एक वहाने सोवियत रूस, चीन और भारतको भस्म कर देना चाहता है।

इसलिए मेकऑर्थरने अपने आकाओंको भ्रमके भुलावेमें रखा। उसे यह भी भय था कि शायद, चीनी हस्तक्षेपकी आशंका पर संयुक्त राष्ट्र-संघ उसे 'हमला न करनेका' हुक्म दे।

अक्टूबर १९५० में साम्यवादी सेनाओंने यलू नदी पार कर उत्तरी कोरियामें प्रवेश किया और जल्द ही यलू तटवर्तीय पॉवर-स्टेशनोंके दक्खिन-में उन्होंने सुव्यवस्थित मोरचावन्दी कर ली। इन नेताओंने आगे बढ़कर युद्धमें कोई भाग न लिया। इसका कारण यह हो सकता है कि चीन सं०-रा० सं० की जनरल असेम्वलीके नवम्वरमें होनेवाले अधिवेशनके निर्णयकी प्रतीक्षा कर रहा था। इससे कम-से-कम यह तो साफ़ जाहिर होता है कि चीनकी नीति शान्तिप्रिय थी और वह युद्धके वजाय वार्ता-व्यवहारको महत्त्व देता था। कितना अच्छा होता यदि अव तक चीनको राष्ट्र-संघका सम्मानित सदस्य वना लिया जाता। तो अवश्य ही चीन को पाँच पंचोंका कहना मानना पड़ता और पूर्वीय शान्तिको स्थायित्व मिलता। इसी समय फारमोसाके प्रश्न पर चीनको अपना विचार और अन्दाज़ पेश करनेका

निमन्त्रण मिला। जिसे उसने स्वीकार किया और चीनमें एक प्रतिनिधि-मंडलकी नियुक्ति भी हुई।

लेकिन, जनरल मेकऑर्थरके मनके मनसूबे कुछ और ही थे। उसने २४ नवम्बर के दिन अचानक 'युद्धान्तक आक्रमण' (ऐंड द वार आफ़ेन्सिव) नामक अपना अन्यायपूर्ण हमला कर दिया। और आश्चर्य है कि, इसी तारीखको उपरोक्त चीनी प्रतिनिधिमण्डल अमरीका जानेवाला था। जिस मण्डलको संयुक्त राष्ट्र-संघने अपने यहाँ आनेका आमन्त्रण दिया था, उसे राष्ट्र-संघके जनरलने गोले-गोलियोंका यह तोहफ़ा दिया।

इसका वही परिणाम हुआ जो होना था। शान्ति स्थापित न हुई। और यह प्रकट हो गया कि यू० एन० ओ० में भले, अमरीका शान्तिके गीत गाये, वाहर वह और उसके युद्धकामी आला अफसर वमोंसे वात करते हैं। राष्ट्र-संघके अन्य देशोंकी भावनाओंके विपरीत मेकऑर्थरका युद्ध चलाऊ मनसूवा पूरा हुआ और शान्तिकी सम्भावनाएँ टल गईं।

लेकिन, कोरियाकी यह लड़ाई उतनी आसान न थी जितनी मेकऑर्थर-ने इसे समझ लिया था। २४ नवम्वरके वाद हरएक पल उसकी सेना कटती गई और उसकी फ़ौजें पीछे हटती गईं और उसकी ताक़त घटती गई। यहाँ तक कि ८ दिसम्वर १९५०के शुभ दिन चीनी और कोरियाई सेनाओंकी महान् विजय हुई और जनरल मेकऑर्थरको मुँहकी खानी पड़ी। इसके कुछ दिन पूर्व जव जनरल मेकऑर्थर और ट्रुमैन—यह जान गये थे कि अपराजेय साम्यवादी सेनाओंका सामना करना सरल नहीं है तो, वे दोनों निरन्तर एटम वमकी धमकी देने लगे। इस धमकीका दुनियाके सभी समझदार लोगोंने और पं० नेहरूने प्रवल विरोध किया। चीन पर भी इसका असर पड़ा और उसने निर्भीकतापूर्वक गर्जना की कि 'अणुवमका उत्तर अणुवमसे दिया जायगा।' शीघ्र ही ट्रुमेनने एटमवमकी अपनी धमकीके वयानको वापस लिया। एक ओर युद्धमें उसे भयंकर पराजयका सामना करना पड़ रहा था दूसरी ओर सभ्य संसारके राजनीतिक क्षेत्रोंमें अपमान-जनक स्थितिका दर्शन करना पड़ रहा था। यही समय था कि साम्यवादी

सेनाओंने शत्रु-वर्गकी सेनाके ३६ हज़ार सैनिकोंको सदाके लिए सुला दिया। इस भयंकर पराजयसे सिंगमन री और जनरल मेकऑर्थर की जंगख़ोर नीतिकी रीढ़ टूट गई और चीन और उत्तर कोरिया पर आक्रमण करने वाले हमलावर-गोरे, दक्षिणकी ओर उलटे पैरों पलायन करने लगे।

युद्धमें निरन्तर होती अपनी पराजय और अपनी अन्यायपूर्ण नीतिका उद्‌घाटन देख, अमरीकाके राष्ट्रपति ट्रुमनने ३० नवम्बर १९५० के दिन कोरियाई परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुए, एक बयान में कहा—"पहले-की तरह भले हम हारते रहें, परन्तु राष्ट्र-संघकी सेनाएँ अपने कोरियाई मिशनसे कभी भी विमुख नहीं होंगी।"

इसके एक सप्ताह बाद प्यांगयांग मुक्त कर लिया गया परन्तु इसके पूर्व री और अमरीकी सेनाओंने इस नगरके अनेक नागरिकोंको उड़ा दिया। इस पर जनवादी कोरियाके विदेशमन्त्रीने यू० एन० जनरल असेम्बलीके सभापतिको एक तार भेजा और उपरोक्त अत्याचारकी भर्त्सना की।

इस समय जब कि विजेता साम्यवादी सेनाएँ तूफ़ानकी तरह बढ़ती आ रही थीं और अमरीकी गुट्टके सिपाही प्राणोंको हाथमें लिये भागे जा रहे थे तो अपनी शांतिप्रियता को एक बार और प्रमाणित कर देनेके लिए चीनने रूसके जरिये पाँचवीं यू० एन० जनरल असेम्बलीके सम्मुख कोरियाई सवालको शान्तिपूर्वक सुलझानेका प्रस्ताव रखा। रूसके इस प्रस्तावमें सिफारिश थी कि कोरियाकी भूमि पर स्थित सभी विदेशी सेनाएँ तत्काल हटा ली जायँ और कोरियाई जनताको अपनी समस्या और भाग्यरेखाको सुलझानेका अवसर और अधिकार दिया जाय। लेकिन इस प्रस्तावको विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। इसके कुछ दिनों बाद १२ जनवरी १९५१ को कामनवेल्थ कान्फ्रेन्सने, पं० जवाहरलाल नेहरूके प्रयत्न पर, रूस और चीनके साथ वार्ता चलानेका सुझाव यू० एन० ओ० को भेजा। किन्तु अमरीकी सरकारके पंडे एचिसनने इसे तुरन्त ठुकरा दिया।

—अब तो यह साफ़ जाहिर था कि हारते हुए भी, अमरीका लड़ना

और लड़वाना चाहता है। उसके पक्षके लगभग सवा दो लाख सैनिकोंने हेनाँग नदीके दक्खिनमें उत्तरके खिलाफ़ भारी हमला किया परन्तु उन्हें फौलादी दीवारका सामना करना पड़ा और अगले तीन महीनोंके अन्दर अपने लगभग एक लाख सैनिकोंसे हाथ धोकर अमरीकाको दूसरी बार फिर नीचा देखना पड़ा! इस लड़ाईमें, चिढ़ी हुई अमरीकी सेनाओं और उनके सेनापतियोंने उत्तरी कोरिया पर अमानुषिक अत्याचार किये।

अमरीकाके षड्यन्त्रोंके फलस्वरूप पाँचवीं यू० एन० जनरल असेम्बली-ने १५ फरवरी १९५१ के दिन एक अवैध प्रस्ताव स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप निरपराध चीनको आक्रान्ता घोषित किया गया। इसके दूसरे दिन चीनी विदेश-मन्त्री चाऊ-एन-लाईने एक बयानमें बताया कि पाँचवीं असेम्बलीका यह बयान साफ़ तौर पर साबित करता है कि अमरीकी सरकार और उसके पिट्ठू शान्ति नहीं, जंग चाहते हैं और वे शान्तिपूर्ण समझौतेके मार्गमें रोड़े अटका रहे हैं। इसी विषय पर १६ फरवरीको बोलते हुए स्तालिनने 'प्रवदा' के प्रतिनिधिको बताया कि चीनको 'हमलावर' करार देना एक शर्मनाक फैसला है। इस बातको वही मानेगा जो अपनी ही आत्मा-को धोखा देना चाहता हो। कौन मानेगा कि चीन आक्रान्ता है। वह अम-रीका—जिसने चीनी सरहदको झपट लिया है और ताइवान द्वीप पर कब्जा कर लिया है और चीनी सीमा तक कोरिया पर हमला किया है निरपराध पक्ष है, और वह चीनी प्रजातन्त्र जो कि अपनी ही सीमाओंकी रक्षा कर रहा है और ताइवान द्वीपकी पुनर्प्राप्तिके लिए प्रयत्नशील है—अपराधी और आक्रान्ता है—इसे कौन मानेगा?

ऐसे समय जब कि सारी दुनिया जनरल मेकऑर्थरको कोस रही थी, जनरल मेकऑर्थर कैसे चुप रहता। उसने न केवल अन्तर्राष्ट्रीय विषयोंके विपरीत विष-वमन आरम्भ किया, वरन्—ट्रूमेन गुट्टके ख़िलाफ़, रिप-ब्लिकन दलके पक्षमें, खुले आम अपना समर्थन स्थापित किया। जनरल मेकऑर्थरकी इस आत्मघाती नीतिको देखकर और उसके एक बयानसे नाराज़ होकर, प्रेसिडेण्ट ट्रूमैनने उसे हटा दिया। उसके स्थान पर मेथ्यू
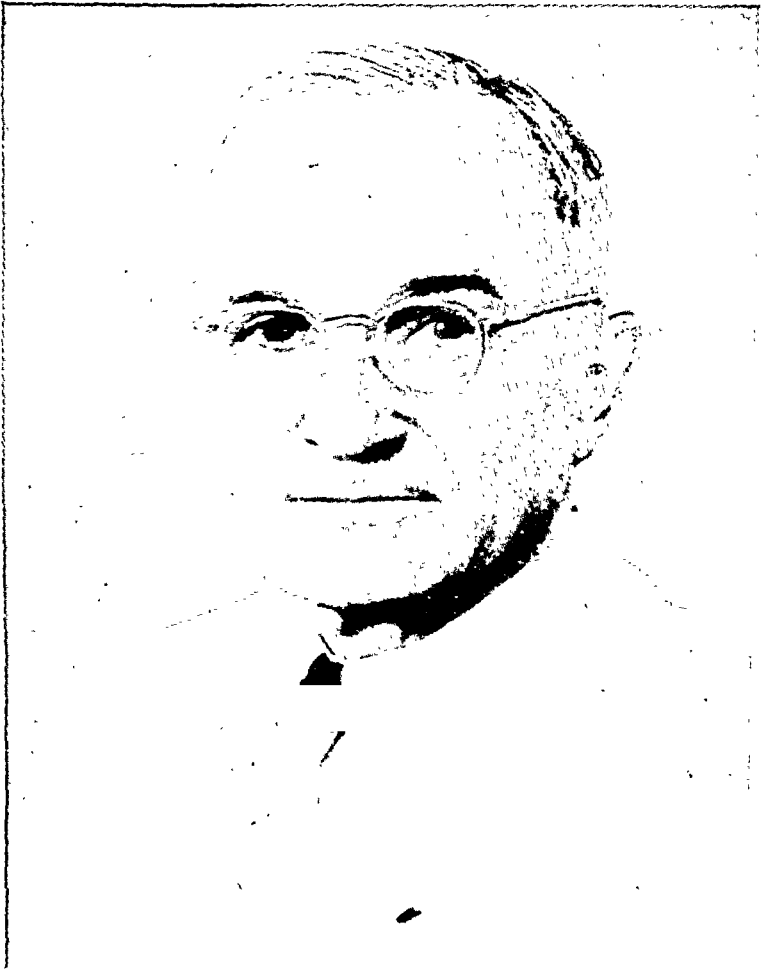
अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री ट्रूमेन

वी० रिज्वेकी नियुक्ति हुई। रिज्वेके आने और मेकऑर्थरके जानेसे, अमरीकाकी कोरिया-नीतिके अमलमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। परिवर्तन-का नाटक अवश्य किया गया और ट्रूमेननने कोरियाई शान्तिके पूर्व, तीन शर्तें रखीं :—(१) लड़ाई बन्द होनी चाहिए।

(२) ऐसी व्यवस्था हो कि कोरियामें फिर युद्ध न छिड़ जाय।

(३) आक्रमणकी समाप्ति।

२३ जून १९५१ को सोवियत प्रतिनिधि श्री जेकब मलिक ने यू०-एन० ओ० के सूचना-विभाग द्वारा आयोजित "शान्तिका मूल्य" शीर्षक कार्यक्रमके अन्तर्गत भाषण देते हुए, कोरियाके शान्ति-सन्धि विषयक सुझाव इस प्रकार रखे :—

(१) दोनों लड़ाई बन्द करें, उसके बारेमें वार्ता-व्यवहार चलायें।

(२) दोनों पक्ष ३८ वीं अक्षांशसे सेनाएँ हटा लें।

श्री जेकब मलिककी ये शर्तें ट्रूमेनकी शर्तोंकी छाया मात्र थीं। इनमें चीनी शर्तोंको कहीं स्थान नहीं दिया गया था। अब तो अमरीकाके लिए कठिन अवसर उपस्थित हो गया। उसे अपनी ही शर्तोंमें "जाल" और "काल" दिखाई दे रहा था।

—क्योंकि यदि चीन या रूस इन शर्तोंको मान लेता है तो अन्तर्राष्ट्रीय अशान्तिका अंत हो जाता है। अमरीकाने तो यह सोच कर ये शर्तें रखी थीं, कि चीन या रूस सहमत न होंगे और अशान्ति बनी ही रहेगी और दुनियासे कह सकेंगे कि हम कितन अमनपसन्द हैं।

जुलाईके आरम्भमें काएसोंगमें वार्ता आरम्भ हुई। सर्वप्रथम अमरीकी प्रतिनिधिने यह कहा—"युद्ध उस समय तक जारी रहेगा जब तक पूरी शर्तों पर समझौता नहीं हो जाता।" कुछ ही दिन पूर्व ट्रूमैननने युद्धबन्दीको प्रथम शर्त बताया था। २६ जुलाईको एजेंडा निश्चित हो गया और युद्ध-विराम रेखा निश्चित करने के लिए विचार-विमर्श प्रारम्भ हुआ।

उत्तर कोरियाई-चीनी पक्षने ३८ वीं अक्षांशको विराम-रेखा मानने-का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। एडमिरल जॉयने इसे अस्वीकार कर दिया।

वार्तामें तो वे आग्रह करते रहे कि विराम-रेखा अक्षांशसे २६-४० मील ऊपर है। किन्तु बाहर प्रचार करते रहे कि वर्तमान मर्चे पर विरामरेखा निश्चित करना चाहते हैं और साम्यवादी उसे स्वीकार नहीं करते। इस असत्यको प्रकट होते देख १४ अगस्तको रिज्वेने कहा—वर्तमान मोर्चेकी पंक्ति पर युद्ध-विराम होना चाहिए। दूसरे दिन प्रमुख उत्तर कोरियाई प्रतिनिधि जनरल नामइल्की सहमति पर इसे अन्तिम स्वरूप प्रदान करनेके लिए, प्रश्नको एक उप-समितिके हवाले कर दिया गया।

आशा बँधी कि समझौता समीप है। लेकिन अमरीका अपनी अड़ंगे-बाजीके रवैयेको छोड़नेके लिये तैयार न था। अमरीकी पूँजीके मुखपत्र "वालस्ट्रीट जर्नल" के इस कथनसे अमरीकी-विचार पर प्रकाश पड़ता है:—

"अमरीकी विदेश-विभाग रूसी शान्ति रणनीतिको इस प्रकार देखता है: रूसी चार सितम्बरको सानफ्रान्सिस्कोमें आरम्भ होनेवाली जापानी शान्ति-सन्धि वार्ताको स्थगित करना चाहते हैं। कान्फ्रेन्ससे पूर्व ही, कोरियाई-युद्ध-बन्दी चीनी साम्यवादियोंको अच्छे रूपमें पेश करेंगे और संभव है कि सानफ्रान्सिस्कोमें उन्हें कुछ वोट भी दिला दें। अमरीकाको चाहिए कि, कोरिया-वार्तामें उतनी अधिक माँग करे, जितना कभी भी कम्युनिस्टों-द्वारा दिये जानेकी अपेक्षा नहीं करते। साम्यवादियों-द्वारा सम्पूर्ण समर्पणको छोड़कर, विदेश विभाग तब तक किसी युद्ध-स्थगन-सन्धि-को पसन्द न करेगा, जब तक सानफ्रान्सिस्को सम्मेलन समाप्त न हो जाय।"

कोरिया-युद्ध और उक्त जापानी शान्ति-सन्धिका यह सम्बन्ध महत्त्व-पूर्ण है। कोरिया-युद्ध ही इस सन्धिको सम्भव बना सकता था। रूस और चीनकी बात तो दूर, स्वयं ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और भारत आदि भी इस सन्धिके विरुद्ध थे।

इस सन्धिमें जापानको पुनःशस्त्रीकरणकी छूट, युद्ध-हर्जानेसे छूट एवं पुनः औद्योगीकरणका अवसर दिया गया था। तर्क यह था कि इसके फलस्वरूप अमरीकाका सैनिक और आर्थिक भार हल्का हो जायगा।

लेकिन जापानको चीनके साथ व्यापारसे विमुख रखनेका अर्थ था, उसे ब्रिटेन और भारतके व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वीके रूपमें खड़ा करना और वह भी उन्हींके पूर्वीय क्षेत्र में। अमरीकाको सैनिक अड्डे देकर जापानको भारी मूल्य चुकाना पड़ा। कोरिया-युद्धके समाप्त होने पर यह सर्व सम्भव न होता, और रूस, चीन, भारत आदि को लेकर एक वास्तविक और उचित शान्ति-सन्धि जापानके साथ करनी पड़ती। इसीलिए सानफ्रान्सिस्को-सम्मेलनसे पूर्व अमरीका कोरियामें युद्ध-विरामके पक्षमें नहीं था।

फलस्वरूप एक ओर वार्तामें, टालमटोल जारी रही और दूसरी ओर अनावश्यक भीषण युद्ध चलता रहा।

सन्धिवार्ताके आरम्भ होने पर भी, इस युद्धके जारी रहनेकी आलोचनाओंके उत्तरमें जनरल वान फ्लीटने कहा :—

"यह आवश्यक था कि ८ वीं सेना क्रियाशील बनी रहे. . .मैं अपनी सेनाको कोमल और सुस्त नहीं होने दे सकता था।. . .इन आक्रमणोंमें सं० रा० सेनाएं अपने काममें लगी हुई हैं—और शनैः शनैः अपने युद्ध-व्यवसायको सीख रही हैं।" और—"८वीं सेना अधिकाधिक एक युद्ध-पाठशालाके रूपमें उपयोग की जा रही है।" अब तक कोरियाको "मुक्त" किया जा रहा था, अब ज्ञात हुआ कि वे उस अभागे देशको युद्धकी ट्रेनिंगका स्थान बनाये हुए थे—शायद तृतीय महायुद्धकी ट्रेनिंगका?

अब वार्ता-प्रतिनिधियोंके सम्मुख युद्धबन्दियोंके परिवर्तनका प्रश्न विचाराधीन था। अमरीकी प्रतिनिधिने बताया कि १,३२,००० युद्धबन्दी उनके अधीन हैं, फिर कहने लगे कि १,१६,००० ही हैं। परिवर्तनके प्रश्न पर उन्होंने जिद्द की कि जो लोग वापस जाना नहीं चाहते, उन्हें लौटने पर विवश न किया जाय।

और इस आशयको लिये हुए अमरीकियोंने युद्धबन्दियोंकी "जांच" आरम्भ की। इसकी आड़में उन पर अमानवीय अत्याचार किये कि वे वापस जाना अस्वीकार करके दक्षिणी कोरियाई सेनामें, या चीनी हैं, तो

चियांगके साथ भरती हो जायँ। इन अत्याचारोंका विरोध करने पर, क़ैदियोंको गोलियों, वमों और संगीनोंका शिकार वनाया जाने लगा।

इन असह्य अत्याचारोंसे तंग आकर कोजे द्वीपके एक बन्दी-शिविरमें वन्दियोंने ७ मईको कोजेके कमान्डेन्ट ब्रि० जनरल डॉडको हिरासतमें ले लिया। उन्हें छुड़ानेका कार्य ब्रि० काल्सनको सौंपा गया।

जनरल काल्सनने युद्धवन्दियोंको आश्वासन दिया कि "वन्दियोंकी जवरिया जाँच और पुनः हथियारवन्दी वन्द की जायगी।" स्वीकार किया कि खून-खराबीके अनेक उदाहरण हैं जिनमें "अनेक युद्धवन्दी सं० रा० सेना-द्वारा मारे और घायल किये गये हैं।" और आश्वासन दिया कि यह अत्याचार बन्द हो जायगा और वन्दी "भविष्यमें मानवीय व्यवहारोंकी आशा कर सकते हैं" इससे, भली प्रकार ज्ञात हो जाता है कि वन्दियोंके साथ कैसा व्यवहार किया गया था।

लेकिन, उच्चतम अधिकारियोंकी अनुमतिसे दिये गये इन आश्वासनों-को भी रद्दीकी टोकरीमें फेंक दिया गया। मईके अन्तिम दिनोंसे जूनके मध्य तक लगातार अमानवीय अत्याचारोंका नग्न ताण्डव जारी रहा।

कोजेमें पुनः जवरिया जाँच आरम्भ की गई। आरम्भमें वतलाया गया कि ५० प्रतिशत बन्दी लौटना नहीं चाहते। अन्तमें यह स्वीकार किया गया कि ८०,०००में से ७८,००० अव भी वापस जानेके पक्ष में हैं। इस वातने अमरीकी अधिकारियोंकी "सचाई"को असली रूपमें पेश कर दिया।

१९५२के मध्यमें भारतने समझौतेकी सम्भावनाका पुनरन्वेषण प्रारम्भ किया और पं० नेहरूने एक वयानमें वतलाया कि भारत "अपनी सेवाएँ" प्रस्तुत कर प्रसन्न होगा।

लेकिन इस वयानके दो ही दिनों वाद २३ जून १९५२के दिन अमरीकी वममारोंने यलू नदी पर स्थित सुइहो और अन्य विजली-घरोंको वरवाद कर दिया। अमरीकाको आशा थी कि वह उत्तरी कोरियाई जनता और चीनी स्वयंसेवकोंके अटूट साहसको तोड़ सकेगा। इस आशामें अमरीकी

अधिकारी इस सीमा तक बौखला गये थे कि वाशिंगटनके सुरक्षा-विभागके एक अधिकारीने कहा—"यलू नदीके बिजलीघरों पर हमने जो सफल हमला किया है, उसके फलस्वरूप हमें पान्मुन्जोममें युद्ध-विराम वार्ताओंमें अनुकूल सहायता मिलनेकी पूरी आशा है।"

केवल इसी भीषणताके प्रदर्शन पर ही अमरीकाको सन्तोष न हो गया वरन् अमरीकाकी पाँचवीं वायु-सेनाके प्रधान कार्यालय-द्वारा यह घोषणा की गई कि वह उत्तरी कोरियाके ७८ शान्तिप्रिय क़स्बों पर पूरी ताक़तसे बम बरसायगा। यही हुआ।

और इसके पश्चात् १६ सितम्बर १९५२के दिन चीनी-कोरियाई पक्षने आम जनताके सामने अमरीकी वायुसेनाके कार्यकर्ता और युद्ध-बन्दी ओनील और नीसको पेश करके साबित कर दिया कि अमरीकी वायुयानोंने कोरियामें "कीटाणु युद्ध" चलाया है।

पं० नेहरूने यलूके बिजलीघरों पर आक्रमण होनेवाले दिन ही भारतीय संसद्में कहा—"मैं बड़ी हैरानीमें हूँ कि, जब युद्ध-बन्दियोंके प्रश्न पर उपस्थित गति-अवरोधको दूर करनेके लिए, बड़ी नाजुक बातचीत चल रही है, तब यलू-बिजलीघरों पर बम बरसानेकी यह अति उत्तेजनात्मक कार्रवाई क्यों की गई?" और ५ अक्टूबर १९५२को अमरीकियोंने युद्ध-विराम-वार्ताके दिखाऊ नाटक पर भी पर्दा डाल दिया और एक बार फिर शान्तिके मसलेको अशान्तिके खण्डहरमें दफ़ना दिया!

लेकिन, सन् १९५२ का अन्त होते न होते, विश्व लोकमानसमें शान्तिकी मंगल-कामना पुनः इस वेगसे उठी कि अमरीकी राष्ट्रपति-पदके लिए लालायित जनरल आइज़नहावर भी प्रभावित हुआ और उसने अपने चुनाव-प्रचारकार्यके लिए शान्तिके नारेका प्रयोग किया और पुकार कर कहा, "राष्ट्रपति बन कर मैं कोरियाई युद्धका अन्त करवा दूंगा और, निर्वाचको! तुम्हारे लाड़ले बेटोंको कोरियाई-मैदानोंसे घर वापस बुलवा दूंगा।" लोगोंने यह बात मान ली।

अब प्रेसिडेण्ट आइज़नहावरने फरवरी १९५३में अपनी चाल बदली

और "एशियावासियोंसे एशियावासी लड़ें"की नई नीति और नया नारा दिया। परन्तु, १८ फरवरीके दिन पं० नेहरूने ऐसी नीतिके विरोधमें कहा :—"अमरीकामें दिये गये कुछ बयानोंने गम्भीर चिन्ता और हालत पैदा कर दी है. . . .और उनका बड़ा खराब असर पड़ा है। ये चीनकी घेरेबन्दीके बाद शान्तिको निकट लानेवाली बातें नहीं हैं।"

अब चीन, रूस, भारत और कुछ देशोंके प्रयत्न पर ८ जून १९५३ को युद्धबन्दियोंके प्रश्न पर समझौता हुआ और युद्ध-विराम सन्धिके अनुकूल वातावरण तैयार हो गया। इस पर भी वे शक्तियाँ काम करती रहीं जो संसारको युद्धके दावानलमें झुलसा देना चाहती थीं। इनमें हमें अमरीका-का नाम लेना पड़ेगा, क्योंकि अमरीकाने २५ हज़ार युद्धबन्दियोंको डा० री के जरिये रिहा कर दिया। इन बन्दियोंको कम्युनिस्टविरोधी कहा गया और इस बहाने उन्हें आज़ाद कर दक्षिण कोरियाके हवाले कर दिया गया। शान्तिके शत्रुओंका ख्याल था कि इस भयंकर क़दमसे चीन भड़क उठेगा और प्रहार करके युद्ध-विराम-सन्धिका उल्लंघन करेगा। यह सत्य है कि चीनको यह विश्वास-घातक जंग-परस्त चाल अपमानजनक और घृणित मालूम हुई परन्तु अवसर ऐसा न था कि शत्रुको—जो लड़नेके लिए बावला हो रहा था और जो चीनको लड़ाकू बताकर बदनाम करनेके लिए उतावला हो रहा था—उसका इच्छित अवसर दिया जा सके। दूसरे, भारतने इस दुर्घटना पर भी चीनसे शान्ति और सहनशीलताको धारण करनेकी प्रार्थना की, जिसे चीनने अपने हितचिन्तक बन्धुकी सलाह मानकर यथावत् स्वीकार किया। इस प्रकार, अन्तिम बार फिर जंगकी साजिश नाकामयाब हुई और शत्रुको पीछे हटनेके लिए मजबूर होना पड़ा। उसकी इस मजबूरी, और उसकी इस पराजयने साबित कर दिया कि संसारमें शान्तिकी ताक़तोंके सामने जंग और नफ़रत फैलानेवाले समुदाय सर्वथा निर्बल और निकम्मे हैं। मनुष्य सदासे शान्तिमें रहनेकी कामना करता आया है और इन्सान अमनपसन्द है, जंगपरस्ती उसका मजहब नहीं और युद्ध उसका धर्म नहीं!

कोरियाकी उपरोक्त करुण कहानीके ऐतिहासिक एवं राजनीतिक विवेचन-द्वारा हमारे सम्मुख नीचे लिखे हुए सूत्र अधिक स्पष्ट रूपसे उजागर हो जाते हैं :—

(१) अमरीकाका यह भ्रम है कि राष्ट्रवादी चीनी चीन देश पर फिरसे अधिकार प्राप्त कर सकते हैं?

(२) अमरीकाका यह भ्रम हैं कि वह नये युगके एशियावासियोंको एशियावासियोंसे लड़ानेमें सफल हो सकता हैं। एशियावासी पश्चिमकी फूट फैलानेवाली नीति-रीतिको भली भाँति पहचानते हैं और उनकी जाल-भरी चालमें नहीं आ सकते।

(३) एशियामें साम्राज्यवादके लिए जगह नहीं है।

(४) आजका एशिया अजेय हैं, उसे पहलेकी तरह विजित नहीं किया जा सकता, उस पर कोई बाहरी ताक़त हुकूमत नहीं कर सकती।

(५) एशियाकी जनसंख्या इतनी अनन्त हैं और इस प्रकार बिखरी हुई है कि एशियाके चीन या भारत जैसे राष्ट्रको अणुबमका भय नहीं दिखाया जा सकता, न उससे डराया ही जा सकता हैं।

(६) पश्चिमके पास चाहे कितने ही आधुनिकतम हथियार हों, पर अपनी आज़ादी और सत्यकी रक्षाके निमित्त एशियावासी अकेला ही अपने "न कुछके बराबर" हथियारोंके सहारे लोहा लेनेको तैयार है।

(७) एशिया शान्ति, और स्थायी शान्ति चाहता है। युद्धपरता एशियावासियोंके रक्तमें ही नहीं है।

(८) योरप और अमरीकाके युद्धपसन्द नेता यदि 'विनाश' चाहते हैं, तो एशियाके जागृत नेता 'निर्माण' चाहते हैं।

अन्तमें जुलाई १९५३ की २७ तारीख़को सुबह १० बजे कोरियामें युद्ध-विरामकी सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। फलतः मार्शल किम इल् सुंग-ने कोरियाई सेनाको और जनरल पेग तेइ-हुआईने चीनी स्वयंसेवकोंको युद्धवन्दीका हुक्म दिया। लेकिन, सिंगमन रीने घोषणा की—"मैंने युद्ध-विराम-सन्धिका पूरा विरोध किया है।" लेकिन जब रीके प्रभुओंने सन्धि

पर हस्ताक्षर कर दिये तो, रीकी बातको कौन सुनता? रीको विराम-घोषणाके २४ मिनट पूर्व सूचना दी गई थी। युद्धके दरमियान, युद्धसे पहले और शान्तिवार्ताके वक़्त भी दक्षिण और उसके साथी यही दावा करते रहे कि हम सचाई, समता, स्वतन्त्रता और कोरियाई एकताके लिए लड़ रहे हैं। जिस कोरियाकी एकता और आरामकी चिन्तामें दक्षिणवाले दुबले हुए जा रहे थे, उस पर लाखों बम बरसाये गये। कीटाणु छोड़े गये। अकाल, महामारी, हत्या और अत्याचारका नाच वहीं हुआ। कोरियाकी लहलहाती हरी धरतीने मसानकी काली चादर ओढ़ ली। बूढ़ी औरतें और बूढ़े मर्द अपनी पीठ पर घर-बार लादे मीलों भटकते खानाबदोश हो गये। फिर भी, यह नारा बन्द न हुआ कि हम कोरियाई एकताके लिए लड़ रहे हैं, अमन और अवामके लिए लड़ रहे हैं। गला काटकर जिलानेका जादू कोई अमरीकासे सीखे!

अब हम यह देखेंगे कि पश्चिमी राजनीतिने कोरियामें जो महानाश सुलगाया था, उसकी ज्वालाओंने क्या क्या न जला डाला!

(क) कोरियाई युद्ध ३ वर्ष और ३३ दिन चला।

(ख) इससे सारा प्रायद्वीप श्मशान बना और दोनों ओरके मिलकर, २३ लाख व्यक्तियोंको प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा।

(ग) युद्धजनित अवस्थाओंके प्रकोपसे दक्षिण कोरियामें ४० लाख आदमी मर गये।

(घ) कोरियाके एक करोड़ नागरिक बेघरबार हो गये।

(ङ) मित्रराष्ट्रोंने बममारी-द्वारा उत्तर कोरियाके गाँव, क़स्बे और सूचना-साधनोंको मिट्टीमें मिला दिया।

लेकिन कोरियामें एंग्लो-अमरीकन गुट्टका साजिश भरा सपना धूलमें मिल गया! अमरीकाका सपना था कि कोरियामें पैर जमा कर रूस और चीनको उलट दिया जाय। वह एशियाकी धरती पर जंगी अड्डे बनाना चाहता था। फारमोसा और जापान उसके अधिकारमें थे ही। कोरियामें युद्धका आरम्भ कर अमरीकाके जंगबाज-धन्नासेठ लड़ाईका सामान बनानेमें

जुट गये। युद्धके भूतका भय पहले ही फैला दिया गया था। अब जंगीमाल-का ढेर लग गया।

फ्रांससे भी कहा गया कि हिन्दचीनमें लड़ो। शस्त्रास्त्रोंकी चिन्ता न करो, हमसे ख़रीदो, पैसा नहीं है तो उधार ख़रीदो, फ्रांक नहीं हैं तो, डॉलर तो हैं। ईरानमें भी यही चालें चलीं। योरपमें अमरीकी कमानमें एक बड़ी सेना तैयार की गई। युगोस्लावियाको भी अपने त्राता और रक्षक रूसके विरुद्ध भड़कानेकी कोशिश की गई। तुर्की और यूनानमें अमरीकी जंगी झण्डा गाड़ दिया गया। पाकिस्तान तो ज़रख़रीद दासकी तरह पिछलग्गू था ही। इराक़का भी यही हाल था। गोआमें करोड़ोंकी लागतका जंगी सरंजाम अमरीकी देखरेखमें आया। कई देशोंको स्पेनसे मित्रता करनेके लिए मजबूर किया गया। ट्रीस्टके मामलेको लेकर इटली-को उभाड़ा गया और उसे युद्धके लिए लैस हो जानेको बाध्य कर दिया गया। स्वेज़ नहरको लेकर ऐसी चालें चली गई कि मिस्रको बाक़ायदा जंगी तैयारियाँ करनी पड़ीं। पश्चिमी जर्मनी पर भी सामरिक सुसज्जाके लिए दबाव डाला गया। काश्मीरके लिए भारतके जवाहरलाल नहरूको हर तरहसे परेशान और क्रुद्ध करनेकी कोशिशें की गई (पर वे बेकार साबित हुई)। पश्चिमकी राजनीतिका जो चक्र सारी पृथ्वी पर चक्रवर्तीके अश्वकी तरह घूम आया, वह नई दिल्लीके आँगनमें पंगु हो गया।

और आज कोरियाई सबक़से फिरंगी बेक़रार हो गया। उसके लिए कोई ऐसी दिशा और दशा न रही, जहाँ वह बढ़ सके और अपने साम्राज्यकी पताकाएँ फहरा सके। इधर विश्वकी राजनीतिक परिस्थिति इस प्रकार पलटती जा रही है कि अमरीका बौखलाता जा रहा है। प्रतिदिन उसे अपनी राजनीतिक भूलें महसूस होती जा रही हैं, और कालप्रवाह उसके शासकोंकी आँखमें उँगली डालकर दिखा रहा है कि युगकी चालको देखो, पवनके प्रवाहको देखो। मिस्र, ईरान, फ्रांसीसी उत्तरी-अफ्रीका, मलाया, हिन्द-चीन, हिन्देशिया और अल्जीरिया सब जगह पांसे उलटते गये। इन देशोंमें जागरणके अपूर्व ज्वार उठ रहे थे, उठ रहे हैं और इन्क़िलाबी ताक़तें

सैलावकी तरह बढ़ रही हैं और डॉलरके परकोटे इन ताक़तोंको रोक रखनेमें तिनकेकी बाड़ोंकी तरह निकम्मे सावित हो रहे हैं।

लड़ाई इन्सान और उसके बेटेके लिए डायन है और इन्सानका बेटा लड़ाकू-सिपाही वन कर इस डायनकी ग़ुलामी करनेसे इन्कार करता है। उसकी संगीन शान्तिके शत्रुओंके विरुद्ध तनेगी और उसकी आवाज़ और शक्ति—रोज़ी-रोटी, मासूम वच्चोंकी रक्षा, लहलहाती फ़सल और गुलावके ताज़ा फूलोंकी रौनक वनाये रखनेमें खर्च होगी।

युद्ध मृत्यु है, शान्ति अमृत है। मनुपुत्र मृत्युसे अमृतकी ओर जायगा। यही उसकी परम्परा है, वह अपनी परम्पराका प्रहरी वनेगा!

# पुण्यभूमि भारत

## राष्ट्रगीत

जन गण मन अधिनायक जय हे
भारत भाग्य विधाता
पंजाब सिन्धु गुजरात मराठा
द्राविड़ उत्कल बंग
विन्ध्य हिमाचल यमुना गंगा
उच्छल जलधि तरंग
तव शुभ नामे जागे
तव शुभ आशिष माँगे
गाहे तव जय गाथा
जन गण मंगल दायक जय हे
भारत भाग्य विधाता
जय हे! जय हे! जय हे!
जय जय जय हे!

# प्राचीन भारतकी प्रजातन्त्रीय परम्परा

विदेशी इतिहासकारोंने भारतीय इतिहासके प्रति सदैव अन्याय किया है। राजनीतिक षड्यन्त्रोंसे प्रभावित होकर उन्होंने हमारे गौरवपूर्ण अतीतको यथाशक्य अन्धकारमय बतानेका प्रयास किया हैं। जिन अनेक ऐतिहासिक तथ्योंको उन्होंने दबा देना चाहा, उनमें हमारी प्रजातन्त्रीय परम्पराकी कहानी भी है। "असभ्य" तो वे हमें न बता सके परन्तु इसमें अवश्य सफल हुए कि प्राचीन भारतमें पर्याप्त रूपमें अराजकता थी, देशमें समय-समय पर एकतन्त्र तानाशाहीका बोलबाला रहा, पारस्परिक फूट और वैर-विरोधके अतिरिक्त और कोई "गुण" हममें नहीं था।

रोम और यूनानके हम गुरु रहे। अनादि कालसे योरप हमारा शिष्य रहा। मेक्समूलर-जैसे इनेगिने पंडितोंने इसे स्वीकार किया, शेष पाश्चात्य विद्वानोंने इसे ढँक कर गाड़ देना आवश्यक समझा। रोम और यूनानमें प्रजातन्त्रका अस्तित्व पाकर वे फूले नहीं समाते और इन्हीं दो देशोंको प्रजा-तन्त्रके पोषक प्रमाणित करनेका अनीतिपूर्ण प्रयत्न करते हैं।

लेकिन ये इतिहासकार जानकर भी अनजान हैं कि जब रोम और यूनानके वासी वनान्तरोंमें अर्द्धनग्न अवस्थामें विचरण करते थे, हमारे पूर्वज आश्रमोंमें वेदोंके गीत गाते थे। रोम और यूनानको हमने सभ्यता प्रदान की, हमने उन्हें प्रजातन्त्रका मन्त्र दिया। प्रसिद्ध यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ने ईसासे पाँच शताब्दी पूर्व भारतमें गणतन्त्र होनेका उल्लेख किया है। वह लिखता है—"ईसाके ४०० वर्ष-पूर्व भारतमें कई लोकतन्त्र राज्य थे।"

डायोडोरस् नामके दूसरे यूनानी विद्वान्ने इसी विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "पाटनका विधान स्पार्टाके विधानसे मिलता था।"

पाटनका गणतन्त्र भी ईसा मसीहसे ४०० वर्ष पूर्व वर्तमान था।

स्पार्टाका विधान उससे मिलता था। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन स्पार्टावासी अपने विधानके विषयमें भारतीयोंसे प्रभावित हुए थे।

इन तथाकथित रोमन और यूनानी प्रजातन्त्र राज्योंकी महिमा देखिए—यद्यपि शासक राजा उनमें प्रवल नहीं थे परन्तु राजकीय सत्ता कतिपय आभिजात्य कौलिन्योंकी कठपुतली थी। मताधिकार तो था ही नहीं, देशमें दासताका प्रावल्य था। यह कैसे प्रजातन्त्र थे? बिना सामाजिक स्वतन्त्रताके, प्रजातन्त्रका अस्तित्व कैसा? ऐसे प्रजातन्त्रमें जनतन्त्रका स्थान कहाँ? बी० टी० वाशिंगटन लिखता है:—"काला आदमी जो स्नेह और सहानुभूतिसे परे रहकर गोरेके पास जाता है: अर्द्ध स्वतन्त्र-आधा गुलाम है और गोरा आदमी जो कालेको पद-दलित रखकर अपना विकास चाहता है—आधा गुलाम है।"

संसारका सर्वप्रथम गणराज्य पुण्यभूमि भारतवर्षमें स्थापित हुआ था। पवित्र महाग्रंथ अथर्ववेदमें उसका उल्लेख पाया जाता है:—

"विराट् वा इदमग्र आसीत्। तस्यां जातायां सर्वमविमेत्। इयमेवेदं भविष्यतीति ॥१॥

सा उदक्रामत्, सा सभायां न्यक्रामत् ॥८॥
सा उद्क्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥१०॥
सा उद्क्रामत् सा आमन्त्रणे न्यक्रामत् ॥१२॥

—अथर्व ८।१०।

महर्षि वशिष्ठके नेतृत्वमें जनताका सहयोगी समाज अपनी व्यवस्था करता था। व्यक्तिकी स्वतन्त्रता, सुरक्षा और सुविधाके साथ ही समाजकी मर्यादा वशिष्ठने स्थापित की थी। जिस प्रकार बिगड़ी हुई गौओंके समुदायमें गोपालककी लाठी आवश्यक होते हुए भी अपर्याप्त होती है, उसी प्रकार अस्तव्यस्त समाजमें सुशासन न होनेसे नेताओंके निर्देशनको लोग बच्चोंका खेल समझने लगते हैं। कहते हैं, आर्यावर्तकी ऐसी अवस्थामें महर्षि वशिष्ठने नेतृत्व किया और राष्ट्रको एकता और स्वशासनकी सुव्यवस्थाके अन्तर्गत समर्थ बनाया:—

"दण्डा इवेद् गो अजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः अभवच्च पुरे एता वसिष्ठः। आदिदत नृत्सूनां विशो अप्रयन्त ।।"

ऐतरेय ब्राह्मणमें आठ प्रकारके राज्य बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(१) साम्राज्यं।
(२) भौज्यं।
(३) स्वराज्यं।
(४) वैराज्यं।
(५) पारमेष्ठ्यं राज्यं।
(६) महाराज्यं।
(७) आधिपत्यं।
(८) समन्तपर्यायी।

इन आठ प्रकारके राज्योंके उपरान्त हमारे पूर्वजोंने "वन वर्ल्ड गवर्नमेण्ट"के अन्तर्गत "विश्वके एकराट्"का विधान किया था। इस दृष्टिसे वन वर्ल्ड गवर्नमेण्टका सिद्धान्त पश्चिमके लिए नया भले हो, भारतके लिए नया नहीं है। विश्वके एकराट्के "शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य"की छायामें हमने विश्व-बन्धुत्व और "वसुधैव कुटुम्बकम्"की कल्याणी कल्पना-कामना की थी।

वैदिकसे बौद्ध-साहित्य तक, हमें प्राचीन प्रजातन्त्र राज्योंके पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। पुरातन आर्यावर्तसे गुप्तकालीन भारत तक, प्रजातन्त्रीय पद्धति-द्वारा शासन होनेके उल्लेख मिलते हैं। श्री ए० एस० अल्तेकर लिखते हैं :—"प्रजातन्त्रकी पद्धति पंजाबमें कई शताब्दियों तक रूढ़ थी। इस प्रान्तमें अनेक प्रजातन्त्र राज्य देखकर सिकन्दर बादशाह और यूनानी लेखक चकित हो गये थे। जलालाबादके पास न्यासा नामक नगर था, वहाँ प्रजातन्त्र प्रचलित था, ऐसा यूनानी लेखक कहते हैं। पूर्वी पंजाबमें भी एक बड़े शक्तिशाली प्रजातन्त्रका उल्लेख उन्होंने किया है। वह प्रजातन्त्र यौधेयोंका था। मालव, क्षुद्रक आदि देशोंमें भी जो प्रजातन्त्र

प्रचलित थे, उनका उल्लेख यूनानी इतिहासकार, महाभारतकार और पाणिनि—इन तीनोंने किया है। वृक, दामणि, कंबोज, त्रिगर्त आदि दूसरे पंजावी प्रजातन्त्रोंका उल्लेख पाणिनि व्याकरणमें अनेक वार आया है।"

सौराष्ट्र और काठियावाड़ प्रदेशमें "अंधक वृष्णियों"का राज्य था। इनकी अपनी निर्वाचित धारा-सभा थी। इस धारासभाके अध्यक्ष योगीश्वर श्रीकृष्ण थे। धारासभाका अध्यक्ष, आजके अध्यक्षोंके समान "नाममात्र"का न होकर कितना नीति-निपुण होना चाहिए, यह श्रीकृष्णके जीवनसे जान सकते हैं।

वैदिक कालमें हिमाचल प्रदेशमें दो प्रजातन्त्र राज्य थे। उत्तर कुरु और उत्तर भद्र। वैदिक साहित्यमें इन दोनों राज्योंको "राजा विहीन राज्य" (वैराज्य) बतलाया गया है, इससे प्रमाणित होता है कि उस कालमें 'राजा' नामक कोई जन्तु नहीं था।

बुद्धने लिच्छवी जनपदकी कितनी स्तुति की है! वैशाली भगवान्को प्रिय थी, जो उस समय लिच्छवियोंकी राजधानी थी। लिच्छवी-प्रजातन्त्र अपने कालमें श्रेष्ठ, सुव्यवस्थित एवं सुदृढ़ प्रजातन्त्र था।

वैदिक-साहित्य आदि विराट्के पश्चात्, सभा अर्थात्, गाँवोंकी स्थानीय पंचायतका उल्लेख करते है। इन सभाओंका सदस्य "सभ्य" कहलाता था। कई सभाओं या पंचायतोंके अध्यक्षों-द्वारा "समिति" बनती थी, समिति-सदस्यको "समित्या" कहते थे। समितियोंसे निर्वाचित सद्पुरुषोंकी सभा "आमन्त्रण-सभा" रूपमें प्रतिष्ठित होती थी। इसका सदस्य "आमन्त्रणीय" महाशय था। उपरोक्त व्यवस्थामें राजप्रमुख और शासक राजाका नाम नहीं!

बौद्ध-साहित्यके पाठक जानते हैं कि भगवान् बुद्धने लिच्छवी-जनपदकी कितनी प्रशंसा की है? वैशाली उस समय आदर्श माना जाता था।

पाटलिपुत्रका शासक अजातशत्रु लिच्छवियोंको पददलित करनेका अभिलाषी था। किन्तु लिच्छवियोंकी प्रजातन्त्र-पद्धति, उनकी नीतिपरायणता, पारस्परिक एकता और धर्म-भावना इतनी प्रबल थी कि अजात-

शत्रुको सफलता न मिली। श्री जयशंकर "प्रसाद"के नाटकोंमें हमें गुप्त-कालीन प्रजातन्त्र और उसकी व्यवस्थाकी अच्छी झाँकी मिलती हैं। अजातशत्रुको जब वैशाली-विजय दुष्कर प्रतीत होती है तो वह तथागतके निकट जाकर रहस्य पूछता है। तथागतने उसे जो शब्द कहे, वह आजके सभी धारासभा-गृहोंमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखे जाने चाहिए : "जब तक लिच्छवी प्रजा-जन अपने संस्यागारमें एकत्र होकर मुक्त और पूर्ण मन्त्रणा करते रहेंगे, जब तक वे संगठित एवं एकरूप रहेंगे, जब तक वे अपने संविधानके सनातन नियमों और आदेशोंका अनुशासन मानेंगे, और उनमें परिवर्तन न करेंगे, जब तक वे देवालयों और इतर धर्मावलम्बियोंका सम्मान करते रहेंगे, और सन्त-अर्हतोंका आदर करेंगे, अपने वृद्ध एवं गुरुजनोंकी आज्ञा मानेंगे और उनकी सम्मतिसे काम करेंगे,—संसारकी कोई शक्ति उन्हें छिन्न-भिन्न नहीं कर सकती।"

क्या उपरोक्त आशय हम प्रधान मन्त्री श्री नेहरूके विविध भाषणोंमें नहीं पाते? सेक्युलर स्टेट (धर्म निरपेक्ष राज्य) पर बुद्ध भगवान्‌ने भी जोर दिया है। अपने संविधानका सम्मान और असेम्बलीके अनुभवी वृद्धजनोंकी सम्मतिको महत्त्वपूर्ण बताया है।

बौद्ध एवं गुप्तकालीन प्रजातन्त्रोंका विस्तृत विवरण हमें बौद्ध-साहित्य-में मिलता है। बिहार प्रदेशमें ईसाके ४५० वर्षसे ५५० वर्षों तक कई समुन्नत, सुव्यवस्थित प्रजातन्त्र थे। इससे पूर्व शाक्य, मल्ल, लिच्छवी, विदेह, भग्ग, बुली, कोलिय और मौर्य जनतन्त्र उल्लेखनीय हैं। इसी का में मध्यभारतमें मालव, खाक, परकर, सनकानिक आदि प्रजातन्त्र थे।

उपरोक्त प्रजातन्त्रोंमें छोटे और बड़े-दोनों प्रकारके राज्य थे। आश्चर्य तो यह है कि शाक्य, मल्ल और लिच्छवी जैसे विशाल प्रजातन्त्र राज्योंके सम्मुख भग्ग और बुली जैसे नगण्य एवं बहुत छोटे प्रजातन्त्रोंका स्वतन्त्र अस्तित्व सुरक्षित था। इससे ज्ञात होता है कि बड़े राज्य छोटे प्रजातन्त्रोंकी आन्तरिक व्यवस्था और अव्यवस्थाके प्रपञ्चसे कितने तटस्थ रहते होंगे।

मालव, यौधेय, लिच्छवी, मल्ल और शाक्य सुविस्तृत प्रजातन्त्र थे : जिनके अन्तर्गत सहस्रों ग्राम औरसैकड़ों विशाल नगर थे,जिनकी समृद्धि अलकावासियोंको तरसाती थी।

इन प्रजातन्त्रोंकी धारासभाओंके सदस्योंकी संख्या आजकी संख्यासे कई गुना थी। अकेले लिच्छवी संस्थागारके सदस्योंकी संख्या ७७०७ थी। यौधेयोंकी ५००० और मालव धारासभाकी १०,०००से कम नहीं होगी। इस संख्याको देखकर चौंकिये नहीं, इन सदस्योंमेंसे अधिकांश अनुपस्थित रहते थे। क्योंकि आजकी तरह आवागमन और वाहनकी सुविधाएँ सर्वथा अशक्य थीं। इन धारासभाओंके अधिकार असीम थे। ये केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डलकी रचना करती थीं। कई अन्य पदाधिकारियोंका भी निर्वाचन करती थीं। अम्बष्ठके प्रजातन्त्र राज्यने सिकन्दरके आक्रमणका समाचार सुनकर विख्यात वीरोंको अपनी सेनाके नायक चुने थे। उस समय प्रत्येक युद्धके लिए विशेष सेनापति निर्वाचित होते थे।

केन्द्रीय धारासभा देशकी पर-राष्ट्र-नीति पर पूरा अधिकार रखती थी। परन्तु साधारणतया सन्धि-विग्रह जैसे नाजुक प्रश्नों पर मन्त्रि-मण्डल अलग चर्चा करता था, क्योंकि आमसभामें उन पर बहस करना संकटपूर्ण था।

नन्दवंश नाशक चाणक्य, ऐसा लगता है, प्रजातन्त्र-विरोधी थे। इसीलिए न उन्होंने अपने महाग्रन्थमें ऐसे उपाय लिखे हैं, जिनसे प्रजातन्त्रोंमें फूट डाली जा सके।

धारासभाओंमें "कोरम"का नियम उस समय भी था। लेकिन, प्रजातन्त्रका प्रेसिडेण्ट ही मन्त्रि-मण्डल और धारासभाका प्रधान होता था। धीरे-धीरे उच्च पद कुलोंमें बँट गये।

प्रजातन्त्र राज्यमें सभी व्यक्तियों, वर्गों और समुदायोंका पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व होना चाहिए। सामाजिक हित-मर्यादाको देखते हुए व्यक्तिकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रहनी चाहिए। व्यक्तिकी सुरक्षित स्वतन्त्रता राष्ट्र-विरोधी नहीं हो। व्यक्तिका स्वतन्त्र अस्तित्व रहते हुए भी वह जल-बूंदोंकी

तरह मिलकर राष्ट्र-सागरकी रचना करता हो और उसकी समृद्धि और सामर्थ्यका पोषक हो। मत-मतान्तरोंको स्वतन्त्रता दी जा सकती है, किन्तु एक वर्ग पर दूसरे वर्गका शोषण प्रजातन्त्र स्वीकार नहीं कर सकता। यदि ऐसा हुआ तो आपत्कालमें देश "एक" नहीं हो सकेगा। इतिहासमें ऐसे उदाहरण मिलते ह।

जब अजातशत्रु लिच्छवियोंके प्रजातन्त्रको विजय कर लेनेमें अनेक प्रकारसे निराश हो गया, तो उसके मन्त्री वृषकारने लिच्छवियोंमें भारी फूट डालनेका जाल रचा। वृषकार अपने विष-वृक्ष रोपन कार्यमें सफल हुआ और परिणाममें लिच्छवियोंको पराजित होना पड़ा। जब अजातशत्रु चढ़ आया तो विलासीवर्ग, सामन्त और श्रेष्ठी संगठित होकर कुछ करनेमें असमर्थ, अपने विलासमें डूबे रहे और साधारण सैनिक जो समर्थ थे—अपने कर्मसे पतित हुए। उन्होंने कहा—"युद्धके नगाड़े भले बजें। हम न लड़ेंगे। आज श्रीमन्तों और तथाकथित सामन्तों, शूरवीरोंकी बारी है, वे ही समाजके सर्वस्वका भोग कर रहे हैं, इसलिए त्यागके समय भी उन्हें आगे बढ़ना चाहिए।" नतीजा यह हुआ कि अपराजेय वैशालीका पतन हुआ। लिच्छवी प्रजातन्त्र विजित हुआ।

भाषावार प्रान्त रचना और छोटे-छोटे सूबोंमें स्वतन्त्र राज्य माँगने वाले नायकोंको उपरोक्त इतिहास-घटनाएँ स्मरण रखनी चाहिए। फूटने महाप्रतापी-लिच्छवियोंका मुँह नीचा किया। उन लिच्छवियोंका, जिनके लिए तथागत बुद्धने कहा था—"भिक्खुओ! यदि तुमने देवपुत्रोंको नहीं देखा हो तो इन आते हुए लिच्छवी-कुमारोंको देखो।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रजातन्त्रकी पवित्र परम्परा आर्यावर्तमें नई नहीं है। वैदिक कालसे वह निरन्तर प्रवाहित रही और पिछले १५०० वर्षोंमें उसका अन्त हुआ। प्रजातन्त्र राज्योंका आधुनिक समुन्नत रूप अवश्य नया है, वास्तवमें इसका जन्म २०० वर्ष पूर्व हुआ। किन्तु प्रजातन्त्रके जो पुरातन स्वरूप हमें आजसे २५०० वर्षके रोम और यूनान में मिलते हैं, उससे अच्छे रूप भारतमें थे। कई हज़ार वर्ष पहले—

वदिक कालमें प्रजातन्त्रकी छत्रछायामें आर्यावर्तीय जनपद सम्पन्न एवं सुखी थे।

प्राचीन भारतके प्रजातन्त्र राज्योंकी आयु यद्यपि कई शताब्दियोंकी रही, किन्तु वे एक संगठित एवं विशाल प्रजातन्त्रमें परिणत होकर समता और बन्धुत्व पर प्रतिष्ठित सर्वोदयी समाजकी सृष्टि न कर सके। इसके कई कारण हैं। वर्ण एवं वंशकी विषैली भावनाओंने व्यक्ति-व्यक्तिके मध्य काली दीवारें खड़ी कर दी थीं। विलास स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्रताका वैरी है। सतत सावधान रहना, प्रजातन्त्रके पुत्रोंकी प्रथम आवश्यकता है। प्रान्तीयता और भाषाके प्रपञ्चोंमें पड़कर पारस्परिक द्वेषकी रचना करना, फूट और कलहके वीज स्वरूप पक्षपात और अपने आदमियोंको चढ़ाना, रिश्वतखोर अधिकारियोंको कड़ा दण्ड न देना आदि अनेक कारणोंसे राज्यों-का पतन होता है। स्वतन्त्रताका मुक्त हास्य दासताके रोदनमें बदल जाता है।

पण्डित नेहरूने वारम्वार इस बात पर ज़ोर दिया है "भाषाभेद, सीमित भावना, प्रान्तीयता, संकुचित स्वार्थपरतासे ऊपर उठो।" जब तक इनसे मुक्ति न मिलेगी भारत एक समर्थ राष्ट्र नहीं बन सकेगा। जिस प्रकार प्राचीन प्रजातन्त्र मालव, यौधेय, मौर्य, क्षुद्रक आदि भेदोंके कारण नष्ट हुए और विदेशी-शत्रु एक दूसरेको लड़ानेमें सफल हुए उसी प्रकार अपनी प्रान्तीयता पर अति आग्रह करने पर हम पराजित हो सकते हैं, हमारी स्वतन्त्रता जा सकती है। धर्म, भाषा, प्रान्त, रीतियाँ, रहन-सहन और खानपान व्यक्तिगत हैं, राष्ट्रकी एकतामें यदि ये बाधक बनते हों, तो उन्हें "नमस्कार" कर लेना चाहिए।

मनुष्यको अपना जीवन अवश्य प्रिय हो, प्राण-प्यारे हों, परन्तु देशके लिए उन्हें उत्सर्ग करनेमें वह कदापि पीछे न हटे। देशकी स्वतन्त्रता, उसकी सुख-शान्ति, प्रजातन्त्रीय परम्परा, उसकी सुरक्षा और संगठित एकता—प्रजाजनोंकी शुद्ध भावना पर निर्भर है। स्वतन्त्रता समस्त संसारकी संग्रहीत सम्पदासे भी अधिक मूल्यवान है। सन् १७७५ में प्रेट्रिक हेनरीने लिखा है:—

"क्या जीवन और शान्ति इतने मूल्यवन्त हैं कि वेड़ियों और दासताके

साथ उन्हें स्वीकार किया जाय? हे प्रभो, इनसे हमारी रक्षा कर। मैं नहीं जानता कि ऐसी अवस्था में अन्य व्यक्ति क्या करें, लेकिन जहाँ तक मेरा प्रश्न है, हे ईश्वर मुझे स्वतन्त्रता दे, या मौत दे।"

और इस स्वतन्त्रतासे मात्र यह अर्थ न लगा बैठें कि विदेशी सत्तासे देश स्वतन्त्र हो जाय। पण्डित नेहरूने अमरीकी कांग्रेसके सम्मुख भाषण देते हुए अक्टूबर १३,१९४९में इसकी व्याख्या की है :—"हमने राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है, लेकिन हमारी क्रान्ति अभी ख़त्म नहीं हुई है, क्योंकि कोरी राजनीतिक स्वतन्त्रता किसी कामकी नहीं, यदि उसके पुजारियों-को पेट और सुविधाके लिए अकथनीय कष्ट उठाना पड़े। अतएव, हमारा प्रथम कर्तव्य है कि अपने लोगोंका जीवन-स्तर उन्नत करें और राष्ट्रके आर्थिक विकास-मार्गमें आनेवाले समस्त अवरोधोंका अन्त करें।"

एक दूसरे स्थान पर कहते हैं :—"स्वतन्त्रताका अर्थ कोरी राजनीतिक सत्ता या नये संविधानकी प्राप्ति नहीं। भला, जब राष्ट्रके नागरिकोंके मन भयपूरित हों, संकुचित हों, हृदयोंमें कटुता और द्वेष हो, घृणा और स्वार्थपरता हो, तो यक़ीन मानिए, ऐसी जगह स्वतन्त्रता अनुपस्थित है। मन और मस्तिष्ककी स्वतन्त्रता अधिक महत्त्वमय है।"

क्या कवीन्द्र रवीन्द्रने यही नहीं गाया!—"जहाँ मस्तिष्क भय रहित है, और सिर ऊँचा है, जहाँ ज्ञान मुक्त है और मनुष्योंके बीच दीवारें नहीं हैं, जहाँ शब्द सत्यकी गहराईसे आते हैं, मुक्तिके उस स्वर्गलोकमें, हे पिता, मेरे प्रिय देशका जागरण हो!"

# हमलावर ख़बरदार !

## काश्मीरमें पाकिस्तानी कुचक्र

एक प्राचीन मान्यताके अनुसार ब्रह्माके पुत्र कश्यपकी निवास भूमि है 'काश्मीर'। कश्यपका दूसरा नाम 'कश्पमार' भी है। सम्भवतः इसी शब्दकी नींव पर 'काश्मीर' नामकी उत्पत्ति हुई है।

काश्मीर आदिकालसे भारतवर्षका नन्दनवन रहा है। बाहरसे दो प्रकारके व्यक्ति और समूह यहाँ सदैव आते रहे हैं। दर्शक, यात्री और आक्रमणकारी।

आक्रमणकारियोंके रूपमें विदेशियोंके प्रबल प्रहार इस देव-उद्यान पर बरसते रहे हैं। उत्तरकी ओरसे आनेवाले हमलावरोंके काले कारनामे इतिहासकी कथाओं और किंवदन्तियों-द्वारा आज भी सुने जा सकते हैं।

प्रसिद्ध यात्री वर्नियरने काश्मीरकी शोभा, सौन्दर्य और सुगन्धका सुन्दर वर्णन किया है। समूहके रूपमें पठान, अफ़ग़ान और मुग़ल आक्रान्ताओंकी कथाएँ हैं। अफ़ग़ानोंके भयंकर आक्रमणकी कष्ट-कथा किसी कविने एक ही पंक्तिमें इस प्रकार व्यक्त कर दी है:

'सर बुरीदां पेशे इन संगदीलाँ गुलचिदानस्त।'

—'इन निर्दयी आक्रान्ताओंके लिए सर काटनेका काम इतना सहज है मानो वे फूल चुन रहे हैं!'

अत्याचारोंके इसी उत्तरदायित्वको पाकिस्तानने अपने जन्मवर्ष सन् १९४७ में अपने हाथमें लिया। विदेशियोंके सक्रिय सहयोगसे पथभ्रष्ट हो उसने काश्मीर पर, अपने ही सहधर्मियों पर अचानक अमानुषिक आक्रमण किया। यह अक्टूबर १९४८ की बात है।

१५ अगस्त १९४७ को जबसे अँग्रेजोंने भारत छोड़ा और महाराजा हरिसिंहको इच्छानुसार अपनी रियासतके विलीनीकरणका मौक़ा मिला,

तबसे काश्मीर अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं और राजदरबारोंमें वाद-विवादके वितण्डावादका विषय रहा है। यही नहीं, शायद तब तक यह एक अन्तर्राष्ट्रीय उलझन बना रहेगा, जब तक कि पश्चिमकी साम्राज्यवादी शक्तियाँ इस नन्दनवनको रक्तरंजित करनेका षड्यन्त्र रचती रहेंगी।

इतिहासकी गतिविधियाँ साक्षी हैं कि काश्मीरमें साम्राज्यवादी षड्यन्त्र उसी दिन आरम्भ हो गये थे, जिस दिन रूसमें लेनिनके नेतृत्वमें समाजवादी क्रान्ति—श्रमिकों और कृषकोंके बल सफल हुई। उसी दिन अँगरेज़ोंने उत्तरी पूर्वी सीमाप्रान्तका सामरिक महत्त्व मानकर लद्दाखके प्रमुख भाग 'गिलगित'में अपना एक पोलिटिकल एजेण्ट रखा था। यह एजेण्ट काश्मीर-सरकारके अधीन न होकर वाइसरायके अधीन था। इसी समय खैबरके रास्ते चर्चिलने, जो उस वक्त 'वार सेक्रेटरी था—गुरखोंका एक दस्ता लेनिन और उसकी क्रान्तिको कुचलने भेजा था!!

यह और इस प्रकारके अन्यान्य कुचक्र लगभग ३० वर्षों तक चलते रहे। १९४७ में काश्मीरके महाराजाको रामचन्द्र काक नामक मन्त्रीके द्वारा, इस प्रकार बहकाया गया कि काश्मीर न पाकिस्तानमें जाय न हिन्दुस्तानमें, एक स्वतन्त्र घाव बनकर दोनों देशोंके लिए सिरदर्द बना रहे। ऐसी स्थितिसे गोरोंको यह लाभ था कि वे जब चाहेंगे वापस लौट आयेंगे। लेकिन अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक कारणोंसे काश्मीरकी परिस्थितियोंमें परिवर्त्तन आया और 'काक' को उड़ जाना पड़ा। नेशनल कान्फ्रेन्सके हाथमें सत्ता देनेको महाराजा मजबूर हो गया। क्योंकि इस समय—अक्टूबर १९४८ में, कोहालाके मार्गसे पाकिस्तानियों और कबाइलियोंके हमलेकी खबरें आने लगीं। महाराजा अपने विश्वस्त व्यक्तियोंके साथ वायुयान-द्वारा जम्मू चला गया।

कोहालाके रास्ते किये गये आक्रमणमें पाकिस्तानके सैनिक अधिकारियोंके अतिरिक्त ब्रिगेडियर स्कॉट और मि० पॉवेल भी थे। यह दोनों व्यक्ति काकके ज़मानेमें काश्मीरमें पुलिस अफ़सर रह चुके थे। हमलेके डेढ़ मास पूर्व ये पाकिस्तान चले गये थे!

## हमलावर खबरदार !

शेख़ अब्दुल्लाके नेतृत्वमें नेशनल कान्फ्रेन्सका मन्त्रि-मण्डल बनने पर भारतमें काश्मीरके विलय होने और अन्य कागज़ी कार्रवाई पूरी होने पर काश्मीरके प्रधानमन्त्री शेख़ अब्दुल्लाने भारत सरकारसे सैनिक सहायता की प्रार्थना की।

लार्ड माउण्टबेटन उस समय स्वतन्त्र भारतका गवर्नर जनरल था। जब पण्डित नेहरूने काश्मीरको सैनिक सहयोग देना स्वीकार किया तो माउण्टबेटन महोदयने ऊँच-नीच सुझाया। तथापि पण्डित नेहरू अपने कार्यमें सफल हुए और तुरन्त सेनाएँ भेजी गईं।

भारतीय सेनाओंका पहुँचना था कि लुटेरोंके पाँव उखड़ गये, वे जान बचाकर भागे। भारतीय सूरमाओंने विपरीत अवस्थाओंमें काश्मीरके रणक्षेत्रमें जौहर दिखाया और साम्राज्यवादके संपोषक युद्धवादियोंके स्वप्न राख बन गये!

पाकिस्तान और उसके सहयोगियोंकी पराजय हुई। उन्हें पीछे हटना पड़ा। लेकिन, विदेशी षड्यन्त्रकारियोंने भारत और काश्मीरका पीछा नहीं छोड़ा। उन्होंने देख लिया कि प्रत्यक्ष रूपमें भारतके विरुद्ध चलना संकटपूर्ण है अतः वे परोक्षरूपमें अपने कुचक्र चलाने लगे। इसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली।

पण्डित जवाहरलाल राजनीतिमें भी ईमानदारी और सचाईके समर्थक ठहरे। बापूकी परम्परामें सत्य और न्यायका आग्रह उन्हें विरासतमें मिला था। वे 'कुटिल राजनीतिज्ञ' नहीं थे, जब कि उनके विपक्षी कुटिलता और बेईमानीमें सिद्धहस्त थे। अपने भोलेपन और शत्रुके प्रति भी क्षमा और न्यायका सम्माननीय भाव रखनेवाले हमारे प्रधानमन्त्रीने काश्मीरके सवालको संयुक्त राष्ट्र-संघके समक्ष रख दिया। १५ जनवरी १९४८ को काश्मीरकी शिकायतको भारतने संघके सामने पेश किया। सरदार पटेल को तो यू० एन० ओ० का यह नाटक क़तई नापसन्द था। उन्होंने बम्बईकी एक सभामें अपनी सतेज वाणीमें यहाँ तक कह दिया था कि यह सिक्युरिटी काउन्सिल नहीं है, 'इन्सिक्युरिटी काउन्सिल' है।

संयुक्त राष्ट्र-संघने अपने स्वामियोंकी सम्मति पर काश्मीरमें युद्धबंदीका आदेश दिया। जब कि भारतीय सेनाएँ विजय पर विजय प्राप्त कर रही थीं, उस समय भारतका युद्धबंदी स्वीकार कर लेना कहाँ तक उचित था यह भावी इतिहासकार बतायँगे। किन्तु युद्धबन्दीसे शत्रुको और साम्राज्य-वादियोंको लाभ पहुँचा, इसमें संशय नहीं। 'शत्रु'—पाकिस्तानके अधि-कारमें वे इलाके रह गये जो हमारे थे, जिनकी विजयमें कोई शंका या देरी नहीं थी। इस भूभागके छिन जानेसे विदेशियोंकी साजिश सफल हुई। उसे इस क्षेत्रमें उपस्थित रहकर अपने अड्डे बनाने और षड्यन्त्र पकानेका मनचाहा मौक़ा मिल गया। यहाँ रहकर पड़ोसी चीन, पड़ोसी रूस, पड़ोसी भारत और पड़ोसी अफ़ग़ानिस्तानसे वह छेड़छाड़ कर सकता है!

परिणाममें, गिलगित एक जंगी अड्डा बना दिया गया। युद्धबन्दी पर एंग्लो अमरीकी गुट्टने 'निरीक्षकों' के नाम पर अपने जासूसोंका जाल बिछा दिया। अपने भोलेपनके भँवरमें प्रवाहित भारतवर्षने उन्हें 'अतिथिदेवो भव' कहकर स्वागत किया पर समयने हमारी आँखें खोल दीं और हमारे नेताको पार्लिया-मेण्टके सामने, ललकारकर कहना पड़ा—"ये अमरीकी निरीक्षक अब हमारे द्वारा तटस्थ व्यक्तियोंके रूपमें सम्मानित नहीं हो सकते। इनकी उपस्थिति हमें अनुचित एवं अनावश्यक लगती है।"—(फरवरी २५, १९५४) इसके लगभग एक मास पश्चात्, संयुक्त राष्ट्र-संघमें भारतीय प्रतिनिधि श्री दयालने सेक्रेटरी जनरलसे माँग की कि वे कृपया अपने निरीक्षकोंको वापस लौटा लें।

निरीक्षकोंके वेशमें आये अमरीकी जासूस, युद्धबन्दीका निरीक्षण करनेके बदले, जंगी अड्डोंके लिए महत्त्वके स्थान खोजते रहे। अपने नक्शे और चित्र विलायत भेजते रहे।

संयुक्त राष्ट्र-संघमें अपनी शिकायत लेकर भारत इस आशामें गया था कि समस्याका कोई समाधान निकलेगा, न्याय मिलेगा। और पश्चिमके न्यायधारी सभ्य नेता पाकिस्तानको काश्मीरके हमारे इलाक़ेसे कान पकड़-कर निकाल देंगे! लेकिन भारतने यह नहीं जाना कि पाकिस्तानके सैनिकों और कबाइलियोंके जामेमें पश्चिमी कुचक्रियोंका प्रेत आया था!

तत्पश्चात्, संयुक्त राष्ट्र-संघने काश्मीर और विश्वशान्तिके लिए दयार्द्र होकर कभी 'डिक्सन कमीशन', कभी 'मेक्नाटन कमीशन' और कभी 'ग्राहम कमीशन'के रूपमें अपने बहुरूपिये भेजे। वे ऐसी भाषा बोलते थे जो द्विअर्थक होती थी। ऐसी विचित्र बोलियाँ बोलते थे जिनसे पाकिस्तान भी खुश और भारत भी खुश अथवा पाकिस्तान भी क्रुद्ध और भारत भी रुष्ट ! वास्तवमें वे समस्याको उलझाना चाहते थे। यदि समस्या सुलझ जाती तो उन्हें और उनके स्वामियोंको कौन पूछता ? और गिलगित और अन्य स्थानोंका क्या होता, जहाँ से दो चार घंटेकी उड़ान पर वे सोवियत और चीन पर बमबाजी करनेके दिवा स्वप्न देखते थे ? इन कमीशनोंके सुझाव या उलझाव इस प्रकार हैं :

१. "काश्मीरका विभाजन"—

(लुटेरोंको भी एक भाग मिलना चाहिए क्योंकि बेचारोंने अपने प्राण हथेलीमें लेकर सराहनीय श्रम किया है ! )

२. "लोकमतका सुझाव"—निमिट्ज़

(ताकि पाकिस्तानी जासूस खुले रूपमें काश्मीरमें निर्वाचनके नाम पर प्रविष्ट हो सकें। दंगे-फिसाद हों।)

३. "काश्मीरको कॉमनवेल्थकी सेनाओंके हवाले कर दो।"

(वाह ! आखिर काश्मीरके मूलस्वामी तो कॉमनवेल्थ वाले गोरे ही हैं ! )

तो, यह भारतवर्षका सौभाग्य रहा कि पण्डित जवाहरलाल विदेशियों-की 'न्यायमय' चालोंको जल्द समझ गये और इन सुझावोंके चक्करमें नहीं फँसे।

संयुक्त राष्ट्र-संघकी अदालतमें काश्मीरका दावा पेश होनेके बादका इतिहास संक्षेपमें इस प्रकार है —

१९४७ में भारतीय सेनाएँ पाकिस्तानी लुटेरोंसे लड़ती रहीं और भारत संयुक्त राष्ट्रसंघमें अपनी शिकायतें लिखवाता रहा। १९४८ में शेख मुहम्मद अब्दुल्ला और गोपालस्वामी आयंगरने काश्मीरका मामला

यू० एन० ओ० की सुरक्षा समितिके सामने रखा। समितिने एक 'काश्मीर कमीशन' की नियुक्ति की। इस कमीशनने अपनी जाँच पर पाकिस्तानको दोषी और 'हमलावर' करार दिया। कमीशनने पाकिस्तानसे कहा कि वह अपने आदमी काश्मीरसे लौटा ले।

सुरक्षा-समितिने कमीशनकी रिपोर्ट पर कमीशनको आदेश दिया कि वह भारत और पाकके मध्य समझौता करानेकी कोशिश करता रहे। १९४९ में संयुक्त राष्ट्र-संघके द्वारा काश्मीरमें युद्धवन्दीकी घोषणा की गई। कमीशनने 'स्थायी शान्ति' के प्रयत्नमें दोनों सरकारोंके सैनिक अधिकारियों-से कई बार परामर्श किया और एक स्थायी सन्धि रेखा खींच दी गई।

दूसरा क़दम उठाया गया और संयुक्त राष्ट्र-संघने घोषणा की कि एडमिरल चेस्टर निमिट्ज़को मतगणनाके लिए अधिकारी नियुक्त किया जाता है। मार्च २१, १९४९ की संघकी इस घोषणाके जवाबमें काश्मीरी जनताने भारतमें काश्मीरके सम्मिलन प्रस्तावको एक स्वरसे स्वीकार किया।

इसके बाद, सुरक्षा समितिने कमीशनको रद्द कर एक मध्यस्थकी नियुक्ति की, फलतः सर ओवन डिक्सन नामक एक आस्ट्रेलियन मध्यस्थ बनाया गया। सर डिक्सन २८ मईको भारत आया और उसने पाक और भारतके प्रधान मन्त्रियोंसे लम्बी मुलाक़ातें लेकर यह प्रस्ताव रक्खा कि काश्मीरके लोगोंकी राय ली जाय, मतगणना हो। और संयुक्तराष्ट्र-संघ मतगणना कालके अस्थायी समयके लिए काश्मीरकी बागडोर अपने शासनके अन्तर्गत ले ले! (और हमलेकी शिकायतका क्या हुआ?) भारतने इस सुझावका काले झंडोंसे 'स्वागत' किया अर्थात् अस्वीकार किया। डिक्सनको असफल होकर अगस्तमें लौट जाना पड़ा।

जनवरी १९५० में लन्दनमें कॉमनवेल्थके प्रधानमन्त्रियोंका महा-मिलन हुआ। उसमें जवाहरलाल नेहरू और लियाकत अली खांकी भेंट हुई। इस भेंटमें काश्मीरके मसलेपर दोनों मन्त्रियोंने चर्चा की।

इसी सालके मध्यकालमें एक नया मध्यस्थ खोज लिया गया। यह था मि० फ्रेन्क ग्राहम नामक एक अमरीकन। जब तक ग्राहम साहबने

अपनी रिपोर्ट तैयार की, काश्मीरकी विधान-सभाके लिए निर्वाचन हुए और नेशनल कान्फ्रेन्सके कार्यकर्ताओंकी जीत हुई।

इस वर्षके अन्त समय, श्री जवाहरलाल नेहरूने पाकिस्तानके सम्मुख 'अनाक्रमण सन्धि' का शान्ति-प्रस्ताव रखा। किन्तु पाकिस्तानके नेताओं पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा और उन्होंने अपने प्रभुओंकी सिखावन पर प्रस्तावको ठुकरा दिया।

तब डॉ० ग्राहमने सुरक्षा परिषद्को दूसरी रिपोर्ट दी। इसके अनुसार उन्होंने पूरे काश्मीरके निःशस्त्रीकरणका प्रस्ताव रखा। इस रिपोर्टके बहसके वक्त रूसी प्रतिनिधि जेकॅब मलिकने हस्तक्षेप करते हुए कहा—"एंग्लो-अमरीकी शक्तियाँ काश्मीरी मामलोंमें दखल देकर सुलहके प्रयत्नोंके विरुद्ध बाधाएँ बढ़ा रही हैं।"

इस विषयको आगे ले जानेके पूर्व काश्मीरकी आन्तरिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। संक्षेपमें उन्हें इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:

१. प्रारम्भसे ही काश्मीरकी 'नेशनल कान्फ्रेन्स' की लोकप्रियता इसलिए बढ़ती गई कि इसने जनताकी समस्याओं और ज़रूरतोंको सामने रखा। सामन्तवाद और शोषणवादके विरुद्ध नारा उठाया।

२. यह दस वर्षों तक प्रतिगामी शक्तियोंसे संघर्ष करती रही। १९४६ में इसने महाराजाको 'काश्मीर छोड़ो' की चुनौती दी।

३. जब हुकूमत नेशनल कान्फ्रेन्सके हाथमें आई तो, उसने जागीरदारी और ज़मींदारी-उन्मूलनकार्य, बिना मुआवज़ेके, पूरा किया। लेकिन, नई सरकार जनताको अपने अधिकार देनेमें असफल रही। किसानोंके हितके लिए बने क़ानूनोंसे उलटा उनका अहित होने लगा।

४. इधर 'प्रजा परिषद्' ने तीन नये नारे उठाये—'एक प्रधान', 'एक विधान' और 'एक निशान'। इसका अर्थ यह होता है कि काश्मीरमें बिना मुआवज़ेके ज़मीनजब्तीके क़ायदे को रद्द करवाना ! भारतीय

विधानमें जमींदारोंको मुआवज़ा दिया गया! भारतीय विधान-द्वारा प्रजा परिषद् महाराजाकी स्थापना करना चाहती है। 'एक निशान' द्वारा वह भारतीय झण्डेके अपमानका प्रचार कर अपना साधन सिद्ध करना चाहती है। जिस झण्डेके नीचे काश्मीरियोंने २० वर्षों तक संघर्षोंकी लड़ाइयाँ लड़ीं, उसे निकाल देनेका कोई अर्थ नहीं। नेशनल कान्फ्रेन्स भारतीय राष्ट्रीय झण्डेके बारेमें घोषणा कर चुकी है कि यह भी उनका प्रिय झण्डा है और इसकी रक्षाके लिए वह अपने प्राणोंकी बाज़ी लगा गी।

५. 'प्रजापरिषद्' के काले कारनामोंके समानान्तर, शेख़ अब्दुल्लाके नेतृत्वमें कुछ गुमराह कार्यकर्त्ता राष्ट्रविरोधी कार्रवाइयोंमें भाग लेने लगे। वे 'स्वतन्त्र काश्मीर' का स्वप्न देखने लगे। विदेशी षड्यन्त्रकारियोंके पथ-प्रदर्शनमें साजिशें चलने लगीं। पर, भण्डा फूट गया।

शेख़ अब्दुल्ला गिरफ़्तार कर नज़रबन्द कर दिये गये।

६. जब साम्राज्यवादी सन् १९४७ में कबाइलों और पाकिस्तानी हमलावरोंके हत्यारे कारनामोंके जरिये असफल रहे तो भी उन्होंने अपनी कुचालें बन्द न कीं। उन्होंने अपने डॉलर और एटम की माया-द्वारा काश्मीर-को एशियाई स्वीज़रलैण्ड बना देनेका सपना शेख़ अब्दुल्ला और उनके साथियोंको दिखाया। अपने प्रेस, प्रचार, रेडियो, रंडियों, एजेण्टों और जासूसोंके जरिये उन्होंने काश्मीरमें देशद्रोहियोंका एक दल तैयार कर लिया।

७. शेख़ अब्दुल्ला-दल साम्राज्यवादियोंके चंगुलमें चले गये थे, इसके प्रमाण संक्षपमें यों हैं :—

१९४९ के मई में 'लन्दन आब्ज़रवर' के संवाददाता माइकेल डेविडसनने लिखा कि शेख़ साहबने उसे बताया कि काश्मीरकी समस्याओंका अन्त—काश्मीरके 'आज़ाद' रहनेमें है। शेख़ अब्दुल्लाने इस खबरको ग़लत बताते हुए कहा—"शायद, मैं ज़ोर ज़ोर (लाउड थिंकिग्) से सोच रहा था।"

८. इसी साल शेख़जी अमरीका गये। बताया गया कि अमरीकी स्टेट डिपार्टमेण्ट द्वारा गुप्तरूपसे आयोजित एक मीटिंगमें वे मि० बेवलरसे मिले।

९. काश्मीर लौटनेके बाद, शेख़ साहबके पीछे-पीछे अमरीकी मेह-मानोंका आवागमन शुरू हो गया। जैसे—लॉय हेंडरसन, जिन्होंने ईरानी अराजकता-द्वारा अपना जहरीला जौहर दिखलाया। इन्होंने 'चाय-पान' पर शेखसे अकेलेमें बातचीत की।

१०. लॉय हेंडरसनकी काश्मीर-यात्राके बाद एंग्लो-अमरीकी अख़बारोंका रुख बदल गया। कल तक के 'गद्दार' और 'बेईमान' शेख़ अब्दुल्ला 'अच्छे भले आदमी', 'नेक और रहमदिल' बन गये। काश्मीरको 'आज़ाद' बनाकर समस्याका हल पेश करनेके प्रस्ताव प्रकाशित किये गये !

११. लॉय हेंडरसनके उत्तराधिकारी चेस्टर बाउल्सने भी 'चाय-पान' पर शेख साहबसे बातें कीं।

१२. शेख साहबकी गिरफ़्तारीके दो मास पूर्व आडलाइ स्टीवेन्सन काश्मीर पधारे और पाँच घंटे तक आप 'चाय पीते' रहे और 'मौसमकी चर्चा' करते रहे (?)

१३. शेख अब्दुल्लाकी गिरफ़्तारी—९ अगस्त १९५३ के दिन यू० एन० ओ० के निरीक्षक अपने क्षेत्रसे बाहर आये और श्रीनगर भरमें सफ़ेद मोटरोंमें दौड़ते दिखलाई पड़े। इन्होंने खुले आम, मिलिशिया और पुलिसको उकसाया और लोगोंमें पैसे और चॉकलेट बाँटे !

आखिरकार ९ अगस्त १९५३ को काश्मीरमें साम्राज्यवादकी नंगी शक्ल सामने आ गई। ईरानमें वह सफल हुआ, काश्मीरमें असफल हुआ—श्रीनगरमें उसकी क़ब्र बन गई !

इसके पश्चात् बख़्शी गुलाम मुहम्मद प्रधानमन्त्री बने। अपनी एक घोषणामें उन्होंने १३, सितम्बर १९५३ के दिन नेशनल कान्फ्रेन्सकी सभाको सम्बोधित करते हुए कहा कि एडमिरल निमिट्ज़ काश्मीरके लिए ख़तरा है, काश्मीर उसे कभी स्वीकार नहीं कर सकता। उन्होंने बताया—"निमिट्ज़ जैसे आदमी काश्मीरियोंके लिए तनिक भी सहानुभूति नहीं रखते हैं। वह अपने मतलब और स्वार्थ-साधनके लिए ही यहाँ तशरीफ़ लाये हैं।"

इसी बातको एक मासके अन्दर ही, २५ अक्टूबर १९५३ के दिन

नेशनल कान्फ्रेंसने अपने एक स्वीकृत प्रस्तावमें दुहराया और घोषित किया कि अमरीका और अन्य साम्राज्यवादी काश्मीरको एक सैनिक अड्डा और लड़ाईका मैदान वना देना चाहते हैं, ताकि भारत और पाकिस्तानमें वढ़नेवाले जनतान्त्रिक आन्दोलनोंके विकासको रोक सकें। पड़ोसके प्रजातन्त्रीय प्रदेशों पर आक्रमण करनेके लिए वे काश्मीरका उपयोग करना चाहते हैं।

उपरोक्त परिस्थितियों और अवस्थाओंको देखते हुए यह स्पष्ट विदित होता है कि साम्राज्यवादी चंगुलसे काश्मीरको सदाके लिए मुक्त रखनेका कार्य अत्यन्त कठिन होते हुए भी आवश्यक है। क्योंकि काश्मीरकी अशान्ति एशियाई अशान्तिका कारण वन सकती है।

इसके लिए ज़रूरी है कि—

(क) काश्मीरमें जनवादी शक्तियोंका विकास हो। समस्त सामन्त-वादी और प्रतिगामी ताक़तोंका अन्त हो। जागरूक और सावधान जन-शक्तियाँ ही प्रतिगामी दलोंको परास्त, पराजित कर सकती हैं।

(ख) प्रधानमन्त्री वख्शी ग़ुलाम मुहम्मदके सुधारोंको कार्योंमें परिणत किया जाय। जनताको सव प्रकारकी राहत मिले।

(ग) काश्मीर और भारतके जनवादी मिलकर काश्मीरके विषयमें देशभरकी जनताको सावधान कर दें। साम्राज्यवादी जालों और मन्सूवोंको सवके सामने स्पष्ट कर दें।

भारतीय जनताको यह दिखा देना है कि वह काश्मीरको साम्राज्य-वादी स्वार्थोंका साधन अथवा राजनीतिक शतरंजका मुहरा न वनने देगी। काश्मीर खिलौना नहीं है कि विदेशी उससे खेलें। काश्मीर मिठाई नहीं है कि विदेशी रसिक उसे खा जायँ। काश्मीर भारतका अभिन्न अंग है।

अंगके छिन्न-भिन्न हो जाने पर भारत माता की मूर्त्ति खण्डित हो जायगी! इसलिए—

हमलावर खवरदार!

# गोआकी पराधीनताका प्रश्न

चार सौ चौवालिस सालोंसे गोआ गुलामीकी शृंखलामें बँधा है। २५ नवम्बर गोआके इतिहासका सबसे काला और कलंकमय दिन है, इस दिन कृष्ण केशी पुर्तगालियोंने पहली बार भारतमें प्रवेश किया था।

इस अवधिमें देशमें अनेक राजनीतियाँ और शासन-सत्ताएँ बदलीं। किन्तु किसीका ध्यान गोआकी आज़ादीके लिए नहीं गया। गोआमें कई विद्रोह उठे, पर तिमोजा और माधवराव-जैसे नराधम देशद्रोहियोंने माँका क़फ़न बेचकर अपनी जागीरें खरीदीं। तथापि, स्वातन्त्र्य-भावनाकी प्रज्वलित शिखा गोआई लोगोंके अन्तरमें निरन्तर जलती रही है और वे अपने भाइयोंसे मिलनेको छटपटा रहे हैं। दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रपञ्चोंमें उलझे हुए चालीस कोटि बड़े भाई, चंद छोटे भाइयों पर होते अमानवीय अत्याचार खड़े-खड़े देख रहे हैं—यह इतिहास और राजनीतिक विस्मयजनक विडम्बना है।

हाल ही में प्रधानमन्त्री नेहरूने भारतीय पार्लियामेण्टमें गोआके मामले पर कहा था—'पुर्तगाल और भारतकी लड़ाई १५ वीं सदी से २० वीं सदीकी लड़ाई है। जीत २० वीं सदीकी होगी।'

लेकिन, जीत जब होगी, तब होगी। कृषि सूख जाने पर वर्षाका क्या होगा? रात-दिन पुर्तगाल गोआकी खदानोंसे अपार निधियाँ जहाज़ोंमें भर कर लिये जा रहा है।

आजका गोआ भारतीय प्रजातन्त्रके विरुद्ध साम्राज्यवादी षड्यन्त्रोंका केन्द्रस्थल बन गया है। सन् १५११ में पुर्तगालके पंजेमें परतन्त्र होनेसे लेकर आज तक गोआई जनता पर पैशाचिक अत्याचार हो रहे हैं। इतिहास इस बातका साक्षी है। लेकिन पुर्तगाली तानाशाह डॉक्टर सालाज़ार कहता है:

'यदि गोआसे पुर्तगाली शासन चला गया और गोआ भारतमें विलीन हो गया तो वहाँ सिर्फ़ विनाश, असभ्यता और चरित्रहीनता ही शेष रह जायँगे।'

यह तो दुनिया जानती है कि भारतकी सभ्यता और सांस्कृतिक परम्परा कितनी अखण्ड है, उच्च और पवित्र है, और सालाज़ार-जैसे डिक्टेटरोंके राज्यमें सभ्यता और चारित्र्यका किस प्रकार दम घोटा जाता है? सालाज़ारकी 'कथनी' और 'करनी' तो शेक्सपीयरकी उस पंक्तिसे मिलती है कि अपने स्वार्थके लिए शैतान भी शास्त्रोंके हवाले देता है। डिक्टेटरोंके राज्यमें किस प्रकारका निर्माण होता है और सभ्यताकी उनकी ठेकेदारी कितनी महँगी पड़ती है—यह जर्मनी, इटली और स्पेनकी भोली प्रजाएँ भलीभाँति जानती हैं। फिर भी, हिटलर, मुसोलिनी और फ्रेन्को नामक अपने गुरुओंसे सालाज़ारने प्रोपेगेण्डाके मुख्य मन्त्रको पाया है और वह उसीका प्रयोग कर रहा है। वह तो अपने गोआई-साम्राज्यको 'प्रगतिशील शासन' कहनेमें भी नहीं हिच ता। और इस कथित प्रगतिशील शासनकी छायामें जैसे अत्याचार हो रहे हैं वैसे उपनिवेशोंमें अन्यत्र कहीं नहीं हुए।

आश्चर्यकी बात तो यह है कि 'डेली मेल' जैसा अंग्रेज़ी पत्र सालाज़ारकी बर्बरताको 'सांस्कृतिक दान' का महान् कार्य कहकर प्रशंसा करता है।

आजसे ८ वर्ष पूर्व ऐसे ही 'संस्कृति-दान' के पुण्य कार्य डॉ० सालाज़ारकी सरकारने गोआई लोगोंके बीच किये थे। उनसे दुखी हो गाँधीजीने तत्कालीन गोआ-गवर्नर डॉ० जोस फेरिरा बोसाको एक पत्र लिखा था। उत्तरमें साम्राज्यवादके दलाल डॉ० जोसने लिखा—

"भारतमें पुर्तगाली मात्र आधिपत्य स्थापित करने एवं आर्थिक शोषणके निमित्त नहीं आये हैं, वरन् भ्रातृभावके उच्च आदर्शोंको लेकर आये हैं। इसलिए, उन्होंने भारतीयोंको सदैव अपना भाई समझा है।"—शायद, पुर्तगालमें शिकारी अपने शिकारको 'भाई' कहते हैं।

वास्को-दि-गामा और सालाज़ारकी सन्तानें इसी प्रकारके छद्मवेशमें ब्राज़िल, अफ्रीका और गोआ, दमन, दिव पर शासन करती आयी हैं।

सर्व-सत्ताधारी पोप पायसके पुर्तगाली राजाको प्रदान किये, सन् १४५४ के 'न्युपुर नॉन', सन् १४५६ के 'इन्तर केटेरा' और सन् १४८१ के 'एतर्नी रेजिस्' के आदेश-पत्रोंसे डॉ० सालाज़ारकी सभ्यता और सच्चरित्रताकी डींग पर प्रकाश पड़ता है:

'हम आपको इस बातकी पूर्ण स्वतन्त्रता और छूट देते हैं कि आप सेरोसेन्स, मुस्लिमों और ईसाके अन्यान्य शत्रुओंको क़त्ल करें, उन्हें हरायें, दास बनायें और उनसे लड़ें। उनके राज्य छीन लें, सम्पत्ति जब्त कर लें और सदा-सर्वदाके लिए उन्हें अपने तथा प्रजाके गुलाम बना लें।'

यह है धर्माचार्य पूज्य पोपका पवित्र आदेश। इसीको साथमें लेकर पुर्तगाली भारतमें आये। सन् १४७८ में वास्को-द-गामा ने अकारण स्थानीय मुसलमान मल्लाहोंके अंग-भंग किये। अलबुक़र्क़ नामक दूसरे अत्याचारीने तुर्कीके नाविकोंको पहिले तो निमन्त्रण दिया और बादमें छलसे उन्हें मौतके घाट उतार दिया। उनकी बीवियोंसे अपने सैनिकोंको व्याह दिया। इस लूटका सारा धन गोआमें हिन्दू, मुसलमानोंको जबरन् ईसाई बनाने, चर्चका खर्च चलाने और स्थानीय शासनकी व्यवस्था करनेके काम आया। परिणाममें, सारे मन्दिर, मस्जिद गिरा दिये गये, हिन्दुओंके देव-स्थानोंको अपवित्र किया गया और मुसलमानोंके तीर्थस्थलोंका अकल्पनीय अपमान किया गया।

उपरोक्त पाशविकता, नादिरशाहीसे ऊबकर एक सहृदय पादरी, सालाज़ारके सहधर्मावलम्बी, एवोराके आर्क बिशपने लिखा—

"सभ्यताके जामेमें, धर्मके नाम पर, यदि विदेशियों-द्वारा कहीं अत्याचारोंकी काली कथा देखनी हो, तो वह पुर्तगालियों-द्वारा गोआ प्रदेशमें देखी जाय। ऐसे नीचतापूर्ण, घृणित अनाचार कहीं सुननेमें नहीं आये। लेकिन, इस 'तथाकथित पवित्र धर्मालय'ने, अपने प्रति आयोजित बलात्कार-से संघर्ष करनेवाली पतिव्रता अबलाओंको बन्दी बनाया, उन्हें 'विधर्मी' कहकर जीवित जला दिया।"

गोआके उपनिवेश बननेसे लेकर वर्तमान काल तक 'ईसाई धर्म' को

शासन-संचालनका यन्त्र बनाया गया। इस धर्म-द्वारा जो आदेश मिले, उन्हें पढ़कर किसी भी सभ्य आदमीका सिर लज्जासे झुक जायगा—

'काले हिन्दुस्तानी अपने बाड़े या आँगन में 'तुलसी' नाम का जंगली पौधा न लगायें। अपराधीको निर्वासनसे प्राणदण्ड तक की सज़ा दी जायगी। . . . .हिन्दुस्तानी—सभ्य ईसाई बने लोगोंको उनके पिछले हिन्दू नामोंसे न पुकारें। ईसाई बने पुरुष धोती न पहनें, स्त्रियाँ चोलीका भद्दा वेश न पहनें।' . . .

इन उदाहरणोंसे विदित होगा कि इतिहासमें किसी भी विदेशी सत्ताने इस प्रकारकी असभ्यता प्रदर्शित न की और विजित प्रजाके धर्म और रहन-सहन पर इस प्रकार लज्जाजनक रूपमें आक्रमण नहीं किया। और इसी परम्पराका प्रहरी डॉ० सालाज़ार घोषणा करता है कि यदि गोआसे पुर्तगाली चले गये तो वहाँ सभ्यताका नाम भी न रहेगा।

आज भले गोआ पराधीनताके पाशमें उदास बैठा हो पर गोआकी आज़ादीका दिन दूर नहीं हैं। सन् १७५५ से आज तक वहाँ स्वतन्त्रता-प्राप्तिके लिए अनवरत विद्रोह होते रहे हैं। इनसे प्रत्यक्ष प्रमाणित हैं कि गोआई जनता अपने शासकोंके प्रति कैसा रुख़ रखती है और वह भारतमें विलय होना चाहती है या नहीं।

आरम्भमें मराठों और मुसलमानोंके नेताओंने मिलकर पुर्तगालियोंके खिलाफ़ विद्रोहका झण्डा उठाया, लेकिन द्रोहियोंके विभीषण प्रयत्नोंके सामने, उन्हें विजय न मिली। १७५५ से १८२४ के लगभग ७० वर्षों तक 'रानो' और 'शास्त्रियों' ने बग़ावतका नारा बुलन्द किया। १७८५ में वार्देमें भयंकर विद्रोह हुआ। १८५२ में दीपाजी रानेने पुर्तगालियोंके दाँत खट्टे किये। उसके पश्चात् १८६९ में कुस्तोवाने उन्हें परास्त किया। १८७० में गोआकी पुलिसने बग़ावत की—इन सभी घटनावलियोंकी अजस्र बौछारसे घबराकर पुर्तगाली शासकोंने गोरे और हब्शी फौज़ी नियुक्त किये और नये सिरेसे अत्याचारोंके नये ढंग निकाले। लेकिन, लोगोंके

दिलोंमें आज़ादीकी आग सुलगती रही और सन् १९१३ में पुनः रानोंने विद्रोह किया।

इस प्रकार गोआके मुक्तियज्ञ और पुर्तगाली शासनके अन्त-सम्बन्धी सबल प्रयास जीवित हैं। नये नेताओंमें फ्रान्सिस्को लुइज़ गो सने इन्क़लाब जगाया। कई देशभक्तोंको बन्दी बनाकर पुर्तगाल ले जाया गया और उन पर प्रतिपल अकथनीय जुल्म बरसाये गये।

भारत-भूमिका यह पवित्र भू-भाग गोआ सालाज़ारके फ़ासिस्ट शासन-से आतंकित एवं त्रस्त है। वहाँ भाषण, लेखन एवं विचरणकी स्वतन्त्रताएँ नहीं हैं। केवल सरकारी पत्र अपना विष-वमन कर रहे हैं। भारतीय पत्रोंका प्रवेश वर्जित है।

गोआ-सरकारके आदेश पर समाचार-पत्र-विक्रेताओंकी एक सभा बुलाई गयी थी, जिसके द्वारा भारतीय पत्रोंको लिखा गया कि, 'पुर्तगाली शासन रामराज्य है, इसके विरुद्ध अपने पत्रोंमें न लिखें।'

'गोआ-क्रान्ति-दिवस'के अवसर पर पिछली १८ जून को बम्बईकी एक महती सभामें बोलते हुए समाजवादी नेता अशोक मेहताने बतलाया कि—'पुर्तगाली और फ्रान्सीसी भारतीय बस्तियोंमें जन-आन्दोलन ज़ोर पर है। अवश्य ही, एक सालमें ये सूबे आज़ाद होकर रहेंगे। यदि अब भी इन-इन स्थानोंके तानाशाहोंने अपने अँग्रेज़ आक़ाओंसे सबक़ न सीखा और शान्तिपूर्वक पलायन न कर दिया, तो हमें दूसरे तरीक़ोंसे काम लेना पड़ेगा।'

गोआ आज़ाद होगा और भारतका अविभाज्य अंग बनकर रहेगा, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि विश्वमें मानवीय प्रगति-द्वारा प्रकाश सतत अन्धकार पर विजय पाता जा रहा है।

लेकिन, गोआमें गोरोंकी ओरसे युद्धकी तैयारियाँ हो रही हैं। ३०,००० विदेशी सैनिक बुलाये गये हैं। मार्मागोआ, बेम्बुलिम और बालपोइमें आधुनिक शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित हवाई अड्डे बनाये गये हैं। पिछले सितम्बरमें पश्चिमी अफ्रीकासे ८०० बर्बर हब्शी सैनिक भर्ती किये गये हैं।

नैरोबीके पुर्तगाली कॉन्सल जनरलने कहा है कि आवश्यकता पड़ने पर और भी सैनिक भेजे जा सकते हैं।

पुर्तगाल ब्रिटेनसे की गयी एक पुरानी सन्धि (जिसके काग़ज़ोंको दीमक खा गये हैं) का दम दिखा रहा है कि 'गोआई साम्राज्यकी सुरक्षाका भार ब्रिटेन पर है।' और भारत कॉमनवेल्थका सदस्य जो है? पुरानी सन्धियोंकी अपेक्षा तात्कालिक परिस्थितियाँ अधिक बलवती होती हैं, यह शक्तिका पागल सालाज़ार नहीं जानता?

दूसरा ज़ोर नेटो-द्वारा दिखाया जा रहा है। एक सन्धिमें पुर्तगालने अपने अड्डे अमरीकाको सौंप दिये हैं। और अपने साम्राज्यकी रक्षा वह 'नेटो-शक्तियों' से चाहता है। लेकिन, पिछले दिनों नेटोके दो प्रमुख सदस्य केनेडा और अमरीकाने स्पष्ट कर दिया है कि नेटोकी सहायता-शर्त्त गोआ पर लागू नहीं होती। इससे पुर्तगालमें हलचल चली है।

तथापि, यह निर्विवाद विदित है कि पाश्चात्य प्रतिगामी शक्तियाँ गोआको युद्ध-केन्द्र बनाये बिना न रहेंगी। पण्डित नेहरूने बम्बईके एक भाषणमें कहा था—'हम कदापि यह बर्दाश्त न करेंगे कि गोआ 'वार-बेस' बने।' परन्तु, समझमें नहीं आता कि भारत सरकारके क़दम कब उठेंगे? उधर पांडीचेरीमें 'डिएन बीन फु से भागे हुए फ्रान्सीसी सूरमा' पधारे हैं। उन्होंने पाण्डीचेरीमें युद्धके उपयुक्त कहलाने वाली सभी तैया-रियाँ कर ली हैं। भारतीय सीमा पर खाइयाँ खोदी गयी हैं और गोरी सेनाएँ क़वायद कर रही हैं। नागरिकों पर जुल्म जारी हैं—और क्या चाहिए 'न बर्दाश्त करने' के लिए?

श्री मुनरो अमरीकाके प्रसिद्ध राष्ट्रपति हुए हैं। जब उन्होंने देखा कि योरपीय लुटेरे—फ्रान्स, स्पेन, इटली वग़ैरह, अमरीकाको विविध संकटोंमें फँसाना चाहते हैं और योरपीय-संघर्षोंके निमित्त अधिकृत अमरीकी भूमि पर सेनाएँ रखना चाहते हैं और इस प्रकार अमरीकामें भी आग सुलगाने पर आमादा हैं, तो उन्होंने चेतावनी देते हुए, स्पष्ट घोषित किया था—'अमरीकाके किसी भी स्वाधीन या पराधीन सूबे में विदेशी सेना-लानेवाली

सत्ता अमरीकाकी दुश्मन समझी जायगी और उससे वैसा ही बरताव किया जायगा।'

ठीक वही दशा आज भारत-स्थित पुर्तगाली और फ्रान्सीसी अड्डोंकी है। यहाँ तो सेनाएँ आ चुकी हैं और हवाई अड्डे जंगी जहाजोंसे गूँज रहे हैं। पार्लियामेण्टमें ६ अगस्त १९५३ को विदेश विभागके श्री ए० के० चन्दा स्वीकार कर चुके हैं कि गोआमें भारी सामरिक तैयारियाँ हो चुकी हैं।

हमारी धरती पर, हमारे विरुद्ध शत्रुतापूर्ण षड्यन्त्र, देखती आँखों रचे जायँ और हम चुप रहें? आज मित्रका बाना धारण कर आनेवाले शत्रुसे सावधान हो जाना है। किन्तु भारत-सरकार-द्वारा अपना लिस्बन स्थित दूतावास बन्द करनेसे ही तो कुछ नहीं हो जायगा। आश्चर्यकी बात है कि प्रेसिडेण्ट मुनरोका वही अमरीका ५ जनवरी १९५१ की अपनी पुर्तगाली सन्धि-द्वारा युद्ध या शान्तिके समय सभी अड्डों पर अधिकार चाहता है। इनमें गोआ भी है और गोआमें पुर्तगाली सैनिकोंके साथ अमरीकी अधिकारी भी हैं जो दाँव-पेंच रचनेमें संलग्न हैं। और उस मुनरो-सिद्धान्तका क्या हुआ? मुनरो-सिद्धान्त अमरीकाकी अपनी भलाईके लिए है। अमरीका अपने लिए एक सिद्धान्त रखता है, दूसरोंके लिए दूसरा। उसके सिद्धान्त हाथी-दाँतसे बने हैं। और वह सिद्धान्तोंके लिए हाथीका और हाथीके लिए सिद्धान्तोंका सहज ही बलिदान कर देता है।

दूसरी ओर ब्रिटेनको भी पुर्तगाली-भारतमें सेना रखनेकी पूरी छूट है। ब्रिटेनने भारतको आजाद भले कर दिया हो, लेकिन, वह अभी भारत भूमि से 'चला नहीं गया' है। उसके सब्ज क़दम आज भी कराँची, गोआ, दमन और दिव में क़वायद कर रहे हैं। नीति पुर्तगालकी स्पष्ट है, अस्पष्ट है तो भारतकी। पुर्तगाल गोआको अपना उपनिवेश नहीं मानता, अपने अधीन नहीं मानता, अपना 'अविभाज्य प्रदेश' मानता है। पुर्तगालका सूबा मानता है। तभी न, २० अक्टूबर १९४९ के दिन डिक्टेटर सालाजारने राष्ट्रीय-सभामें घोषणा की थी—'गोआके सम्बन्धमें भारतके साथ किसी प्रकारकी कोई बातचीत नहीं की जा सकती।'

किन्तु, सालाजार नहीं जानता कि चार सौ वर्षोके पुर्तगाली पापके घड़ेमें विस्फोट होने ही वाला है। २०० सालोंका, गोआई लोगोंका, स्वातन्त्र्य संग्राम सफल होकर ही रहेगा। और जल्दी ही गोआ भारतका समृद्ध एवं शान्तिपूर्ण प्रान्त बनेगा। और तानाशाहीके रखवाले अपनी सत्ताके मदमें अपने सर्वसंहारी भविष्यको भूले हुए क्यों न हों, उससे बेखबर तो वे नहीं हैं। विनाश स्वयं पराजय है!

# नेपालकी नई राह

विगत कई वर्षोंमें नेपालमें अव्यवस्था और अशान्तिका वातावरण प्रसारित रहा है। वहाँकी अशान्तिके मूलमें स्थानीय राजनीतिक दल-बन्दियाँ हैं। नेताओंके क्षुद्र स्वार्थोंने हिमालयकी इस छोटी-सी रियासतकी शान्ति नष्ट कर दी है। इससे समाज-विरोधी तत्त्वोंको उभर आनेका अवसर मिल गया है। समय-समय पर प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ सिर उठाती हैं। पिछले दिनों देशभक्तोंने अपनी कुरबानियाँ देकर, जितने अधिकार पाये थे, वे अंधकारमें ओझल होते लगते हैं।

नेपाली अशान्ति भारतके लिए चिन्ताका कारण है। क्योंकि नेपाल, न केवल हमारा पड़ोसी है, वरन् हमारे उसके रक्त और सांस्कृतिक सम्बन्ध एक हैं। यदि नेपाल अराजकताका केन्द्र बनता है और विदेशी आक्रान्ता किसी भी रूपमें वहाँ प्रवेश कर जाते हैं, तो भारतीय राजनीतिक अवस्था पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ता है। अपने देशके सीमान्त पर किसी प्रकारकी अव्यवस्था और अशान्ति भारत बरदाश्त नहीं कर सकता। इससे, न केवल सीमान्त प्रदेशको हानि होती है वरन् समीपस्थ भारतीय प्रदेशमें भी देश-द्रोहियोंको अपनी विनाशक प्रवृत्तियाँ फैलानेका मौक़ा मिलता है। फिर, सचाई तो यह है कि भला कौन ऐसा देश है जो अपने पास और पड़ोसके देशों में, अपनी सीमाओं पर, अराजकताका ताण्डव चलने देगा? दक्षिण कोरियाई सेनाएँ उत्तरी कोरियामें, जब बहुत आगे बढ़ आईं और चीनको अपनी मंचू-सीमा सुरक्षित रखनेकी चिन्ता हुई तो, उसने आक्रामक-दलोंको तत्काल सावधान किया कि हमारी सीमा-रेखाका तिलभर भी उल्लंघन आपके लिए युद्धका निमन्त्रण होगा। प्रधानमन्त्री नेहरू इस ख़तरेको जानते थे और उन्होंने मेकआर्थरके हमलोंका प्रकट रूपमें विरोध किया था। हिन्दचीनकी शान्तिके पूर्व, वियतमिन्ह सेनाओंकी विजयावलियोंने स्यामको

चौंका दिया था। ईरानकी उत्तरी सीमा पर रूस सदैव सचेत है। पाकिस्तान अफ़ग़ान-सीमा पर जागरूक है। और अमरीका तो इतना डरता है कि कई हज़ार मील दूर बसे ताइवान—फ़ारमोसाको अपना पड़ोसी और मित्र मानकर, अपनी और उसकी सुरक्षाके निमित्त एटमके नगाड़े बजाता है।

इस प्रकारके अनेक उदाहरण यह सिद्ध करनेके लिए उपस्थित किये जा सकते हैं कि पड़ोसी राज्यकी अशान्ति किस प्रकार देश-विदेशके लिए चिन्ताका कारण बन जाती है! फिर भला, नेपाल या लंकाकी अशान्तियाँ भारतको चिन्तित क्यों न कर दें?

'नेताओंकी बहुतायत' नेपालका रोग है। नेपाली कांग्रेस, नेपाल राष्ट्रवादी गोरखा परिषद्, राष्ट्रीय प्रजातान्त्रिक दल, साम्यवादी दल, समाजवादी दल आदि दलों और संस्थाओंके अतिरिक्त कोइराला बन्धु, भरत शमशेर, रणधीर सुब्बा, डॉ० के० आई० सिंह (जो चीनमें थे) आदि नेता हैं, जिनके हाथों नेपालके नये नामका निर्माण होगा। इनमें कोइराला बन्धु काफ़ी प्रभावशाली हैं, परन्तु दोनों भाइयोंमें मतभेद इस प्रकार उभरे हुए हैं कि न नेपाल और न नेपाली जनताको ही चैन है। नेपालका पश्चिमी प्रदेश साम्यवादी आन्दोलनका प्रधान क्षेत्र बना है। दक्षिण-पंथी दलोंको इससे गहरी चिन्ता है। वास्तवमें, सच तो यह है कि स्वार्थोंमें पड़े हुए नेपालके दक्षिण-पंथी रहनुमा एकमत होकर अपने अविकसित दरिद्र देशकी सार्वभौमिक उन्नतिके लिए, कोई क़दम नहीं उठाते। यद्यपि राजनीतिमें मत और विरोधकी स्वतन्त्रता महत्त्वपूर्ण है, परन्तु देशका विकास और उसकी आन्तरिक शान्ति-सुरक्षा उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

भारतका यह भाई-नेपाल—काफ़ी वृद्ध है। नेपालियोंका तो कथन है कि उनके राज्यने सतयुगमें जन्म लिया था। यह सत्य है कि नेपालके महाराजा उदयपुर चित्तौड़के सिसौदिया वंशके वंशज हैं। जब उत्तरी भारतमें, इस्लामको साथमें और तलवारको हाथमें लिये मुसलमान हमलावर बढ़े चले आ रहे थे तब पारस्परिक फूटसे परास्त राजपूत भारतभरमें अस्त-

व्यस्त हो गये, उसी समय सिसौदियाओंके किन्हीं वंशजोंने हिमालयकी गोदमें विश्राम लिया। कहते हैं कि नेपालियोंकी अराजकताका लाभ उठाकर सन् १७६९ ई० में पृथ्वीनारायण राजा ने काठमण्डु पर अपना अधिकार जमा लिया। तबसे नेपाल पर पृथ्वीनारायणका परिवार शासन करता आ रहा है। सन् १८५० ई० के बाद नेपालमें राजनीतिक अव्यवस्था आई और राणाओंने शासनसूत्र अपने हाथमें ले लिया और राजा नाम मात्र को "महाराजाधिराज" बना दिया गया। लेकिन १९५१ में राणाओंके विरुद्ध विद्रोह हुआ और उन्हें अधिकारच्युत कर दिया गया।

सहस्राब्दियों तक नेपाल भारतके अन्तर्गत रहा। कहा जाता है, पाटन जिसके दूसरे नाम अशोकपट्टन और ललितपट्टन भी हैं, मौर्य साम्राज्यकी सीमामें था और इसे महाराज अशोकने बसाया था। नेपालके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'स्वयंभू-पुराण'में अशोककी नेपाल-यात्राका वर्णन मिलता है। मुसलमानी कालमें भारत और नेपालके बीच समुचित सम्बन्ध रहे हैं। इसके बाद अंग्रेज़ोंकी बानरी दृष्टि नेपाल पर रही, पर, वे उसे पराजित न कर सके। फिर भी, अँग्रेज़ अपनी चाल चलता रहा और साम, दाम, दण्ड, भेदकी नीति-द्वारा उसने नेपाल राज्यको सन् १८१६में सन्धिके लिए मजबूर कर दिया। इसी साल नेपाल और ब्रिटिश सरकारके बीच सैगोलीकी सन्धि हुई।

एवरेस्ट, धवलगिरि तथा किंचनजिंघा-जैसे शुभ्र हिमशिखरोंसे आवृत नेपालकी पवित्र उपत्यका महाराज हिमालयकी गोदमें स्थित है। इसके तीन ओर युक्तप्रान्त, विहार और बंगालके भारतीय प्रान्त हैं और चौथी ओर, पूर्वमें चीन तथा उत्तरमें तिब्बत देश हैं।

नेपालकी जनसंख्या लगभग ६५ लाख है, जिसमें विभिन्न जातियोंके लोग हैं। आर्य, चीनी वंशज, ब्राह्मण, राजपूत, शूद्र आदि सारे प्रदेशमें फैले पड़े हैं। गुरंग, मगर, नेवारी और जंगली क़बीले भी पाये जाते हैं। नेपालकी राष्ट्रभाषा संस्कृतकी पुत्री 'नेपाली' है। नेपालमें प्राकृतिक-वैभवकी कमी नहीं है। नदियाँ हैं—जो यातायात और विद्युत्-शक्तिके

लिए उपलब्ध हैं। ताँबा, अबरक, लोहा, सीसा तथा सोनेकी खानें हैं। पर्वतों पर 'पाइन' और 'फर'की लकड़ी मिलती है। जूट, चाय, आलू, धान, बाजरा आदिकी अच्छी फसलें होती हैं।

नेपाल अपने राजाके अधीन है। और वहाँ वैधानिक शासन स्थापित है। नेपालका राजा ब्रिटेनके राजाके समान उत्तरदायी एवं वैधानिक नरेशके रूपमें रहनेको प्रस्तुत है। पिछले दिनों नेपालमें कई बार उत्तरदायी मन्त्रियोंकी सरकारें बनीं और बिगड़ीं परन्तु जनताकी परिस्थितियोंमें कोई खास अन्तर नहीं आया। यही कारण है कि नेपालको चैन नहीं।

सन् १९५३के द्वितीय सप्ताहमें राष्ट्रवादी गोरखा-परिषद्ने (जो एक दक्षिणपंथी दल है) यह माँग रखी थी कि तत्कालीन राजा त्रिभुवन इस परिषद्को मन्त्रिमण्डलके रचनार्थ निमन्त्रित करें। परिषद्का यह दावा था कि वही नेपालकी सर्वाधिक लोकप्रिय संस्था है और बहुसंख्यक प्रजाका प्रतिनिधित्व करती है। ठीक ऐसी ही माँग राष्ट्रीय प्रजातान्त्रिक दलने भी प्रस्तुत की थी। माँग पेश करनेके लगभग तीन मास पूर्व, इस दलकी रचना एन० पी० कोइरालाके साथियोंने की थी। भला, तीन ही मासमें इस दलने जनताकी ऐसी कौन-सी सेवाएँ की होंगी, जिनसे प्रसन्न होकर जनताने इससे एकमात्र प्रतिनिधि बन कर शासक बननेका निवेदन किया! राजनीतिक मतका महत्त्व अलग है। गोरखा परिषद्ने अपने वार्षिक अधिवेशनमें यह प्रस्ताव पास किया कि विधान-सभा-चुनावके लिए एक तिथि नियत कर दी जाय, सरकार जिसका उल्लंघन न करे। परिषद्ने विदेशियों-द्वारा संचालित अराजक तत्त्वों और हिंस्र प्रवृत्तियोंके स्वामियों-का समुचित विरोध किया।

इधर नेपाली कांग्रेसने सन् १९५३के मई मासमें लगान-बन्दीका आन्दोलन आरम्भ किया। मोरंगके ज़िलेमें कांग्रेसने स्वयं २५ प्रतिशत लगान वसूल कर लिया और इस धनसे लोकोपयोगी कार्यों—(सड़कें, नहरें, पुल आदि बनवाना)की पूर्तिका कार्यक्रम बनाया गया।

कांग्रेसके इस क़दम पर अस्थायी सरकारने मई ११को चेतावनी दी कि

जो व्यक्ति किसानोंको लगान बन्दीके लिए उभाड़ते पाये जायंगे और अनुचित उपायों-द्वारा आतंकित करेंगे उन्हें सख्त सजाएँ दी जायंगी। सरकारने यह भी स्वीकार किया कि इस आशयके समाचार कई ज़िलोंमें मिले हैं।

नेपालके शासन और सुव्यवस्थाके लिए भारतने कई विशेषज्ञ भेजे। विभिन्न भाँतिसे नेपालकी सहायता करना स्वीकार किया। इसमें भारतका अपना कोई स्वार्थ तो नहीं, उस पड़ोसी रियासतका लाभ है, जहांके सरकारी अफ़सर सालभर पहले यह भी नहीं जानते थे कि सरकारी रक़मके लेन-देनकी रसीदें रखी जाती हैं और ऑडिटर जनरल, जो किसी भी अनुचित प्रभाव सत्तासे मुक्त है, उनकी जाँच करता है। इससे पता चलता है कि नेपालके सरकारी विभागों और हाकिम-हुक्कामोंमें किस सीमा तक अव्य-वस्था रही होगी! फिर भी भारतीय सहयोगको कृतज्ञता यह मिली कि कथित राष्ट्र-भक्तोंने "भारत हमसे दूर हो, अफ़सरोंको लौटा लो,"के नारे लगाये। पण्डित नेहरू जैसे शान्तिप्रिय व्यक्तिकी कटु आलोचनामें कहा गया कि नेपाल पर नेहरूकी नज़र है, वे नेपालकी स्वतन्त्रताको छीनना चाहते हैं। लेकिन, ऐसे भारत-विरोधी व्यक्ति इने-गिने ही हैं और शेष जनता नेहरूको अपना नेता और भारतको अपना देश समझती है।

नेपालके पश्चिमी ज़िलेमें, जेलसे फ़रार साम्यवादी नेता, भीमदत्त पन्तके नेतृत्वमें एक नया आन्दोलन आरम्भ हुआ था। भीमदत्त पुलिसकी गोलियोंसे शहीद हुआ। रोज़ी और रोटीकी पुकार पर कई हज़ार लोग भीमदत्तके साथ थे। वास्तवमें, शासकीय कुव्यवस्था और प्रजाकीय दरिद्रताके दो पाटोंमें नेपाल पिसता रहा है। भीमदत्त तूफ़ानकी तरह बढ़ा। दक्षिण पश्चिमी इलाक़ेमें उसके साथियोंने एक प्रकारकी 'सरकार' स्थापित की। सरकारी खजाने और सेठोंकी निजी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया गया। पुलिसके कई सिपाही मारे गये और शासकीय सेनाको पीछे हटना पड़ा। कहा जाता है, भीमदत्त पन्त और उसके साथी डॉ० सिंहके अनुयायी थे।

उधर मातृकाप्रसाद कोइरालाने प्रधान मन्त्रीके रूपमें, पुनः अपना

मन्त्रिमण्डल बनाया। प्रधान कोइरालाको कई समस्याओंका सामना करना पड़ा। सर्वप्रथम आवश्यकता शान्ति और व्यवस्थाकी थी। नेपाली जनताकी बेकारी और ग़रीबी दूर करना भी उतना ही आवश्यक हुआ। 'विद्रोह' और 'मुक्ति-आन्दोलन'के समक्ष, उन्हें केवल सैन्यबल पर नहीं, परन्तु स्थायी विकास-कार्यक्रम लेकर खड़ा रहना था। संकटकी इस घड़ीमें नेपाल अपने प्रधान मन्त्रीसे प्रेक्टिकल योजना और दृढ़ताका प्रार्थी बना।

ब्रिटेन नेपालमें अपनी स्थिति मजबूत रखना चाहता है। वह सदैव अपने साम्राज्यकी रक्षाके निमित्त, गोरखा सैनिकोंकी भर्ती करता रहा है। गोरखा पेटके लिए मजबूर हैं। यों, भारत भी गोरखा-भर्ती करता है, परन्तु भारत और नेपालके सम्बन्ध—पारिवारिक सम्बन्ध हैं। अमरीका नेपालमें हवाई अड्डे बनाकर, तिब्बत स्थित चीनी सेनाओं और चीनी हवाई बेड़ेकी ताक़त सीमित रखना चाहता हैं। चीन अपनी सीमामें अपनी रक्षाके निमित्त तैयारियाँ करता है, अमरीका एक छोटे राष्ट्रकी आर्थिक मजबूरीका लाभ उठाकर साम्यवाद विरोधी मोर्चा क़ायम करना चाहता है। यह नेपालियोंके लिए है कि वे अपने देशका शासन-प्रबन्ध किस प्रकार करें। गांधीवादी, पूँजीवादी, समाजवादी या साम्यवादी विचारधाराओंमेंसे—अपने हितके अनुरूप व्यवस्था, उन्हें चुन लेना है। भारतसे निकट सम्पर्क एवं सम्बन्ध बनाये रखना, नेपालके हित एवं अस्तित्वके लिए अत्यन्त आवश्यक है। गुमराह एकतन्त्रवादी, नेपालको इसके विपरीत ले जाना चाहेंगे।

नेपालमें कुल मिलाकर सात राजनीतिक पार्टियां हैं। उनमें सर्वाधिक परिचित दल बी० पी० कोइरालाकी 'नेपाल-कांग्रेस' है। यह नेपाल कांग्रेस ही थी जिसने १९५०में राणाओंकी स्थापित हुकूमतके खिलाफ़ बग़ावतका नारा बुलन्द किया था। शासन-प्राप्ति पर इस काँग्रेसमें फूट पड़ गई और फूटने उसके दो टुकड़े कर दिये। वास्तवमें देखा जाय तो, नेपाल-कांग्रेस कभी एक संयुक्त पार्टी न थी। वह तो विविध पार्टियोंका एक विचित्र पिटारा थी। पदच्युतिके कारण इसके नेता वैचारिक एवं अन्य गति-

अवरोधोंके कारण, किंकर्तव्यविमूढ़ हुए। उनके राजनीतिक पतनका मूल कारण यह रहा कि उन्होंने जनहितके लिए आवश्यक अनेक मसलों और कार्यो पर व्यावहारिक क़दम नहीं उठाये।

भूतपूर्व प्रधानमन्त्री—एम० पी० कोइरालाका दल, राष्ट्रीय प्रजा-तान्त्रिक पार्टी—दूसरे नम्बरमें हैं। यह वह नक़ली पार्टी है, जो केवल एम० पी० कोइरालाको राजनीति-पद पर सत्तारूढ़ रखनेके लिए रची गई है। इसके विधाताओंमें वे सब सज्जन हैं जो वड़े कोइराला बन्धुके साथ नेपाल-कांग्रेससे निकल चले थे। मजेकी वात तो यह है कि प्रजातान्त्रिक दल भी अपने आपमें तितर-वितर है—पिछले दिनों, नेपाल परामर्शदात्री असेम्वलीमें इस दलने अनेक वार पराजय पाई थी।

नेपालका सवसे पुराना दल राष्ट्रवादी प्रजा परिषद् है। इसका नेता तनक प्रसाद जेलका पुराना परिचित यजमान है। १९४२में उसे फाँसीकी सजा दी गई, परन्तु ब्राह्मण होनेके नाते वह वच गया। और १९५१मे जव कुख्यात राणाओंका पतन हुआ तो तनक प्रसादको जेलसे मुक्ति मिली। प्रजा परिषद्में सुव्यवस्था नहीं है। यदि यह कमी दूर हो जाय तो, यह दल जनताकी कुछ सेवा कर सकता है।

इधर राणाओंने भी 'गुरखा-दल' नामक एक वड़ी पार्टी वनाई। इस दलकी एक मात्र माँग है कि यह एक सुदृढ़ सरकार चाहता है। रानी मृगेन्द्र देवी इस दलकी सर्वेसर्वा हैं, जिसके पति और पुत्र जेलमें थे।

भद्रकाली मिश्रकी 'तराई-कांग्रेस' उन लोगोंको एकत्र और संयुक्त करना चाहती है, जो अव तक राजनीतिक चेतनासे दूर रखे गये हैं।

कई दिनोंके वार्ताव्यवहारके वाद अव नेपालमें प्रजापरिषद्के सदस्यके प्रधान मन्त्रित्वमें मिली जुली सरकार वनी है। देखना है, इसका भविष्य आन्तरिक कलहसे कहाँ तक सघर्ष कर विजयी होता है!

नेपालका 'साम्यवादी दल' यद्यपि छोटा-सा दल है, तथापि उसका अनुशासन और कार्यकलाप सुव्यवस्थित है। यह नेपालका सवसे अधिक सक्रिय एवं लोकप्रिय जनसेवी दल है। के० आई० सिंह साम्यवादी कहा

जाता है, परन्तु वह इस दलका सदस्य नहीं है। कह नहीं सकते कि वापस लौटने पर अब राजनीतिमें उसका भावी कार्यक्रम क्या होगा ?

आजका नेपाल राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओंसे घिरा हुआ है। स्थानीय सरकार भ्रष्टाचारका गढ़ बनी हुई हैं। लोगों पर अर्थके सवाल ववाल बनकर घिर रहे हैं और वे इस ओरसे उदासीन हैं कि इनकी राजधानी काठमण्डुमें कौन शासन कर रहा है! होना तो यह चाहिए था कि जन-साधारणको राणाओंके पतन पर, पिछले शोषणसे मुक्ति मिलती, परन्तु परिणाममें कुछ नहीं मिला, और राणाओंकी ख़ाली कुर्सी पर नये शोषक आ बैठे। विश्वमें लगभग प्रत्येक देशकी सामन्तीय उथल-पुथलके बाद ऐसा ही हुआ है, जब कि सामन्ती व्यवस्थाका स्थान महाजनी, व्यापारी-व्यवस्थाने ले लिया हैं।

ऐसी दुरवस्थामें यह सहज सम्भव है कि नेपालमें किसी भी क्षण जनताके सहयोगसे साम्यवादियोंका शासन स्थापित हो सकता है अथवा 'गुरखा-दल' वाले राणा जनताके असन्तोषसे लाभ उठाकर सशस्त्र बलवा करें और फिरसे अपनी पतनगता व्यवस्था स्थापित करें।

वर्तमान परिस्थितिमें नेपालीय राजनीतिके रंगमंच पर ऐसा दृश्य किसी भी क्षण प्रदर्शित हो सकता है, जिसमें अतिदक्षिणपंथी प्रतिक्रिया-वादियों और अतिवामपक्षीय प्रगतिवादियोंके मध्य द्वन्द्व छिड़ जाय और जनताके भोले भाग्यका निपटारा हो। यदि किसी दिन छोटे-से नेपालमें वह क्षण आया और गृह-युद्धकी ज्वाला जली तो दो बातें असम्भव नहीं— एक तो विदेशी हस्तक्षेप, दूसरा भारत तक पहुँचता—उस ज्वालाका ताप। यह स्पष्ट है कि आजके नेपालकी इतनी सामर्थ्य नहीं कि वर्तमान परिस्थि-तियोंमें वह विदेशी आक्रमणों और षड्यन्त्रोंके कुचक्रोंसे अपनी रक्षा कर सके। विविध प्रकारके राजनीतिक मत, वाद एवं स्वार्थ नेपालमें अपने जाले बुन रहे है। नेपाली जनता और नेताको इन सबसे अपना संरक्षण चाहिए।

इस स्थायी संरक्षण एवं शान्तिकी प्राप्तिके लिए कई प्रयास किये जा

सकते हैं। जनतामें जागरण, ऐक्य भावना एवं शिक्षा प्रचार; शासनमें सुव्यवस्था एवं योग्यता अनिवार्य है। नेपालकी ग़रीबी असह्य है। मानवता पर कलंक है। आर्थिक सहायता लेकर एक सीमा तक सुधार किये जा सकते हैं। परन्तु जन-जनकी आर्थिक अवस्था तब तक नहीं सुधर सकेगी जब तक नेपाली शासन अपने अनावश्यक ख़र्च न मिटा दे। नेपाल जैसे छोटे राष्ट्र-के लिए २० हज़ारकी पैदल सेना—चाहे वह कितनी ही बड़ी एवं सशक्त क्यों न हो, रखना दारिद्र्यके कारणोंमेंसे एक है। सेनाका भार सहज ही हटाया जा सकता है। नेपाल चाहे तो काश्मीरकी तरह रक्षा, यातायात, डाकतार और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धोंके लिए भारतसे समझौता कर सकता है। आख़िर नेपाल और भारत एक परिवारके दो भाई ही तो हैं।

—इस प्रकार नेपालमें सहज ही शान्ति और सुव्यवस्थाकी स्थापना हो सकेगी। एशियामें नवीन जागरण आया है। उसके अंग-अंगमें नव रक्त-प्रवाह लहरें ले रहा है। ऐसे समय, भला, नेपालमें अन्धकार और सुषुप्ति कैसे रह सकती है? भारतके द्वारा नेपालको नई दिशा एवं नई राह मिलेगी, यह निश्चित है।

हालमें नेपालके नये राजा महेन्द्रकी ताजपोशीके समय पाकिस्तानने कूटनीतिक दायरोंमें भारतके विरुद्ध हलचल मचानी चाही किन्तु नेपाल सचेत रहा। इस प्रकारकी छोटी-मोटी हलचलोंको बाहरके विरोधी तत्त्व प्रश्रय देते रहे फिर भी आशा की जाती है कि नेपाल केवल अपने अस्तित्वको ही सुरक्षित रखनेमें समर्थ न होगा, बल्कि भारतकी सशक्त मैत्रीको भी अपनाये रहेगा।

●

# श्रीलंका

## राष्ट्र-गीत

नमो नमो माता अप श्रीलंका
नमो नमो नमो नमो माता
सुन्दर श्रीवारिणी सुरैंदी
अति शोभमान लंका
धान्य धन्य निक मल पल थुरु पिरी
जयभूमि रम्य अपहट रूप श्री-सित-सदना
जीवन ये माता
पिली गणभन अप भक्ति पूजा
नमो नमो माता अप श्रीलंका

# लंका और भारतके अन्तरालमें

पश्चिमके राजनीतिक क्षेत्रोंमें भारतको मौखिक सम्मान मिला है, परन्तु सामाजिक क्षेत्रोंमें आज भी काले और गोरेका भेद विद्यमान है। भारतीय विदेश-नीतिमें कहीं कोई त्रुटि अवश्य है कि आज उसी भूमि पर जो कल तक हमारी थी, हमें अपमानित किया जाता है। आखिर, किसी देशका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व और मान ही तो उसकी विदेशी-नीतिकी अनेक सफलताओंमेंसे एक है। पाकमें, मलायामें, मारिशसमें, गोआ-दमनमें, अफ्रीकामें और लंकामें भारतीयोंका जो अपमान किया जा रहा है, क्या उसके मूलमें इन देशोंकी अपनी जड़ताके अतिरिक्त हमारी नीतिका कोई कमज़ोर पहलू नहीं है?

## भारत-विरोधी प्रचार

लंका, जो अनन्तकालसे आर्यावर्तका अभिन्न अंग रहा है, भारतीयोंको अपने देशसे निर्वासित कर देनेको कटिबद्ध है। आये दिन वहाँके ईसाई और विदेशी नेता भारतवासियोंके विरुद्ध ज़हर उगलते हैं और उन्हें यथाशीघ्र 'क़त्ल' कर देनेकी धमकियाँ प्रकट रूपमें देते हैं। इस विषयमें भारतीय सरकारने क्या क्या किया, यह अधिक लोग नहीं जानते।

१९५३के १३ अगस्तके दिन कोलंबोमें हिन्दियोंका बाज़ार लूट लिया गया। आग लगाना, स्त्रियोंका अपमान करना और लूट-खसोट चलाना साधारण बात थी। खुले आम पर्चे बाँटे गये कि भारतीयोंका सामूहिक क़त्ल करो और उनकी सम्पति लूट लो। यही हुआ।

यदि लंकाके अगियावैताल यही बात किसी दूसरे राष्ट्रके विषयमें कहते और इस प्रकार खुली चुनौतियाँ देते तो अवश्य उसकी सीमा पर उस राष्ट्र विशेषकी सशक्त सेनाएँ जा खड़ी होतीं। लेकिन, भारतकी ऐसी

जंगखोर नीति नहीं। तो, क्या हम 'अपने ही रक्त' की रक्षा नहीं कर सकते ?

यदि लंकामें प्रसारित भारत-विरोधी-प्रचारका परिचय पाना चाहें तो परिस्थिति हमें और आगे ले जायगी।

लंकाके मूर-संघका सभापति सर राजिक फरेड् कहता है :—डेढ़ लाख भारतीय जो सरकारी नौकरीमें हैं, तत्काल हँकाल दिये जायँ और उनके स्थान पर सिंहलियोंको नियुक्त किया जाय।

भारतीय नेताओंने समय-समय पर सिंहलियोंको समझानेका प्रयत्न किया परन्तु स्थितिके सुधारका कोई सुचिह्न दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

यह भेद तो अब प्रकाशकी तरह उजागर हो चला है कि लंकाके सारे रोष, जोश-खरोश और आक्रोशके पीछे पाश्चात्य शक्तियों और उनके प्रमुख अभिनेता अमरीकाका हाथ था। कोलम्बो स्थित अमरीकी राजदूतावास भारतविरोधी प्रचार-कार्यमें खुलकर ख़र्च करता रहा है। इस रहस्यका उद्घाटन करते हुए लंकाके डा० एन० एम० परेरा और अन्य नेताओंने प्रतिनिधि सभा (हाउस आफ रिप्रजेण्टेटिव्स)में स्पष्ट रूपसे कहा :—

'अमरीकी राजदूतावास या राजदूतके लिए यह अशोभन है कि वे स्थानीय पार्टी पोलिटिक्समें भाग लें। इस दूतावासने भारत-विरोधी आन्दोलनके लिए पर्याप्त राशि प्रदान की है।'

६ अगस्त १९५४ को लंकाके दूसरे नेता श्री सुन्दरलिंगम्ने भी यही दुहराया :—'अमरीकी दूतावास मकानोंकी दीवारों पर लिखे जाने वाले भारत-विरोधी नारोंके लिए धन दे रहा है।'

लंकाके इस प्रकारके देशी-विदेशी कारनामोंसे चिन्तित होकर स्थानीय लोकप्रिय साप्ताहिक 'ट्रिब्युन'ने अपने अग्रलेखमें बड़े ज़ोरदार शब्दोंमें लिखा :—

"भारत और लंकाके मध्यकी खाई और उसका खतरा प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। वर्तमानमें भी पर्याप्त भय और आशंकाएँ छाई हुई हैं।

"सबसे अधिक दुःख और चिन्ताकी बात तो यह है कि 'अमुक' विदेशी राजदूतावास जिसे एशियाई लोगोंके उद्धारकी फ़िक्र हर घड़ी सताती रहती है, ख़ुद कुछ करना चाहता है और एशियाई जनताके मार्गमें बाधक बनता है। यह दूतावास भारत-लंकाके विरोध और उनके बीचकी खाईको और चौड़ी, और चौड़ी बनाता जा रहा है। वह लंकाके नादान और नासमझ राज-नीतिक व्यक्तियों और दलोंको भारत-विरोधकी होली धधकानेके लिए उत्तेजित करनेमें, अति व्यस्त है।"

## लंकामें भारतीय

स्थितिकी गम्भीरता यह माँग करती है कि हम समस्याकी रुग्णताके मूल स्वरूपको पहचानें और उसके शमनके लिए आयोजित उपचार तथा निदानका निर्णय करें।

लंकावासी भारतीयोंकी संख्या लगभग १० लाख है। देशकी कुल आबादी ६६ लाख है और इस गणनासे भारतीय कुल जनसंख्याका पाँचवाँ अंश है। सदियोंसे ये लोग लंकामें बसे हुए हैं। कुछ नये निवासी भी हैं, उनके सम्बन्धमें भारत कुछ न कहना चाहेगा, किन्तु जो शताब्दियोंसे सिंहलको अपनी मातृभूमि मान कर रहते आये हैं, उनका सर्वत्र अपहरण कर, उन्हें दिगम्बर बनाकर भारत भेज देनेके अपने पुण्य-कार्यमें लंका कहाँ तक सफल हो सकता है, यह भविष्य ही बतायगा।

लंकाको इस प्रकारके नरमेधका पापानुष्ठान करनेसे पूर्व, उसके परिणामोंको भली भाँति सोच लेना चाहिए। और केवल स्वार्थी विदेशियों और विधर्मियोंके बहकावेमें आकर अपने महानतम पड़ोसीका अहित न करना चाहिए।

पण्डित नेहरू और पिछले सिंहलीय प्रधान मन्त्री श्री सेनानायकके मध्य प्रथम बार लन्दनमें, इस प्रश्नको लेकर चर्चा चली थी, परन्तु परिणाम कुछ न निकला। कुल १० लाखकी भारतीय आबादीको छोड़कर पीढ़ियों-से रहते आये चार लाख नागरिकोंको लंका सरकार स्वीकार करती है।

लगभग तीन लाख व्यक्तियोंको स्थायी वासपत्रक देनेको तैयार है और शेष तीन लाखको न लंका-सरकार, न भारतीय सरकार अपना नागरिक मानती है। इन 'राज्यरहित बेघरबार' लोगोंका क्या हो? जब वे लंकामें रहते हैं तो लंका उनके लिए क्यों उत्तरदायी नहीं है? आगे चल कर, हम इन प्रश्नों पर प्रकाश डालेंगे।

नागरिक अधिकारोंके लिए लगभग ८ लाख आवेदन-पत्र प्राप्त होने पर भी सिंहलीय सरकारने केवल २० हज़ार नाम रजिस्टर किये। स्पष्ट है कि इन बीस हज़ारमेंसे अधिकांश पर्याप्त प्रभावशील एवं धनीमानी व्यक्ति होंगे। न मालूम कितनी रिश्वतें देकर, अपमान एवं ताड़नाएँ सहनेके बाद इनके नाम लिखवाये गये होंगे, शेष पौने दस लाख लोगोंका क्या होगा?

लंका भारतका वह एक पैर है, जिसे फूट-कुशल कूटनीतिज्ञ अँग्रेज़ोंने १८०२में काटकर अलग कर दिया। भारत उसके हाथमें नहीं रह सकेगा इस तथ्यको अँग्रेज उसी दिनसे जानता था, जिस दिन उसने पहली बार भारत-भूमिपर अपना अपावन, कुटिल चरण रखा था। इस आग्नेय सत्यकी पुष्टि तब और अधिक हो गई थी, जब प्लासीके मैदानोंमें क्लाइवके छक्के छूट गये थे।

२५ हज़ार वर्गमीलके इस छोटेसे टापू लंकाकी जन-संख्यात्मक स्थिति इस प्रकार है :—

| | | |
|---|---|---|
| कुल आबादी | ६६ लाख | ५९ हज़ार |
| भारतीयोंकी सन्तति—बौद्ध सिंहल और कण्डियन | ४६ लाख | ३७ हज़ार |
| सिंहलीय हिन्दू तमिल—दाक्षिणात्योंके वंशज | ७ लाख | |
| भारतीय विभिन्न जातियाँ | ८ लाख | ५० हज़ार |
| मुस्लिम—जो 'मूर' कहलाते हैं | ४ लाख | ५ हज़ार |
| बर्गर्स—प्राचीन डचों और पुर्तगालियोंकी औलाद | | ४० हज़ार |
| मलय | | १८ हज़ार |
| यूरोपियन गोरे | | ११ हज़ार |

भारतीय पक्षकी सत्यताकी सिद्धि इस विवरणसे हो जाती है कि लंका-वासी भारतीय शताब्दियोंसे लंकामें रहते आये हैं जब कि लंका भारतका अपना भू-भाग था। सन् १७९६ ई० में अँग्रेज़ पहली वार लंकामें प्रविष्ट हुआ और १८१५ तक के १९ वर्षोमें वह पूरे लंका द्वीप पर छा गया।

१८१५में ही ब्रिटिश साम्राज्यवादने कैण्डी पर विजय प्राप्त की और अपने स्वार्थसे सम्वन्धित स्थानीय विकास-योजनाओंमें लग गया। नहर, पुल, सड़क, रेल, कारखाने और वग़ीचोंके निर्माणमें उसे कुशल कारीगरों और श्रमिकोंकी आवश्यकता थी। इन कार्योंके लिए लंकाके आराम-पसन्द सिंहल लोग नाकाम सावित हुए। जो थोड़े वहुत लंकावासी भारतीय थे, उनकी सेवाएँ वड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। यह देखकर गोरोंने सोचा कि यदि अधिक संख्यामें भारतीयोंको लंका वुलाया जाय तो वे बड़े सहायक प्रमाणित होंगे। फलस्वरूप १८३०के आरम्भमें भारतीयोंके श्रमकी प्राप्तिके द्वारा लंकामें अनेक प्रकारके विकास-कार्य विकसित हुए। अपनी लंका-विजय पर, विदेशी स्थानीय आर्थिक शोषणमें लग गये। उन्होंने न केवल राजनीतिक अधिकार स्थापित किया, वरन् लंकाकी भूमि पर अपने स्वार्थोंको आरोपित कर दिया। कैण्डीके पर्वतों पर और आसपासके प्रदेशमें उन्होंने १८३०में ही काफीकी पैदावार शुरू की। इन पर्वतीय उपत्यकाओंमें जो परिश्रम करना पड़ता था, वह सर्वथा असाधारण था। भारतीय मजदूरों, उनके नन्हें वच्चों और उनके वूढ़े माता-पिताओंने अपने रक्त और पसीनेसे सींचकर इन स्थानोंको हरा-भरा कर दिया। आज चन्द विदेशियोंके वहकावे पर लंकाके तथाकथित मूल-निवासी नेता इन्हीं भारतीय-श्रमिकोंके वंशजोंको लंकाकी सीमासे वाहर निकाल देना चाहते हैं!

लंकामें भारतीय मजदूरोंकी भर्ती करने वाले ठेकेदारोंको 'कंगानी' कहा जाता था। एक प्रकारसे हम इन्हें गुलामोंका व्यापार करने वाले नर-पशु कह सकते हैं। योरप और अमरीकाके विविध स्थानोंमें अफ्रीकी दासोंको वेचने वाले गोरोंकी तुलना इन कंगानियोंसे की जा सकती है। जव भारतसे अधिक संख्यामें लोग वाहर जाने लगे, तव ब्रिटिश सरकारने

लंकासे इस बातका आश्वासन चाहा कि भारतीयोंसे सद्व्यवहार किया जायगा। सन् १८४७-६७के २२ वर्षों तक लंका और भारतकी सरकारोंके बीचमें इस विषय पर पत्र-व्यवहार चलता रहा और भारतने लगभग २४ क़ानून बनाकर लंकामें भारतीयोंकी स्थिति सुरक्षित करनेका प्रयत्न किया। इसका सद्परिणाम यह हुआ कि लंकावासी भारतीयोंको वही राजनीतिक अधिकार मिले, जो लंकाके नागरिकोंको मिलते रहे हैं।

एक बड़ी मजेदार बात यह है कि जुलाई १९२९में लंका-सरकारने लिखित रूपमें भारत सरकारको विश्वास दिलाया कि लंकावासी भारतीय स्थानीय नागरिकोंके समान ही अधिकार रखते हैं और वे अपने लिए ज़मीन और खेत ख़रीद सकते हैं।

सन् १९२७से लंकामें भारतीय और सिंहलीयका भेद पैदा किया गया। यह भेद उसी चक्रव्यूहका एक दौर था, जो भारतमें हिन्दू-मुस्लिम जातियोंके मध्य फूट फैलानेके लिए बड़ी कुशलतापूर्वक चलाया गया था। विषके ये बीज शीघ्र पनपने लगे और आज हमें लंकामें भारत-विरोधी विचार-प्रचार दिखलाई पड़ता है। सन् १९३९में कुछ षड्यन्त्रकारियों और सरकारी कर्मचारियोंने भारतीयोंको निकाल भगानेका जाल रचा। कई सरकारी और ग़ैर-सरकारी दफ़्तरोंसे भारतीयोंको निकाल दिया गया। इसके दूसरे दौरमें भारतीय मजदूरोंको लंकासे निकालनेका प्रयास प्रकाशित हुआ। इस पर रुष्ट होकर, तत्कालीन भारत-सरकारने १ अगस्त १९३९में भारतीयोंका लंका-गमन वर्जित कर दिया। साथ ही, लंकासे व्यापार-सम्बन्धका विच्छेदन कर दिया गया। इसके बाद एक-दो बार सुलह-समझौतेके प्रयत्न हुए, परन्तु वे असफल रहे।

## समस्या और समझौतेकी पृष्ठभूमि

भारत और लंकाके स्वतन्त्र होनेके पूर्व, १९४१में यह प्रयास किया गया कि लंकावासी भारतीयोंकी समस्याओंका शमन हो। तब सर्वश्री गिरिजाशंकर बाजपेयी, मिर्ज़ा इस्माइल, टी० रदरफोर्ड और वेंकटरामा

शास्त्री—इन चार प्रतिनिधियोंका एक शिष्ट-मण्डल लंका भेजा गया। लंकाकी ओरसे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री डी० एस० सेनानायक, बी० सी० एस० कोरिया और रावर्ट ड्रेटनने प्रतिनिधित्व किया।

दोनों दलोंके मध्य एक समझौता हुआ, परन्तु तत्कालीन भारत-सरकार-ने उसे स्वीकार नहीं किया। समस्या अपनी उलझनमें पड़ी रही।

१९४७-४८में श्री जवाहरलाल नेहरू और श्री डी० एस० सेनानायकने स्वयं इस मसले पर विचार कर समाधानका कोई मार्ग खोज निकालनेका प्रयत्न किया। भारतीय प्रधान मन्त्रीने यह प्रस्ताव रखा कि लंका-सरकार उन सभी भारतीयोंको सम्पूर्ण नागरिक-अधिकार प्रदान करे,जो पिछले पाँच सालोंसे लंकामें रह रहे है। परन्तु सेनानायकने यह स्वीकार नहीं किया। १९४९में सिंहल-सरकारने "सिलोन पार्लियामेण्टरी एमेण्डमेण्ट एक्ट" पास किया, जिसके अनुसार उन सभी लोगोंका मताधिकार छीन लिया गया, जो सिंहलीय नहीं थे। इसका आशय यह निकला कि क़लमके एक ही झटकेमें लंकाने उन सभी भारतीयोंके अधिकारोंका अपहरण कर लिया जो वर्षोंसे लंकावासी थे। १९५२के निर्वाचनमें भारतीय प्रतिनिधियोंको सिंहलीय-संसद्से निकाल कर वाहर कर दिया गया।

इसके उपरान्त एक ओर लंका-सरकार अपनी जनता और जगत्को भुलावेमें रखनेके लिए वारम्वार वार्ताओं और समझौतेका अभिनय करती रही। दूसरी ओर सिंहलीय हिन्दियोंके हक़ोंका हनन करनेके लिए विविध योजनाएँ वनाती रही।

जव परिस्थितिका यह चित्र उजागर था, १९५३के मार्च मास में श्री सी० सी० देसाईको हाई कमिश्नर वनाकर लंका भेजा गया। श्री देसाईने लंकाके तत्कालीन प्रधान मन्त्री डडले सेनानायकसे कई वार भेंट की और सिंहलीय हिन्दियोंके अधिकारोंके विषयमें वार्तालाप किया। इन्हीं वार्ताओं-में भारत और लंकाके प्रधान मन्त्रियोंकी लन्दन-वार्ताके लिए भूमिकात्मक रूप-रेखा तैयार की गई।

## वार्ता-विग्रह

सन् १९४७में नेहरू-सेनानायक वार्ता हुई। जिसके विषयमें हम पहले संकेत कर चुके हैं। इसी सालके दिसम्बर मासमें भारत और लंकाके बीच एक समझौता हुआ, परन्तु तीन महीने बाद ही लंकाकी सरकार उस समझौते-से मुकर गयी।

इसके वाद परिस्थितियाँ तेजीसे पलटती गईं। लंका और भारतके प्रधान-मन्त्रियोंके बीच लम्बा-चौड़ा पत्र-व्यवहार चला। लेकिन, जहाँ भारतीय प्रधान मन्त्री अपनी सहज सरलतावश समझौतेके लिए प्रयत्नशील थे, वहाँ लंकाके प्रधान मन्त्री भारतीय प्रधानको एक ओर अपने पत्रोंके जालमें उलझाते रहे और दूसरी ओर अपने वर्छी-वान सान पर चढ़ाते रहे। नतीजा यह हुआ कि प्रधान मन्त्रियोंका पत्र-व्यवहार एक दिन अचानक बंद हो गया। लंकाके प्रधान मन्त्रीकी "समझौता-शूर्पणखा"ने अपना रसाल रूप अदृश्य कर, असली कराल रूप दिखलाया—"इण्डियन रेज़िडेण्ट्स विल" सामने आया। लंकावासी भारतीयोंके अधिकारों पर कुठाराघात चला कर उन्हें अत्यन्त अपमानजनक स्तरोंमें वाँट दिया गया!

अव न केवल भारतके नेताओं और समाचार-पत्रोंने वरन् अनेक विदेशी पत्रोंने भी लंकाके इस कुटिल कार्यकी तीव्र निन्दा की। लंकावासी भारतीयोंके दुःख और सन्तापकी सीमा नहीं थी! क्या इसी दिनके लिए उन्होंने लंकाको अपने श्रमसे गुल-चमन वनाया था? क्या इसी सामाजिक-राजनीतिक अपमानके लिए उन्होंने लंकाको अपना लहू देकर सोनेकी लंका वनाया था? १९४० में स्थापित सिंहल-भारत कांग्रेसने शान्तिमय उपायों-द्वारा लंकाके अदूरदर्शी शासकोंको सचेत करनेका प्रयत्न किया। परन्तु लंकाके मन्त्रियों पर विदेशी द्राक्षासवका रंग चढ़ा था, उन्होंने कुछ न सुना।

लंकावासी भारतीयोंकी आर्त्त-पुकार और उनके आक्रोशकी अभि-व्यक्ति सिंहल-भारत-कांग्रेसके सभापति श्री एस० थोंडामनके १८ जुलाई १९५३के इन वचनोंमें परिलक्षित होती है :—

"भले, वर्तमान सिंहल-सरकार हमारी नागरिकताको वैध माने या न माने, हम यहीं रहेंगे। हमारे शवोंको ही सरकार यहाँसे निर्वासित कर सकेगी। हम किसी विदेशी हुकूमतको हरगिज़ अपने सम्बन्धमें बोलने नहीं देंगे, फिर वह हमारा महान् मित्र एवं बन्धु भारत ही क्यों न हो। ब्रिटेनकी तो बिसात ही क्या? समस्त संसारके समान, वरन् उससे भी अधिक हम अपने प्रिय नेता नेहरूका सम्मान करते हैं, लेकिन अपने अधिकारोंके विपरीत बात हम उनकी भी न सुनेंगे। हम भेड़-बकरियाँ या माल-असबाब नहीं हैं कि भारत और लंकाकी सरकारें हमें इधरसे उधर खदेड़ती रहें। हम लंकामें जियेंगे और लंकामें लंकाके लिए मरेंगे।"

और :—

"अन्यायकी भी सीमा होती है। सहनशीलताकी भी हद है। मैं उस दिनकी कल्पना मात्रसे काँप उठता हूँ, जिस दिन खेत, खलिहानों और कारखानोंमें काम करनेवाले सिंहली-भारतीय लाखोंकी संख्यामें, सम्मिलित स्वरसे यह कहेंगे कि बहुत हो चुका, हम और न सहेंगे। ऐसी स्थिति पर जो परिणाम निकलेंगे अत्यन्त प्रभावशील होंगे। आज जो शासन और सत्ताके मदमें अन्धे हैं, वे उस दिन पछतायेंगे और कहेंगे कि हाय, हमने सिंहलीय भारतीयोंके अधिकार-रक्षाके लिए और कुछ क्यों न किया!"

सिंहलीय नेताके इस कथनसे स्थितिकी गम्भीरता स्पष्ट है। लंकामें तात्कालिक शान्ति और अधिकार-रक्षा-तुष्टि अनिवार्य आवश्यकताएँ बनीं।

कालचक्रकी चाल पर लंकाके प्रधानमन्त्री सेनानायकको शीघ्र ही आसन छोड़ना पड़ा और सर जॉन कोटलेवाला प्रविष्ट हुआ। प्रत्येक नवागन्तुकके समान कोटलेवालाने भी कुछ दिनों तक सद्भावनाओंका संग्रह-कार्य आरम्भ रखा। इसके परिणामस्वरूप दोनों देशोंके प्रधान-मन्त्रियोंकी एक कान्फ्रेन्स बुलाई गई।

## पहला समझौता

नेहरू-कोटलेवाला कान्फ्रेन्सने १९५४ की १८ जनवरीको बड़ी धूम-

धामसे एक समझौता प्रकाशित किया। संक्षेपमें, उसकी शर्तें इस प्रकार हैं :—

१. लंका और भारत—दोनों देशोंकी सरकारें प्रवेश-पत्र-रहित व्यक्तियोंका प्रवेश अपने-अपने देशोंमें रोकेंगी।

२. लंकाकी सरकार ऐसे लोगोंकी एक रजिस्टर-सूची तैयार करेगी, जिनका नाम मतदाताओंकी नामावलीमें नहीं है। जिनके नाम इस सूचीमें नहीं होंगे, उन्हें लंकामें नहीं रहने दिया जायगा।

३. लंका-सरकार बाहरसे आनेवालोंके लिए जो बिल तैयार कर रही है, उसे बना सकती है। इससे यह जाहिर हो जायगा कि कौन व्यक्ति बाहरसे आया है, और किसने अनधिकार प्रवेश किया है?

४. नागरिक एक्टके मातहत शेष अर्जियाँ दो वर्षोंके अन्दर निबटा दी जायँगी।

५. ऐसे नागरिकोंको मताधिकार देनेकी आवश्यक व्यवस्था होगी।

६. जिनके नाम रजिस्टर न हुए हैं, वे भारतीय अथवा पाकिस्तानी-हाई कमिश्नरके कार्यालयमें अपने नाम लिखा सकेंगे।

७. दोनों सरकारें पारस्परिक वार्ता-व्यवहार चालू रखेंगी, जिससे उभय पक्षोंका समुचित हित-साधन हो सके।

## लंका-द्वारा उल्लंघन

परन्तु पिछले समझौतेके समान लंका-सरकारने इस समझौतेका भी खुले रूपमें उल्लंघन किया। और उसने भारतीयोंको अपने देशसे निकाल बाहर करनेकी प्रवृत्ति प्रचलित रखी, लेकिन इतनी अनुदारता दिखाकर भी सिंहल सरकारको संतोष न हुआ, उसने उलटे भारत-सरकार पर समझौता भंग करनेका आरोप लगाया। इससे वातावरणमें एक तनाव आ गया और भोले भारतीयोंका भविष्य अन्धकारके गहरे गर्त्तमें गिर गया।

'सिलोन डेमोक्रेटिक कांग्रेस' जो कि लंकाकी सबसे बड़ी राजनीतिक

संस्था है, अनेक कारण बतलाते हुए कहती है कि समझौते को लंका-सरकार ने भंग किया है।

नागरिकताके अधिकारोंकी जाँच करनेके लिए जो कमिटी बिठाई गई थी उसकी स्थितिमें निरन्तर गिरावट आई है। भारत-लंका-करारके विरुद्ध पृथक्-निर्वाचनकी अवधि-पैक्टके प्राणोंका अन्त कर दस वर्षसे अधिक बढ़ा दी गई। भारतीय अथवा पाकिस्तानी नागरिकके रूपमें अपना-अपना नाम लिखानेके लिए उत्सुक नागरिकोंकी सहायता करनेके बजाय, लंका-सरकारने उन्हें तरह-तरहसे परेशान कर भगा देनेकी कोशिशें की हैं। उनका चावलका राशन-कार्ड जब्त किया गया और विविध प्रकारसे उन्हें अमानवीय यातनाएँ दी गईं।

## दलोंके स्वार्थ

छोटा-सा लंका देश राजनीतिक दलबन्दियोंका अखाड़ा है। इन दलोंके परस्पर विरोधी स्वार्थ देशकी प्रगतिके पथमें पूर्णरूपेण बाधक हैं। भारत-सरकारने भारतीयोंके लिए पृथक् निर्वाचन स्वीकार कर ठीक नहीं किया है। भारत-लंका पैक्ट पर पार्लियामेण्टमें प्रश्न पूछे जाने पर पण्डित जवाहरलाल नेहरूने जो उत्तर दिया था, वह लंकाई दलोंकी स्वार्थ-प्रतियोगिताओं पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। पण्डितजीने बतलाया कि उन भारतीयोंको, जिन्हें लंकाकी नागरिकता मिल गई है, यदि जनरल-रजिस्टरमें दाखिल किया जाता तो, बड़ी अच्छी बात थी। परन्तु ऐसा न होकर उन्हें पृथक् निर्वाचनोंमें सम्मिलित किया गया, इसके अनेक कारण हैं, एक यह भी कि इससे दल विशेष (इशारा है—शासकदल—'युनाइटेड नेशनल पार्टी') के राजनीतिक स्वार्थों पर दुष्प्रभाव पड़ता। खैर, हमें इससे कोई मतलब नहीं कि उन्होंने पृथक् निर्वाचन पर ही जोर दिया......!

राजनीतिका पाठ पढ़ानेवाले आचार्य कोटलेवालाके देश लंकाके अतिरिक्त संसारमें ऐसा कोई देश नहीं, जहाँ राजनीतिक दल अपने स्वार्थोंके आधार पर ही अपने नागरिकोंको निर्वाचनाधिकार देते हों!

पर, लंका में जो हो, न हो, कम है!!

## देसाई कोटलेवाला प्रकरण

लंका सरकारने जब प्रथम समझौतेका उल्लंघन किया तो लंका-स्थित भारतीय हाई कमिश्नर श्री सी० सी० देसाईने लंकाके एक समाचार-पत्र प्रतिनिधिको बतलाया—"साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व स्थापित करके लंका-सरकार अपने ही वचनोंके विरुद्ध हो गई है। इस तथ्यकी उपस्थितिमें भारत-द्वारा यह माना जायगा कि भारत-लंका-करारका लंका सरकारने असम्माननीय प्रक्रिया-द्वारा उल्लंघन किया है।"

इस सीधी,साफ़ और सरल बातको सुनकर लङ्काके प्रधान मंत्री क्षुब्ध हो गये और बोले :—"मैं श्री देसाईके इन शब्दोंको लंकाके घरेलू मामलोंमें हस्तक्षेप करनेवाला प्रयास मानता हूँ। श्री देसाई शायद यह नहीं जानते कि हम उन्हें बिना नोटिसके, लंकासे हटा सकते हैं। भारतको हम इसी आधार पर एक अवसर दे सकते है कि उसके लिए डिप्लोमेसी नई चीज़ है; और वह अपने राजदूतोंके चुनावमें भी अभी नया खिलाड़ी है। देसाई 'मेण्टल एब्रेशन' से पीड़ित हैं......।"

एक स्पष्ट कथनको लंकाके प्रधान मन्त्रीने किस प्रकार अस्पष्ट बना कर उलझन पैदा करनेकी कोशिश की है, यह कहनेकी बात नहीं है। श्री देसाईने न तो इस कथन-द्वारा लंकाके घरेलू मामलोंमें हस्तक्षेप किया, न लंकाकी जनताका कोई अपमान ही किया। लंकाकी जनताको प्रत्येक भारतीय उतने ही सम्मान और स्नेहसे देखता है, जितना श्री कोटलेवाला। किसी भारतीयके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह उदाराशयता और स्नेहशीलताका सबक़ लंकाके नेताओंसे सीखे। और लंकाके उन नेताओंका जो केवल पाश्चात्य पूँजी और बुद्धिके बल पर फुदकते हैं, भारतके विश्व-मान्य राजनीतिज्ञोंको राजनीतिका ज्ञान-दान देनेकी बात करना, दुस्साहस-पूर्ण धृष्टता है। उस समय जब कि लंका देश, मात्र वनान्तर था, तब भी

भारतके आदि राजनीतिज्ञोंकी नीतिसे दिग्‌दिगन्त प्रकाशित थे। लंकाने तो अभी राजनीतिका अ ब स भी नहीं सीखा है।

## सिंहल : प्राचीन भारतका अङ्ग

भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामरिक दृष्टिसे सिंहलद्वीप भारतका अविभाज्य अंग है। समय और परिस्थितियोंने उसे विभक्त किया है।

इतिहास साक्षी है कि 'देवानांप्रिय' प्रियदर्शी अशोकके सुपुत्र स्थविर महेन्द्रने सर्वप्रथम सिंहलको सभ्यता एवं सांस्कृतिक संस्कार प्रदान किये, तत्पश्चात् १८ वर्षीया संघमित्रा वहाँ बोधिशाखा ले गई। अनुराधपुर (लंकाकी प्राचीन राजधानी) में पल्लवित इस पवित्र वृक्षकी छायामें सिंहलने सदैव शान्ति लाभ किया। यही महाबोधि विश्वका विख्यात एवं प्राचीनतम वृक्ष है!

प्रकृति और भूगोलने तो भारत सिंहलको एक सूत्रमें आबद्ध कर रखा है। धर्म, साहित्य और सांस्कृतिक ऐक्यके आधार भी उन्हें उपलब्ध हैं। सिंहलीय साहित्य-भण्डार बौद्ध ग्रन्थोंसे भरा है। भाषा भी द्राविड़, संस्कृत, पालीसे परिपूर्ण है।

## दूरी कब तक

आज अर्थने जन-जनको अलग कर दिया है। बावजूद सारी सांस्कृतिक समताके, सिंहल और भारत विभक्त हैं। विदेशी षड्यन्त्रकारियों और स्वदेशी स्वार्थसाधकोंके कुचक्रसे सिंहलीय राजनीतिक स्थिति परिचालित है। निरन्तर कुठाराघात होने पर भी सिंहलीय-हिन्दी अपने अधिकारोंके लिए अटल खड़ा है। वह या तो सोनेकी लंकामें भस्म हो जायगा, या अपने अधिकार लेकर रहेगा। लंका उसका अपना देश है। वह लकामें रहा है, लंकामें रहेगा।

लंकाकी वर्तमान सरकार और कुछ नेताओंने पण्डित जवाहरलाल

नेहरूके १९३५ में लिखे एक लेख पर बड़ा हो-हल्ला मचाया। कहते थे, इस लेखमें लंकाको भारतवर्षका एक प्रान्त बना देनेकी माँग है। सो, इसमें लंकाई नेताओंके चौंकने-जैसी बात क्या है? लंकाकी अखण्ड सार्वभौमिक-सत्ता और 'साव्हरेनिटी' के प्रति सम्पूर्ण सम्मान रखते हुए यह पूछना ग़लत तो न होगा कि क्या लंका भारतका भू-भाग नहीं था? क्या वहाँका सर्वस्व भारतीय नहीं?

फिर भी भारत लंकाको किसी प्रकारसे शंकित और रुष्ट करना नहीं चाहता है। इस विषयमें भारतीय नेताओं और सरकारको विशेष सावधानीसे काम लेना चाहिए। परिस्थितियाँ विचारपूर्ण प्रचार चाहती हैं। भारतको अपने हितों और अपने लोगोंकी सार्वकालिक सुरक्षाकी माँग करनी चाहिए। विदेशियों-द्वारा उत्तेजित अराजकताका अन्त लानेके लिए तीव्र विरोध-प्रदर्शन आवश्यक है। लंका हिन्द-महासागरका द्वीप है। महासागर पर भारतका अखण्ड अधिकार है, जिसे बनाये रखना, दक्षिणी-सीमाकी सुरक्षाके निमित्त महत्त्वपूर्ण है। लंकाकी आन्तरिक निर्बलता भारतके पैर काटती है, हिन्द-महासागरमें जाने अनजाने शत्रुओंको बुलाती है और इस प्रकार दूरपूर्व तथा दक्षिणपूर्वके राष्ट्रोंकी चिन्ताका कारण बनती है। भारतकी अपनी आत्मरक्षाके लिए सिंहलीय शान्ति एवं सबलता आवश्यक है। वहाँकी अशान्ति एवं निर्बलता भारत और एशियाके लिए भयावह है।

लंकाके लिए भारतीय सद्भावना मूल्यवान् है। वर्तमान स्थितिमें वह अपनी लड़खड़ाती आर्थिक अवस्था एवं भग्नप्राय राजनीति लेकर एक स्वतन्त्र राष्ट्रका स्वप्न तभी तक देख सकता है, जब तक उपरोक्त सद्भावना सुलभ है। जब तक पड़ोसके बड़े देश, छोटे देश पर कृपा-दृष्टि रखते हैं, तभी तक उस छोटे देशका कथित स्वतन्त्र-अस्तित्व संभव है, अन्यथा विघ्नवादियोंके छल-कौशल पर चल कर वह अवश्य अपने बड़े पड़ोसीके प्रकोपका शिकार बनता है। आजके लंका देशको यह स्मरण रखना है।

दक्षिण-पूर्वकी शान्तिके लिए भी सिहल और भारतकी एकता अनिवार्य है।

## लंका पश्चिमी पंजे में

लंका सरकार-द्वारा किया गया अपने देशवासियोंका अहित देखकर यदि श्री देसाई कुछ कहते हैं तो प्रधानमन्त्री कोटलेवालाके लिए वह असह्य हो जाता है। किन्तु, लंकाके सरे वाज़ार में श्रीमती डी० सोजा को उड़ा ले जाने वाले, अमरीकी अधिकारियोंके विषयमें वे कुछ न वोले। श्रीमती डी० सोज़ाका यही क़सूर था कि वह प्रगतिशील कलाकारोंके प्रति सहानुभूति रखती थीं और उन्होंने शहीद रोज़ेनवर्ग-दम्पति पर पुस्तक लिखी थी!

"हम भारतीय हस्तक्षेपको कभी वर्दाश्त न करेंगे"—की घोषणा करनेवाले कोटलेवाला अमरीकी हस्तक्षेपकी निरन्तर चरण-सेवा करते रहे हैं। यह अमरीका ही था और यह कोटलेवाला ही था कि लंका अपना रवर देकर चीनसे चावल न ले सका। अपने एशियाई पड़ोसीका आदान-प्रदान छोड़कर, उसने विदेशी अन्नकी भिक्षा स्वीकार की।

एक ओर लंका कोलम्वो-कान्फ्रेन्स और एशियाई मैत्रीकी वात करता है, दूसरी ओर अपने ही हिन्द-चीनी (इण्डोचाइना) भाइयोंके विरुद्ध वम वरसानेके लिए वह अमरीकी ग्लोव-मास्टर हवाई जहाज़ोंका अपने अड्डों पर स्वागत करता है। एशियाकी धरती पर जीकर, एशियाके विरुद्ध, इससे वड़ा विश्वासघात और क्या हो सकता है?

लंकाके शासक भूल गये थे कि वे अमरीकी-स्वार्थके साधन वन, भारतीयोंके निष्कासनका प्रचण्ड प्रयत्न कर, चीनके विरुद्ध जाकर, हिन्दचीनके विरुद्ध विनाश-वर्षा करनेवाले वायुयानोंका स्वागत कर और अपनी भूमि पर जंगी जहाज़ी वन्दर वसा कर एशिया-विरोधी कैसे कैसे काले कारनामोंमें वे शत्रुओंका साथ दे रहे थे और उनकी इस भूलका दुष्परिणाम भावी पीढ़ीके पल्ले पड़ेगा। जनमत विरुद्ध होने पर भी लंका-सरकारने ट्रिन्कामेलीकी ज़मीन जहाज़ी अड्डेके लिए, विदेशियोंको अर्पण कर दी।

## दूसरा समझौता

अक्टूबर १९५४ ई० की ९ वीं और १० वीं तारीखको नई-दिल्लीमें लंकाके प्रधान मन्त्री श्री कोटलेवाला और भारतीय प्रधान मन्त्री श्री नेहरूके नेतृत्वमें एक कान्फ्रेन्सकी आयोजना हुई। दो दिनकी वहसके बाद सिंह-लीय-भारतीयके अधिकारोंकी समस्या सुलझानेमें कान्फ्रेन्सको आंशिक रूपमें 'सफलता' प्राप्त हुई; और नये 'दिल्ली-पैक्ट' की उद्घोषणा हुई।

दोनों पक्षोंमें इस तथ्य पर सैद्धान्तिक मतभेद था कि राज्यरहित व्यक्तियोंका निपटारा किस प्रकार किया जाय। लंकाई शिष्ट-मण्डलका कहना था कि ऐसे व्यक्ति जब तक सिंहलीय नागरिक नहीं बन जाते हैं तब तक वे 'भारतीय' बने रहते हैं। इस आधार पर उन्हें 'राज्यरहित' व्यक्ति कहना अनुचित है।

इसके विपरीत भारतीय शिष्टमण्डलका दावा था कि मात्र वे व्यक्ति भारतीय नागरिक हैं, जिनके पास पासपोर्ट हैं अथवा जो भारतीय हाई कमिश्नरके दफ्तरमें भारतीय विधानकी ८ वीं धाराके अन्तर्गत अपना नाम लिखा चुके हैं। अतः शेष भारतीय, जो न सिंहलीय नागरिक हैं, न भार-तीय नागरिक हैं, 'राज्यरहित' ही हैं। ऐसे व्यक्तियोंको केवल रक्त-सम्बन्धके आधार पर 'भारतीय' कहना अनुचित है।

कान्फ्रेन्सने उस पिछले समझौते (जो १८ जनवरी १९५४ में हुआ था) पर भी ग़ौर किया और उसकी कमियाँ दूर करनेका प्रयत्न किया। 'राज्य-रहित' व्यक्तियोंके लिए अनेक सुविधाओंके सुझाव पेश किये गये ताकि वे जल्द से जल्द भारतीय या सिंहलीय नागरिकताके अधिकार प्राप्त कर सकें। दोनों पक्षकी सरकारें उन समस्त व्यक्तियोंको यात्रा-पत्रक प्रदान करेंगी, जो लंका या भारतीय सरकारके कार्यालयमें नागरिक बननेके लिए अपने आवेदन-पत्र प्रस्तुत कर चुके हैं।

इसके अतिरिक्त लंकाई शिष्टमण्डलका अपना प्रश्न था कि उसे अपने नागरिकोंकी नौकरी-चाकरी और रोटीकी सुरक्षा करनी है। इस उद्देश्यकी

पूर्त्तिके निमित्त सिंहल-सरकार भारतका सहयोग चाहती है। लंका-सरकार-का विचार है कि भविष्यमें वह अपने देशमें उन्हीं भारतीय नागरिकोंको नौकरीमें रखेगी जिनकी आयु ५५ वर्षसे कम है। इसके पश्चात् उन्हें लंका देश छोड़ देना पड़ेगा। ऐसे व्यक्तियोंको लंका सरकार आवश्यक एवं यथोचित हर्जाना तथा भत्ता देगी।

भविष्यमें पारस्परिक सहयोग और वार्ताओंकी आवश्यकता स्वीकार करते हुए कान्फ्रेन्स समाप्त हुई।

१० अक्टूबर १९५४ के इस उपरोक्त द्वितीय 'दिल्ली-पैक्ट' का लंका और भारत स्थित सभी क्षेत्रोंमें स्वागत किया गया। सिंहल और भारतीय सम्वन्धोंके प्रवाहमें जो असह्य गत्यवरोध आ गया था, इस कान्फ्रेन्स-द्वारा प्रसूत पैक्टके कारण, दूर हुआ है।

यह निश्चित है कि यदि लंका-सरकार अपने पश्चिमपरस्त सलाह-कारोंके प्रपञ्चमें न फँसी तो, अवश्य दोनों देशोंके वीच सद्भावनापूर्ण व्यवहार वना रहेगा। आखिर, भारत देश लंकाके नेताओंसे इतनी समझ-की अपेक्षा तो करता ही है कि पश्चिमी शक्तियाँ जो कुछ कहती-सुनती हैं, सव अपने स्वार्थके केन्द्र पर स्थित दृष्टिकोणके आधार पर उगलती हैं। लेकिन भारत ऐसा नहीं करता। भारत और लंका तो एक नाव पर सवार हैं। दोनों पड़ोसी हैं। भाई-भाई हैं। दोनोंका जीवन, मरण एक है, अतएव, दोनों एक हैं। अलग रह कर जीवित नहीं रह सकते। लंकाके लोग साम्राज्यवादी चक्रसे सजग हैं यह वात हालके चुनावने सिद्ध कर दी है। अमरीका हैरान है कि कोटलेवालाका तख्ता पलक झपकते कैसे उलट गया और समाजवादी भण्डारनायक प्रधानमन्त्री कैसे वन गया।

ऐसा प्रतीत होता है, द्वितीय 'दिल्ली-पैक्ट' की आवश्यकता दोनों सरकारोंने महसूस कर ली थी। यदि यह समझौता नहं होता, तो दोनों देशोंके सम्वन्ध सुदूर सीमा तक विगड़ जाते और स्थिति वदतर हो जाती।

यदि मात्र 'मानवीय' दृष्टिकोणसे भी, सारी समस्या पर सोचा जाय तो, एक न एक समझौता आवश्यक था। फिर भले, वह लंकाकी आर्थिक

अवस्थासे मेल खाता हो या न खाता हो, फिर भले वह भारतीय राजनीति-के पक्ष या विपक्षमें जाता हो। क्योंकि कई लाख 'राज्यरहित' व्यक्ति सिंहलीय या भारतीय न हों तो भी, 'मानव' तो हैं और मानवताके नाते दोनों देशोंका उत्तरदायित्व है कि उन्हें शरण और शान्ति दें।

राजनीतिक दृष्टिसे भी, किसी निर्णयपर न आना—भारत और लंका-के लिए अत्यन्त हानिकर होता। न केवल इन उभय देशोंके लिए, वरन् सारे एशियाके लिए राज्यरहित व्यक्तियोंका प्रश्न अशान्तिका दावानल बन जाता। चूँकि नया एशिया एकता और शान्तिके वातावरणमें नव-निर्माणका स्वप्न देख रहा है, राज्यरहित व्यक्तियोंका प्रश्न उस स्वप्नको दुःस्वप्न बना देता। एशियाके शत्रुओंको चिनगारी लगानेका मौक़ा मिल जाता।

आर्थिक दृष्टिसे देखते हैं तो, सारी समस्याके मूलमें लंकाका यह कथन है कि लंका इतने विदेशियोंको जगह देकर अपना पेट नहीं भर सकता। उत्तर में, प्रथमतः लंका जिन्हें विदेशी भारतीय नागरिक कहता है, वे रक्तसे भारतीय भले हैं, जन्म और अधिकारसे सिंहलवासी भारतीय हैं। सैकड़ों वर्षोंसे लंकामें बसे हुए हैं। लंकाकी सरकार अभी भारत और दुनियाको इस विषयमें विश्वास न दिला सकी कि भारतीय कामगारों और कारीगरोंके कारण लंकाकी श्रीवृद्धि एवं समृद्धिमें कमी होगी।

वास्तवमें प्रथम और द्वितीय दिल्ली-पैक्ट सिंहलीय भारतीयोंके हित-की दृष्टिसे अन्तिम उपाय नहीं हैं। यह तो मात्र एक मूलाधार है, जिसकी नींव पर उनकी सुख-सुविधाओंका स्वर्ण-भवन निर्मित होगा।

सिंहल सरकारको यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि भारत अपनी समस्त समस्याओंको सुलझानेके लिए स्नेह, शान्ति और सहानुभूतिका त्रिकोणात्मक आधार स्थापित करना चाहता है।

# पाकिस्तान

## राष्ट्रगीत

पाक सरज़मीन शाद बाद
किश्वरे हसीन शाद बाद
तू निशाने अज़्मे आलीशान
अर्ज़े पाकिस्तान
मरकज़े यक़ीन शाद बाद
पाक सरज़मीन का निज़ाम
क़ूवते अख़ूवते अवाम
क़ौम मुल्क सल्तनत
पाइन्दा ताबिन्दा बाद
शाद बाद मंज़िले मुराद
परचमे सितारा ओ हिलाल
रहबरे तरक्क़ी ओ कमाल
तर्जुमानी माज़ी शाने हाल
जाने इस्तक़बाल
साया—ए खुदाए जुल जलाल !

# पाकिस्तानकी प्रतिपल पलटती राजनीति

अंग्रेज़ फिरंगी चला नहीं गया है, कराँचीमें उसके 'सब्ज़' क़दम सैर कर रहे हैं।

पाकिस्तानके गवर्नर जनरल श्री जिन्नाके देहान्तके बादसे ही देशमें नये बखेड़े खड़े हो गये थे। उनका अन्त जनाब लियाकत अली खांकी हत्याके साथ भी नहीं हुआ! पाकिस्तान नया राष्ट्र था। समस्याओंने इस वेगसे उसे घेर लिया कि अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञोंकी बुद्धि चकरा गई।

वास्तवमें पाकिस्तान भारतकी अपेक्षा अविकसित एवं अनुन्नत रूपमें जन्मा। औद्योगिक विकासकी दृष्टिसे वह काफ़ी पिछड़ा प्रदेश रहा है; क्योंकि पाकिस्तानी प्रान्त पूर्व समयमें, शेष भारतको केवल कच्चा माल देनवाले भू-भाग रहे हैं।

कच्चा माल भेजने वाले इस प्रदेशमें जो थोड़े बहुत उद्योग-धन्धे थे, वे ग़ैर मुस्लिमोंके श्रमके परिणाम थे। जब उनका जीवन सुरक्षित न रह सका तो वे देश छोड़ने पर मजबूर हो गये। उनके जानेके बाद जो व्यापारी वर्ग रह गया, वह साधारण सौदागर ही है। उसे व्यावसायिक उद्योगों और उनकी सूक्ष्म टेकनिकका ज्ञान और अनुभव बहुत कम है। पाकिस्तानके पास जूट, ऊन और धानके परिपूर्ण क्षेत्र होते हुए भी आवश्यक पूँजी और योग्य व्यक्तियोंकी एकदम कमी है, जिससे उसकी कठिनाइयाँ बढ़ी हैं। पाकिस्तानको जूटका ७० प्रतिशत भाग मिलने पर भी उसकी कठिनाईका अन्त नहीं आया, क्योंकि जूटके बड़े कारख़ाने भारतमें रह गये। ४० प्रतिशत उत्तम कोटिकी रुई पैदा करने वाले पाकिस्तानके पास इने-गिने काटन मिल्स हैं, भला, उनकी माँग और खपत ही कितनी?

पाकिस्तानको विभाजन-द्वारा प्रदत्त, सबसे बड़ी भेंट है—२ करोड़ २० लाख एकड़ सिंचाई वाली भूमि! कुल ७ करोड़ एकड़मेंसे ३२%

भाग पाकिस्तानको मिला। ऊपरसे देखने पर यह कम मालूम पड़ता है, परन्तु नहरोंवाला सर्वोत्तम प्रदेश पाकको दिया गया। सिंधका सात नहरोंसे सम्पन्न प्रदेश पाकको प्राप्त हुआ। सिंधका लायड वांध संसारमें सबसे लम्बा है और प्रतिपल ४०,००० क्युविक फीट पानी दे सकता है—यह भी पाकके हिस्सेमें आया। इसके साथ ३ करोड़ मवेशी मिले। पशुधनमें पाकका पलड़ा भारी रहा, क्योंकि 'सहिवाल', 'लालसिंधी' और 'थारपार-कर' जातिकी उत्तम गौएँ और वैल पाकिस्तानने पाये। सिंचाईकी सुविधा-से संयुक्त सर्वोत्तम भू-भाग खोकर भारतकी भोजन-समस्या विकराल वन गई। पाकिस्तान इस मामलेमें सुविधा सम्पन्न रहा, परन्तु खेतीके साथ उद्योग-धन्धे न होने से, उसकी रही-सही रोटी भी चली गई और सचमुच उसे आधी-रोटी वेचकर तन ढँकनेको कपड़ा और काम चलानेके लिए यन्त्र सामग्री लेनी पड़ी।

पाकिस्तानी उर्वरा धरतीके आन्तरिक भाग रिक्त रहे! कोयला उसके पास नहींके वरावर है। केवल पंजाव, वलूचिस्तान और सिन्धमें कुछ कोयला पाया जाता है शेषके लिए उसे विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। चाँदी, सोना, ताँवा, पीतल, लोहा आदिका भी यही हाल है।

जलसे उत्पन्न विद्युत् शक्ति पाकिस्तानके पास नहीं। इस दृष्टिसे भारतकी गणना रूसके वाद होती है। पाकिस्तानको जल-प्राप्तिके लिए काश्मीर और आसामके आश्रित रहना पड़ता है; क्योंकि पाकिस्तानमें वहने वाली सभी नदियाँ काश्मीरी और आसामी क्षेत्रोंसे निकली हैं। इसी कारण 'नहर-जल' का प्रश्न प्रचारित हुआ है।

इन भौतिक, भौमिक एवं भौगोलिक समस्याओंके उपरान्त और भी कई समस्याएँ हैं जिनके लिए पाकिस्तानके वर्तमान संरक्षकोंको मार्ग वनाना है।

[ २ ]

नेपोलियनका कथन है कि आप संगीनोंके ज़रिये सव कुछ कर सकते हैं, सिर्फ़ उन पर वैठ नहीं सकते। और यदि कोई संगीनों पर वैठा हुआ

मिले तो उसकी वैचारिक-रंकता और विवशताकी कल्पना सहज सम्भव नहीं।

पाकिस्तानकी वर्तमान अवस्था कुछ ऐसी ही है। वह संगीनोंके साये में, संगीनों पर बैठा है।

श्री जिन्नाके देहान्तके उपरान्त, पाकिस्तानकी निरन्तर नीति यह रही कि वह घूंसा और लाठी दिखाता रहा। जब कोई घूंसा या लाठी उठाता है तो अपने लिए वह यह साबित कर देता है कि अब उसके पास सोच-विचारका अवकाश और मार्ग नहीं रहा। उसकी सहनशीलताका अन्त आ गया है। पाकिस्तानने ऐसा ही किया। परन्तु उसे यह ज्ञात नहीं था कि घूंसा उठानेके इस आदर्शको यदि अपने ही देशवासी अपना लेंगे तो परिणाम अराजकतामें प्रकट होगा। बँटवारेके बाद जो साम्प्रदायिक हत्याकाण्ड हुए, उनको देखकर महात्मा गांधीने चन्द चिढ़े हुए भारतीयोंसे कहा कि यदि पाकिस्तानी लोग लूट-खसोट और मार-पीट करते हैं तो, करने दो, लेकिन तुम ऐसा न करो, क्योंकि अनाचारकी आदत मिटाये न मिटेगी। बापूकी यह बात सच साबित हुई और जब पाकिस्तानमें हिन्दुओं-को लूटनेका मसाला न रहा तो, उन गुमराह गुण्डोंने कराँचीके बाज़ारोंमें सरेआम अपनी ही पाक बहू-बेटियों पर डाके डालने शुरू कर दिये—यह है नफ़रत और द्वेष फैलानेका दुष्परिणाम!

मानवीय प्रेम, संयम और भ्रातृभावसे रहित तंग वातावरणने पाकि-स्तानको आन्तरिक अव्यवस्थाका अनोखा अजायबघर बना दिया। धीरे-धीरे सत्ता जनताके हाथसे निकलकर सैनिक अधिकारियोंके हाथमें जाने लगी। यहाँ तक कि १९५४ के २३ अक्टूबरकी भाग्य-निर्णायक निशामें पाकिस्तानके गवर्नर जनरल श्री गुलाममुहम्मदने सैनिक सहायताके बल मुस्लिम लीग और प्रधानमन्त्री मुहम्मद अलीसे सत्ताकी बागडोर छीन ली और मुहम्मदअलीको कोरे काग़ज़ पर अपने हस्ताक्षर करनेको मजबूर कर दिया।

पाकिस्तानमें असेम्बलीका अन्त उसी प्रकार हुआ, जिस प्रकार

इंग्लैण्डमें कई सौ वर्ष पूर्व क्रॉमवेलने पार्लियामेण्ट पर अधिकार कर लिया था।

पिछले दिनों मेजर जनरल इस्कंदर मिर्ज़ाने पाकिस्तानकी राजनीतिमें अपना वर्चस्व स्थापित कर वहाँके प्रधान मन्त्रीको मात्र कठपुतली बना दिया। जनरल मिर्ज़ाने अंग्रेज़ोंके समय सीमान्तके क़बीलोंको कुचलते रहनेका काम अपने हाथमें लेकर, उन्नतिपथ प्रशस्त करनेका प्रयास किया था। सैनिक स्वभावकी अपनी कठोरताके कारण जनरल मिर्ज़ा पूर्व बंगालमें भी तीव्र जन-आन्दोलनको अस्थायी तौर पर दबानेमें सफल हुआ और गृहमन्त्री बन कर तो उसका मद इस सीमा तक बढ़ गया कि उसने घोषित किया—"हम इस देशकी व्यवस्था उसी प्रकार चलायेंगे, जिस प्रकार हमने ब्रिटिश सत्ताके लिए चलाई थी। पाकिस्तानको लोक-तन्त्रकी ज़रूरत नहीं, जिसमें हरेक बेवकूफ़ किसी भी व्यक्तिके लिए अपना वोट देता है।" बेचारा मिर्ज़ा जिसने सदैव बन्दूक़के कुन्देमें ही अपने आदर्शके दर्शन किये हैं और चन्द चेतनाहीन लोगोंपर शासन किया है, लोकतन्त्रकी महत्ता और परम्पराको क्या जाने? तोप, बन्दूक़ और बमगोलोंकी बात करते करते तो न जाने कितने लुई, नेपोलियन, ज़ार और हिटलर, तोज़ो, ओझल हो गये। उनकी नामरेखामें मिर्ज़ाका नाम भी मिल जायगा और इतिहास और काल उसकी दम्भभरी घोषणाओंको बुझा देगा। अन्ततया पाकिस्तानमें वहाँकी जनता ही शासन करेगी और बेर-अबेर वहाँका शासन लोकतान्त्रिक तरीक़े पर ही चलेगा।

पाकिस्तानकी प्रस्तुत प्रश्नमाला इस प्रकार है:—

उत्तरमें पख़्तूनोंके जिरगे पाकिस्तान सरकारके पास प्रतिदिन नई समस्या-सूची भेजते हैं। स्वतन्त्र पख़्तूनिस्तानकी माँग पेश कर चुके हैं। विगत वर्षोंमें चलाई गई पारस्परिक गोलियाँ—आपसी तनातनी और दुश्मनीमें बदल गई हैं। पख़्तूनोंके निकट जातीय एवं रक्त सम्बन्ध अफ़ग़ानोंके साथ होनेसे, पाकों और अफ़ग़ानोंके बीच वैमनस्य फैलनेकी सम्भावना जीवित है। खान अब्दुलगफ़ार खांको रिहाकर नई पाकिस्तान

सरकारने पख्तूनोंके प्रश्नपर पानी छिड़कनेका प्रयास किया है। इधर डॉ० खानसाहब को मन्त्रि-मण्डलमें सम्मिलित करके, दो उद्देश्योंकी पूर्तिकी कामना की गई है। एक तो डॉ० साहबके प्रभावसे काश्मीरके बखेड़ेको सुलझाना। दूसरे, पठानोंको सन् १९०३ के पूर्वकी अपनी राजनीतिक अवस्था स्वीकार करनेके लिए राज़ी करना, जब कि उनका प्रान्त पंजाब का मातहत प्रदेश मात्र था। लेकिन, यह स्पष्ट है कि इन दोनों उद्देश्योंकी पूर्ति काफ़ी कठिन है। डॉ० खानसाहब या किसी औरके जरिये आज़ाद-ख्याल पख्तूनोंका आज पाक-पंजाबमें या एक यूनिट-प्लानमें विलय कर देना—हँसी मज़ाक नहीं है।

पश्चिमी पंजाबकी परिस्थिति नियन्त्रणसे बाहर रही है। वहाँ पिछले दिनों मौलवियों और मुल्लाओंने मनमानी करनेका प्रयत्न किया है। अहमदियाओंके साथ वहाँ जो अन्याय हुए हैं, उनसे पाक शासन सुपरिचित है, जिसने अहमदिया लोगोंकी रक्षाके लिए लाहौरमें सैनिक-राज्य स्थापित किया था और दो एक धर्मान्ध साम्प्रदायिकोंकी फांसी माफ़ कर चौदह वर्षीय कारादण्ड दिया, परन्तु अन्धविश्वास और अन्धजड़ताके इस ज़हरका अन्त करनेके पूर्व, उसके मूलभूत कारणोंको ढूँढ़ना पड़ेगा। राजनीति और धर्मके पवित्र आसनोंसे, उन विषैले नागोंको निर्वासित करना पड़ेगा, जिन्होंने जन-जीवनमें ज्वाला सुलगानेका साहस किया था। वहाँके नाज़िमुद्दीनों, अहरारों और पीरोंके सवाल प्रकट या अप्रकट रूपसे आज भी सामने हैं। कट्टरपन्थियोंके लिए आवश्यक है कि वे समयकी प्रगतिको पहचानें। भारतसे बन्धुत्व बनाये रखनेके प्रयासोंसे पूर्व, काश्मीरका मामला शान्तिपूर्ण उपायोंसे सुलझा लेना है।

पूर्व बंगालको राजनीतिक रूपसे अपना भूभाग बनाकर उस पर उर्दू थोपनेकी जो राजाज्ञाएँ प्रकाशित हुई थीं, उनसे बंगाली बेचैन हो उठे थे। बंगालके मुसलमान अपनी जान दे सकते हैं, लेकिन अपनी ज़बान नहीं दे सकते। मधुर मातृभाषा बंगलाके स्थानपर वे फ़ौज़ी उर्दूको कहाँ तक अपना सकेंगे, यह एक सार्वकालिक समस्या है।

श्री एन्थोनी इडन और श्री डलैस

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाकिस्तानके सत्ताधारियोंके समक्ष पूर्वीय बंगाल एक ज्वलन्त ज्वाला वन, जग रहा है। हक़-दलके पतन, सैनिक शासनके स्थापन और अनेकों अत्याचारों पर भी बंगाली जनता दब न सकी। इसका प्रमाण गवर्नर जनरल गुलाम मुहम्मदकी बंगाल-यात्राके समय किये गये प्रचण्ड प्रदर्शन हैं। इनसे यह सहज स्पष्ट हो गया कि बंगाली जनता और उसका उग्र असन्तोष, कराँचीकी संगीनोंसे नहीं दब सका है।

इधर पाकके नये शासकोंको पश्चिमी पाकिस्तानके लोगोंका वह विरोध भी व्याकुल कर रहा है, जो 'संयुक्त पाकिस्तान' के प्रस्तावके विरुद्ध है। विलीनीकरणके इस अभिनव प्रयोगकी सफलताके निमित्त सिन्ध और सीमान्तके उन सभी तत्त्वोंको कुचलनेकी कोशिश की गई है जो अपने प्रान्तकी आन्तरिक स्वतन्त्रताकी सुरक्षाके लिए लड़ते हैं। (सिन्धके पीरज़ादा मन्त्रि-मण्डलको हटाया गया था और उसके स्थान पर खुरो-सरकार की स्थापना की गई थी।) जिस खुरोको बदनाम कर अदालतमें पेश किया गया था उसीको, उन्हीं लोगोंने सादर सिंहासन पर ला बिठाया। इसके बाद विरोधी दलके नेता श्री जी० एम० सैय्यदको गिरफ़्तार कर लिया गया और सिन्धके ३५ वर्ष पुराने पत्र 'अल्-वाहिद' को बन्द कर दिया गया। इस पर भी पाक सरकारको समस्याका निदान नहीं मिला, क्योंकि नये मन्त्रि-मण्डलका एक सदस्य श्री गुलामअली तालपुर सिन्धके विलीनीकरणके विरुद्ध रहा और उसका इतना प्रभाव था कि केन्द्रीय सरकारको बड़ा संघर्ष मोल लेना पड़ा। सीमान्तमें बादशाह खानका प्रभाव एकीकरणके विरुद्ध है।

पाकिस्तानमें आन्तरिक अशान्ति, अव्यवस्था और अराजकताके चिह्न स्पष्ट परिलक्षित हो रहे हैं। यही कारण है कि दिन-दिन पाक सरकार अधिकाधिक दमनशील और असहनशील होती जाती है। और इस कारण उसे प्रतिदिन सत्ता, शक्ति और अमानुषिक बल प्रयोगका प्रश्रय लेना पड़ता है।

आज भी पाकिस्तानकी जनता दारिद्रय और दुरवस्थासे ग्रस्त है।

किसानों और मजदूरोंकी दुर्दशा चौंकानेवाली है। उन्हें आशा थी कि लीग सरकार उनके आर्थिक विकासके अनुकूल वातावरण तैयार करेगी, परन्तु सात आठ वर्षोंकी हुकूमतके बाद भी लीग-सरकारने कुछ नहीं किया। इसके विपरीत उसने जनताकी कठिनाइयोंको एक सीमातक बढ़ाया।

पाकिस्तान अपने निर्माणके प्रथम दिवससे ही विश्वका विचित्र राज्य रहा है। जिसका एक टुकड़ा पूरब और एक टुकड़ा पश्चिममें है और बीचमें विदेशी राज्यकी सीमा है! और ये दो टुकड़े भी धर्मको छोड़कर, अन्य किसी विषयमें समरूपता नहीं रखते हैं। खान, पान, बोली, रहन-सहन और स्वभाव सबमें भिन्नता है। जब दोनो प्रदेशोंके बीच न आर्थिक, न सांस्कृतिक सम्बन्ध ही है, तो फिर, दोनोंमें एकता क्यों कर स्थापित हो सकती है और दोनोंके उद्देश्य तथा स्वार्थ विपरीत परिस्थितियोंमें भी एक कैसे हो सकते हैं? यहाँ तक कि पश्चिमी पाकिस्तानके तीनों प्रान्त भी परस्पर भाषा, संस्कार, बोली और रहन-सहनमें मेल नहीं खाते। केवल धर्मका कच्चा धागा ही इन तीनोंको बाँधे हुए है। अब या तो पाक-शासन धर्मकी जड़ोंको राजनीतिका जल पिलाकर सींचता रहे, या पाकिस्तानकी मीनारोंके मंज़िलोंको लड़खड़ाने दे। लेकिन, हमें यह जान लेना है कि आजकी दुनियामें, विज्ञान और प्रगतिके वातावरणमें धर्मका बादल कहाँ तक बरस सकता है? क्योंकि विपरीत आर्थिक अवस्थाओं और सामाजिक विषमताओंसे परेशान पाक जनताको रोटीके बजाय—हिन्दुओं और हिन्दुस्तानके विरुद्ध जिहादका नारा देकर, अधिक दिन नहीं बहलाया जा सकता। पिछले पच्चीस वर्षोंसे मुस्लिम-लीग अपने लोगोंको धर्म और मजहबके नाम पर बहकाती आई है, परन्तु अब उस जनताको अधिक दिन भुलावेमें नहीं रखा जा सकता।

किसी राष्ट्रकी एकता, संगठन और विकास अधिकांशमें उस राष्ट्र विशेषकी अर्थ-नीति और अवस्था पर निर्भर है। ऐसी दशामें पाकिस्तानके पहरुओंका धर्म और जिहादका नारा कहाँ तक हितकारी, फलदायक हो सकता है। ब्रिटिशकालीन भारतमें व्यापारी वर्गकी एकताके मूलमें

अर्थसे सम्बन्धित स्वार्थ थे। किसी हिन्दू श्रीमन्त और मुस्लिम अमीरके बीच कभी दंगा या द्वन्द्व होनेका उदाहरण नहीं मिलता। दोनोंमें छुआछूत नहीं थी। हिन्दू श्रीमन्तका मुस्लिम अमीर मित्र था और अमीरके मनमें ईर्ष्या थी तो मात्र इतनी ही कि वह हिन्दू पूँजीपति की प्रतियोगितामें डटकर व्यापार या शोषण नहीं कर सकता है! मुस्लिम श्रीमन्त वर्ग-की इसी स्वार्थ-भावनाने विदेशी दाईकी मदद लेकर, पाकिस्तान नामक शिशुको जन्म दिया। अब मुस्लिम अमीरको खुलकर व्यापार करने या चरनेके लिए चरागाह मिल गया। पाकिस्तानकी उत्पत्तिके अनेक कारणोंमें से यह भी एक कारण रहा है। पाक पर शासन करनेवाली यह पूँजी ही उसे धर्म-निरपेक्ष नहीं बनने देती, क्योंकि धर्म धनका गधा है। धन जानता है कि वह धर्मके विना दो क़दम भी नहीं चल सकता है। जो विचार या बातें पल भरमें आदमीको अन्धा कर देनेकी शक्ति रखती हैं, उनमें धर्म भी एक है। जब जब लोग रोटी, रहना और पहनना माँगते हैं, तब तब मज़-हब और ईमानके नाम पर उनकी आत्माकी श्रद्धाको चुनौती दी जाती है। पाकिस्तानमें पूँजीवादके विकासने साम्प्रदायिक राजनीतिको समाप्तप्राय कर दिया है और एक बार फिरसे श्री जिन्नाके 'दो राष्ट्र' वाले सिद्धान्तको झूठा साबित कर दिया है। यही कारण है कि पाकिस्तानमें निरन्तर अव्य-वस्थाका आविर्भाव होत रहता है—एक ऐसी अव्यवस्था जिसका अन्त करनेमें सम्प्रदायवादी मुल्ला और मौलवी सदैव असफल रहेंगे। यह सम्भव है कि मजहब और जिहादके नारे उठाकर लोगोंका ध्यान रोजी, रोटी और जीवन-यापनकी सुविधाओंसे स्वल्प समयके लिए हटा दिया जाय, परन्तु इस प्रकारके धार्मिक जज़बात अधिक दिन तक खाली पेटको खुश रखनेमें समर्थ नहीं हो सकते।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रमें भी पाकिस्तानकी स्थिति सम्माननीय एवं सही नहीं कही जा सकती क्योंकि अमरीकी सहायता और आधिपत्य स्वीकार कर पाकने अपनी परिस्थितिको पंगु बना लिया है और एशि-याके वर्तमान वातावरणमें महाशक्तियोंके प्रभाव-संतुलनको झकझोर

दिया है। शान्तिके मार्गसे भ्रष्ट होकर पाकिस्तानने अशान्तिका मार्ग अपनाया है।

प्राय: परिवर्तन और सामाजिक क्रान्तियोंकी गति अति तीव्र होती है, परन्तु, इन वेगवन्त परिवर्तनोंको उसी रूपमें, तत्क्षण ग्रहण कर लेने और उनके अनुसार तदनुरूप बदल जानेके लिए जन-साधारणकी शक्ति और क्षमता सीमित होती है। सुधार, क्रान्ति और परिवर्तनके क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हैं। अर्थ और व्यवस्थाकी समस्याएँ छोटी नहीं हैं। ज्यों-ज्यों लोगोंमें जागरण आयगा, त्यों-त्यों वे परिवर्तनोंको समझेंगे। ज्यों-ज्यों जनता-में चेतना आयगी, त्यों-त्यों वह अपने अधिकारोंके लिए क्रान्तिमार्ग या संघर्षकी ओर अग्रसर होगी। जब तक अवाममें बेहोशी है, अथवा जब तक जनतामें अभिनव चेतना उदय नहीं होती, तब तक वह (जनता) नवीन जीवन-व्यवस्था और सामाजिक क्रान्तिको अजनबी समझती रहेगी और उसके क़दमसे क़दम मिलाकर चलनेमें पिछड़ जायगी।

# पठानोंको घर चाहिए

ईरान, रूस और सिन्धु नदीके त्रिकोणके मध्यका प्रदेश जिस जाति स बसा हुआ है, वह मुख्यतया पठान या अफ़ग़ान जाति है। इस जातिका मूल विदेशियोंने तुर्कों और ईरानियोंसे बतलाया है। परन्तु, यह एक ऐतिहासिक भूल है, क्योंकि कई हज़ार वर्ष पूर्व महाभारत-कालकी राजमाता गांधारी कन्दहार (गांधार) की राजकन्या थी, जो इन्द्रप्रस्थके सम्राट्को ब्याही गई थी। ऐसे ही अन्य रक्त सम्वन्धोंसे साबित होता है कि प्राचीन कालमें सुदूर उत्तरका पूर्ण प्रदेश भारतकी छत्र-छायामें परिपालित था। इतना ही नहीं, अशोकसे लेकर अकवर महान् तकके प्रलम्ब कालमें दूर उत्तरका समस्त प्रदेश हिन्दुस्तानके स्नेहाधिकारमें रहा है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्‍ क है कि हमारे ये सम्बन्ध साम्राज्यवादी नहीं थे, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक थे।

राजनीतिज्ञोंका मत है कि भारतके उत्तर-पश्चिमके सीमान्त प्रदेशकी आवादी अफ़ग़ानोंकी है जिसका अस्तित्व और तथ्य, उस क्षेत्रमें पठा-निस्तान या पख़्तूनिस्तानकी रचनामें पूर्णरूपेण सहायक है।

पठान जिस सांस्कृतिक त्रिकोणसे आबद्ध हैं, वह भारतीय, ईरानी और चीनी है। उनके उत्तरमें रूसका महान् देश है। चीन और क श्मीर उत्तर-पूर्वमें हैं और पश्चिममें अफ़ग़ानिस्तान और ईरान हैं, दक्षिणमें पाकिस्तान है।

इस प्राकृतिक सीमाके अतिरिक्त मनुष्यने भी एक सीमा-रेखा बनाई। यह मनुष्य साधारण मनुष्य न होकर राजनीतिक षड्यन्त्रके विधाताओंका दूत था, जिसकी खींची हुई सीमारेखाका नाम 'डचुरेण्ड लाइन' है। और उसके रेखाकारका पूरा नाम, जो वहुत कम लोग जानते हैं, सर मॉर्टिमर ड्यूरेण्ड है। सन् १८९३में इन महाशयने इस भूभागको अफ़ग़ानिस्तान

और हिन्दुस्तानके मध्य बाँटा था। भूल उस समय यह हुई कि एक ही भाषा, भेष, भाव, भाग्य, भोजन, भेद और भगवा को माननेवाली जातिको दो मुल्कोंमें बाँट दिया गया और उनके भविष्यका कोई ख्याल नहीं किया गया। नतीजा यह हुआ कि लगभग ८० लाख पठानों या अफ़ग़ानोंमेंसे ३० लाख तो भारतके उस भागमें रह गये जिसे आज पाकिस्तान कहते हैं, और शेष ५० लाख ड्युरेण्ड लाइनके उस पार रह गये। पाकिस्तानमें पठानोंके जो ज़िर्गे रहते हैं उनमें मुख्यतया अफ़रीदी, महमूद, वज़ीरी और मसूद हैं। यह वह बहादुर जाति है जो ग़ुलामीसे नफ़रत करती है और पर्वतमालाओं और वादियोंकी गोदमें आज़ादीसे विचरण करती है। ये जिर्गे हिन्दुस्तानियोंसे जितना प्रेम रखते हैं, उतना ही द्वेष और प्रकोप अंग्रज़ोंके प्रति रखते हैं। सर जार्ज कनिंघम जैसे सीमान्त-गवर्नरके अनेकों प्रयत्नोंके बावजूद भी अफ़ग़ान ब्रिटिश विरोधी रहे। इसका एक उदाहरण यह भी है कि जब सन् १९१९में अफ़ग़ानिस्तानने हिन्दुस्तान पर हमला किया तो इन जातियोंने काबुल सरकारका साथ दिया। यहाँ तक कि वज़ीरिस्तानमें तो दो-तीन साल तक ब्रिटेनके विपक्षमें काबुलके हाथ मजबूत होते रहे।

और ये वही प्रबल पठान हैं जिन्होंने गाँधीकी आँधीको वेगवंत बनाया था। सन् १९३०में जब सत्याग्रहियोंका लाल लहू पेशावर और उसके पासके प्रदेशमें प्रवाहित हुआ तो इन पठानोंका खून खौल उठा। और उन्होंने गोरी छावनियों पर हमला करके इसका बदला लिया। अंग्रेज घबड़ा गया और उसने सुलहका पैग़ाम भेजा तो शूर-वीर पठानोंने पहली शर्त महात्मा गाँधी और सीमान्त गाँधीकी रिहाईकी रखी।

पठानिस्तान या पख्तूनिस्तानका प्रथम स्वप्न बादशाह खानने मई १९४७ में देखा था। और एक ऐसे सार्वभौमिक एवं सर्वसत्ताधारी राज्यकी रचनाकी माँग की थी जिसमें पश्तो भाषी लोग चैनसे रह सकें। इस प्रदेशके अन्तर्गत चित्राल, स्वात, पेशावर, तिर्राह, कोहाट, डेरा इस्माइलखाँ, वज़ीरिस्तान, खैबर, गोमल और बोलनके दर्रे और बलूचिस्तानका समस्त भूभाग सम्मिलित

करनेका स्वप्न है। सन् १९४७ के जुलाई मासमें भारतीय स्वतन्त्रताका समय समीप आ जाने पर और पाकिस्तानके निर्माणकी बात पक्की हो जाने पर अफ़ग़ानिस्तानकी सरकारने ब्रिटेनके सामने यह दावा पेश किया कि डयुरेण्ड लाइनसे लेकर सिन्धु सरिता तटीय समस्त प्रदेश अफ़ग़ानोंकी अपनी मातृभूमि है। परन्तु, पाकिस्तानने इस दावेकी खुलकर मुखालफ़त की और कहा कि इस भूमिका स्वामित्व पाकिस्तानका है। अन्ततः यह भाग पाकको ही प्राप्त हुआ। ऐसा करके चालाक अंग्रेज़ने एक ही कंकड़से कई चिड़ियाँ मार लीं। जैसे, उसने पठान जातिके टुकड़े कर दिये। पाक और अफ़ग़ान सरकारोंके लिए सदाका सिरदर्द पैदा कर दिया। पाकके विरोधमें उसके अपने कहलाते देशमें रहने वाले पठान पठानिस्तान-की माँग करते हैं। इससे अंग्रेज मौक़े-बमौक़े पाकों और पठानोंको लड़ाकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकता है। उधर इसी प्रश्न पर पाक और अफ़ग़ान सरकारोंके बीच संघर्ष छिड़ता है। ब्रिटेनने पठानोंका पूरा प्रदेश, उसके असली मालिक अफ़ग़ानिस्तानको इसलिए नहीं दिया कि एक तो वह जन-संख्या बढ़ाकर अफ़ग़ानिस्तानकी शक्तिको बढ़ाना नहीं चाहता था। दूसरे, उसे इस बातकी सदैव आशंका रही है कि अफ़ग़ानिस्तान जो उससे घृणा करता है, सोवियत रूसका संगी है। तीसरे, पठानोंके प्रश्नको लेकर यदाकदा, जब चाहे तब अंग्रेज़ (या पश्चिमी शक्तियाँ) अफ़ग़ानिस्तानसे छेड़छाड़ कर सकता है। और इस प्रकार यदि पाक और अफ़ग़ान प्रदेशके मध्य अशान्ति और अराजकता प्रसारित होती है तो उक्त उभय सरकारोंके लिए समुचित समस्या समुपस्थित होती है। चौथे, पाक और अफ़ग़ान मुल्कोंकी सरकारें यदि आपसमें ही कटती-बँटती रहती हैं तो वे शनैः शनैः निर्बल भी होती जाती हैं और उनकी आर्थिक अवस्था भी अबल होती जाती है। पाँचवें, ज्यों ज्यों दोनों सरकारें कमज़ोर होती हैं वे अर्थ और अस्त्र-शस्त्रके लिए पश्चिमका परावलम्बन खोजती हैं। ब्रिटेन या पश्चिम यही तो चाहता है, कोई आकाशकुसुम थोड़े ही चाहता है! अंग्रेज़ ऐसा चतुर है कि वह सदैव अपनी नीतिका एक पारस अपने अधिकारमें रखता है और शताब्दियों

तक उसके वल दुनियाके छोटे-बड़े मुल्कोंको छकाता रहता है और इस प्रकार सहज ही अपना मतलब, मन्शा और मुराद पूरी करता है। कालान्तरमें अंग्रेज़का यह पारस गुप्त न रह सका, प्रकट हो गया—यह है फूटका पाषाण।

वास्तवमें, सीमान्त प्रदेश पठानिस्तानकी अपनी भूमि है। राष्ट्रसंघ-में अफ़ग़ानिस्तानके स्थायी प्रतिनिधि सरदार अव्दुल हमीद खान अज़ीज़ने कहा है—"सीमान्त प्रदेश और जिर्गोमें रहने वाले पठान जातीय, सांस्कृतिक एवं भाषीय दृष्टिसे पाकिस्तानसे भिन्न हैं। वे सदैव स्वतन्त्र रहे हैं और उन्होंने पख़्तूनिस्तानके निर्माणके लिए आवाज़ उठाई है। स्वतन्त्र राष्ट्रके रूपमें जीवनयापन करनेमें वे सर्वथा समर्थ हैं।"

अफ़ग़ानिस्तानकी सरकार पठानोंकी इस माँगका पूर्ण समर्थन करती है और चाहती है कि वह इसकी पूर्तिके प्रयत्नमें सदैव सहायक वन सके। अफ़ग़ानिस्तानके संसद्‌भवनमें यह घोषित किया जा चुका है कि वहाँकी सरकार ड्युरेण्ड लाइनका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करती। और न वह भारत और पाकके वीच लिखे गये उन दस्तावेज़ोंको ही मानती है जो व्रिटेनने अपने पलायनके पूर्व लिखे और लिखवाये हैं।

पठान लोग पाकमें रहनेवाले मुसलमानोंके सदासे विरोधी रहे हैं। ख़ासकर मुग़लोंसे इनका वैमनस्य वहुत पुराना है। वावरके ज़मानेमें ही पठानोंने मुग़लोंका जो विरोध किया था उससे वावरने जान लिया था कि उसका राज्य प्रसार सिन्धु प्रदेशसे आगे होना वहुत कठिन है। विजयो-परान्त भी पख़्तूनिस्तान मुग़ल साम्राज्यवादियोंके विरुद्ध विद्रोहका आधार रहा। और तव दिन-दिन तत्कालीन दिल्ली हुकूमतके ख़िलाफ़ वग़ावतके नारे वुलन्द होते रहे। यहाँ तक कि 'इस्लाम खतरेमें है' और 'मज़हव' और 'काफ़िर' आदिके षड्यन्त्र, जिन्हें औरंगज़ेवने उठाये थे, सीमान्तमें असफल हुए और पठानोंने सदैव मज़हवके नाम पर किसी भी इन्सानको क़त्ल करना अपनी आत्माकी आवाज़के खिलाफ़ समझा और मज़हवके नाम पर दूसरोंको सतानेवाले—मुग़लों जैसे लोगोंके लिए इन्होंने एक अपमान-सूचक शव्दकी सृष्टि की, वह शव्द है 'मोगलवाली'। इसके मूलमें

एक चाल है जो इस प्रकार है कि औरंगज़ेब आलमगीरने जब कि वह पठानों-को परतन्त्र बनानेमें असफल हो गया तो, काबुलके शाह ख़ुशालको दिल्ली आनेका आमन्त्रण दिया। लेकिन जब ख़ुशाल पेशावर पहुँचा तो उसे धोखेसे गिरफ़्तार करके जेलमें डाल दिया गया। यह है 'मोगलवाली' चाल जिससे पठान नफ़रत करता है और अपने शत्रुके प्रति भी धोखा उसे पसन्द नहीं। कहावत है कि ख़ुशालने मरनेके पूर्व यह निवेदन किया था कि मेरी क़ब्र ऐसे सुदूर स्थानमें बनाई जाय, जहाँ मुग़लोंके घोड़ोंके खुरोंसे उड़ी हुई धूल भी न पहुँच सके।

इसके पश्चात् पठान सदैव अपनी आज़ादीके लिए लड़ता रहा और हाथमें रोटी और बग़लमें बन्दूक़ लेकर दुश्मनकी प्रतीक्षा करता रहा और समयान्तर पर यही उसकी परम्परा बन गई। फिर अंग्रेज़ आया और सन् १८३८से लेकर १९२० तक वह निरन्तर पठानोंसे छेड़छाड़ करता रहा, लेकिन, वह कुछ मील ज़मीन हड़पने और पठानोंको परस्पर लड़ानेके अतिरिक्त किसी ख़ास काममें कामयाब न हो सका। जब अंग्रेज़ बन्दूक़के बल असफल रहा तो उसने अपने पारसका प्रयोग किया और दुरंगी नीतिके द्वारा शाह शुजा नामक व्यक्तिको १८४०में काबुलके सिंहासन पर बिठा दिया। परन्तु, यह अफ़ग़ान जनताकी इच्छाके विरुद्ध था सो उसने विद्रोह किया और शुजाको अपने जीवनसे हाथ धोना पड़ा। और शुजाके राजत्व-कालमें घुस आये गोरोंको भी पठानोंने मार भगाया। गोरा यही चाहता था कि सभ्य संसारके सामने वह अकारण आक्रमण करनेवाला न कहलाये सो उसे मुँहमाँगा अवसर मिला और जनरल राबर्ट्सकी कमानमें एक सेना अफ़ग़ानोंका अपमान करनेके लिए भेजी गई। सन् १८८५में अफ़ग़ानों और अंग्रेज़ोंके बीच एक सन्धि हुई और ड्युरेण्ड लाइन और उसके जुड़वाँ भाई 'नॉर्थ वेस्ट फ्रण्टियर प्राविन्स'का जन्म हुआ। अंग्रेज़की चाल दूसरी बार सफल हुई। सीमान्त प्रान्तका बनना था कि रोज़-रोज़ नये बखेड़े पैदा होने लगे। यह प्रान्त १९०१ तक पंजाबका अंग रहा, बादमें चीफ़ कमिश्नरका सूबा बना और १९३२में इसे गवर्नरके सूबेका पद देकर विकसित

किया गया। और सन् १९३७में इसकी अपनी विधान-सभा बनी। इसके पश्चात् १०-११ वर्षों तक ज्यों-त्यों प्रान्तका रंग चढ़ता-उतरता रहा और सन् १९४७में भारतका विभाजन हुआ और पाकिस्तानी अधिकारियोंने समझा कि ईसाई मालिकोंके बजाय मुसलमान मालिक आ जाने पर पठान खामोश हो जायगा और पख्तूनिस्तानकी माँग मुर्दा हो जायगी। लेकिन, उनका यह सपना ग़लत निकला और पठानोंने न केवल पख्तूनिस्तानकी माँगको और ज़ोरसे दुहराया बल्कि पाकिस्तानके निर्माणका भी खुलकर विरोध किया कि कोरे मजहबके नाम पर कोई जाति या वर्ग अपना स्वतन्त्र मुल्क नहीं बना सकता। सन् १९४८में पठानोंने पाकिस्तानको चुनौती देते हुए स्पष्टतया यों सावधान कर दिया—"इस्लामी मजहबके नाते हम उन सबके बिरादर हैं जो इस्लाम पर ईमान लाते हैं लेकिन बिरादर होनेका यह मतलब तो नहीं कि जिसको बिरादरका पद दिया गया है वह दूसरे अपने ही जैसे बिरादरकी इज़्ज़त और जायदाद पर हमला करे और उसे अपने कब्ज़ेमें करनेकी कोशिश करे।"

पाकिस्तानकी बनावटके कुछ ही दिनों बाद पख्तूनिस्तानके पठानों पर पाक सरकारने अत्याचारोंका आरम्भ किया और उनके नेताओंको जेलमें बन्द कर दिया। यहाँ तक यह बात बढ़ी कि पाक और अफ़ग़ान सरकारोंके बीच जंग छिड़नेकी सम्भावना प्रतीत होने लगी। पाकिस्तानने मिरंशाह, मीराली, माठाखान, पाथेकखान और बाना ज़िलेके कई स्थानों पर बम बरसाये। पाकिस्तानकी इस कार्रवाईने अफ़ग़ानोंके दिलोंको दुबला कर दिया और एक सीमा तक उनमें अपने खिलाफ़ नफ़रत भर दी।

अफ़ग़ानिस्तान और पाकिस्तानके इन असहज और भग्नप्राय सम्बन्धों-का प्रतिफल यह हुआ कि सिन्धु नदीके पार—उत्तरका समस्त प्रदेश अशान्ति-से परिपूरित हो गया। आज़ाद पख्तूनिस्तानकी रचनाके लिए संयुक्त राष्ट्रसंघकी जनरल असेम्बलीमें भी अफ़ग़ानिस्तानकी ओरसे प्रस्ताव रखा गया और मानवीय अधिकारोंके नाम पर न्यायकी माँग की गई।

ड्युरेण्ड लाइनके द्वारा अंग्रेज़ोंने जो विभक्तीकरण किया था वह

सर्वथा नक़ली और बनावटी था। उसी प्रकार भारतका भी विभाजन किया गया। अंग्रेज़ विभाजन ही करता है, योग नहीं करता। वह अपने स्वार्थ साधनोंका गुणा करता है और स्वार्थपूर्तिके विपक्ष जाने वाले विद्रोहियों-को शेष—निःशेष कर देता है। सो, यदि अंग्रेज़ी और पाकिस्तानी न्यायके अनुसार ड्युरेण्ड रेखा बन सकती है और मुस्लिम लीगकी तथाकथित न्यायपुकार पर पाकिस्तान बन सकता है, तो भला बहुमतधारी पठानों और अफ़ग़ानोंकी पुकार पर 'पख़्तूनिस्तान' क्यों नहीं बन सकता?

दर असल, बात यह है कि एंग्लो-अमरीकी स्वार्थ सीमान्तमें स्थायी रूपसे स्थापित रहना चाहता है। अपने अड्डे वहाँ बनाना चाहता है। आखिर, इसी उद्देश्यपूर्तिके निमित्त ही तो काश्मीर पर हमला किया गया था कि चीन और रूसके निकटतमका भारतीय प्रदेश पश्चिम-प्रभावित पाकके प्रभुत्वमें आये, जैसे, गिलगिट। इस क्षेत्रमें अपने पैर गड़ाकर पश्चिमकी ये दोनों महाशक्तियाँ एक ही दावमें, भारत, पाक, अफ़ग़ानिस्तान, चीन और सोवियत रूसको परेशान कर सकती हैं। अणुबमसे विषाक्त आज-के वातावरणमें सोवियतकी सीमाके अत्यधिक निकट रहकर पश्चिमी शक्तियाँ अपना वार अधिक अचूक बना सकती हैं। सीमान्तके समीप ही उनका दूसरा अड्डा ईरानमें आ जाता है, फिर यूनान तुर्किस्तान आदिकी कड़ियाँ बढ़ती जाती हैं। इसके पहले नेपालमें उसका अड़ंगा चालू है। बरमामें भी सरगर्मियाँ जारी हैं। फिर तो मलाया, हाँगकाँग, सिंगापुर, स्याम, दक्षिणी विएतनाम और दूर फ़ारमोसा तथा जापानके देश-प्रदेश हैं जहाँ चीन और सोवियतके विरोधियोंकी अपनी प्रबल सेनाएँ और अचूक अस्त्र-शस्त्र विराजमान हैं। लेकिन, पश्चिम सम्भवतः नहीं जानता कि दिन दूर नहीं और वह मंगलवेला समीप है कि जब आसुरिक सत्ताके साधक असाधु मेघनादका यह अनुष्ठान किसी लक्ष्मण-द्वारा भंग होगा और असुरत्व पर देवत्वकी विजय प्रतिष्ठित होगी और बे-घरबार और बे-सहारा पठानों-को एक घर, एक रोटी और उनकी प्रिय वस्तु—एक बन्दूक़ उन्हें मिलेगी।

●

# ईरान और उसकी समस्याएँ

## हस्तक्षेप न करो

श्री जवाहरलाल नेहरूकी इस नीतिसे कि किसी भी राष्ट्रके घरेलू मामलों में दूसरे राष्ट्रको हस्तक्षेप न करना चाहिए, छोटे-छोटे राष्ट्रोंको सुरक्षा मिलती है। अन्यथा, कुछ रुपया लगाकर और कुछ गुंडे भेजकर किसी भी राष्ट्रको परेशान कर देना, उसकी सरकार बदलवा देना—आजकी राजनीतिमें सहजकार्य हो चला है! अब बड़े और छोटे राष्ट्र पण्डित नेहरूके इस विनम्र एवं निर्वैर प्रस्तावको कहाँ तक स्वीकार करते हैं, यह भविष्य ही बतला सकता है, किन्तु, इतना तो स्पष्टतया निश्चित है कि एक न एक दिन देश-ि देशकी सभी ताक़तोंको इस प्रकारकी घोषणा शपथपूर्वक स्वीकार करनी पड़ेगी। बड़े राष्ट्रोंकी ऐसी ही घोषणाके अभावका शिकार, मूर्त्तिमान उदाहरण ईरान है। जिसे अपनी ही सीमामें चैनसे नहीं वैठने दिया जाता। आये दिन आसपास और दूरके देश उसके दैनंदिन जीवनमें हस्तक्षेप करते हैं और उसके राजनीतिक रूपको अपना-अपना रंग देते रहते हैं! हाल ही की, गुएतमालाकी दुर्घटनाएँ भी वाहरी-हस्तक्षेपकी काली परछाइयाँ हैं! स्पेनके वाद गुएतमालाकी करुण-कथा ऐसी है, जिसे सुनकर सभी सहृदयोंकी आँखोंसे अविश्रान्त अश्रुधाराएँ प्रवाहित होती हैं।

ईरान और गुएतमालामें घटित वाहरी लोगोंके काले कारनामोंने यह तो सावित कर ही दिया कि महाशक्तियाँ जव तक उनकी मर्ज़ी और स्वार्थ हैं, किसी देशकी स्वतन्त्रता और सभ्यताका सम्मान करती हैं। जिस दिन वे चाहेंगी, तख़्ता उलट देंगी!

राजनीतिके ऐसे प्रपञ्चमग्न, षड्यन्त्रपूर्ण और असभ्य वातावरणमें जवाहरलाल नेहरूकी 'हस्तक्षेप न करने' की माँग, अपील और पुकार

कितना महत्त्व रखती है, यह इतिहास ही बतायगा ! यदि छोटे और बड़े राष्ट्रोंकी अपनी स्वतन्त्रता, संस्कृति और सभ्यताको अक्षुण्ण रखना है तो, उन्हें हस्तक्षेप न करने और शान्तिसे अपनी लोकनीतिके अनुसार अपने यहाँ शासन करनेकी सन्धियाँ करनी पड़ेंगी।

जब तक ऐसा नहीं होगा, राज्योंमें अराजकताएँ पनपेंगी, शासन-सत्ताएँ परिवर्तित होंगी और यू० एन० ओ० में—संयुक्त राष्ट्र-संघमें 'आक्रमण और हस्तक्षेपसे बचाने' की अर्जियाँ आती रहेंगी !

## एशियामें जागरण

दूसरे महायुद्धके अन्त पर, साम्राज्यवादी राष्ट्र, अपने उपनिवेशों और आर्थिक-स्वार्थोंकी रक्षामें असमर्थ हो गये। यद्यपि विजय इन्हींके दल को प्राप्त हुई, परन्तु युद्धोत्तर परिस्थितियोंने स्थान-स्थान पर इन्हें विवश कर दिया कि ये अपने स्वार्थ-साधन छोड़ दें। परिणामतः हिंदुस्तान छोड़ देना पड़ा। वर्मा, लंका, चीन और हिन्देशिया आज़ाद हुए। एशिया के दो प्रमुख देशों—भारत और चीनकी स्वतन्त्रताने पड़ोसी एशियाई राष्ट्रोंको न केवल राजनीतिक वरन् किन्हीं अंशोंमें आर्थिक पराधीनतासे भी मुक्त किया। पिछले पाँच वर्षोमें, जनचेतना और अधिकारोंकी माँग एशियाकी सबसे बड़ी घटनाएँ हैं।

भारतीय स्वतन्त्रताने ब्रिटेनके स्वार्थपर करारी चोट की। मिस्रमें उसकी लगाम ढीली हुई और ईरान तो हाथसे छिटकते ही ललकारने लगा !

शताब्दियों तक ईरानमें, 'ब्रिटिश सिंह' और 'रूसी भालू' के स्वार्थ टकराते रहे। प्रत्येक अपना अधिकार और प्रभाव चाहता है। रूस फारसकी खाड़ीमें गरम पानीका बन्दरगाह चाहता था। क्योंकि उसके पास ऐसा कोई बन्दरगाह नहीं है। ब्रिटिश सरकारको अपने भारतीय साम्राज्यकी फ़िक्र थी, क्योंकि उसकी रक्षा ईरानसे हिन्द जानेवाले मार्ग-को सुरक्षित रखकर ही की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त ईरानी तेलके लिए अंग्रेज़ोंकी अपार पूँजी लगी थी। इस तेल और पेट्रोलके लिए प्रत्येक

सवल राष्ट्रने ईरानको अपने अधिकारमें लाना चाहा। राजनीतिक पेंचमें अंग्रेज़ अगुवा रहे हैं। अतः वे विजयी हुए और अनेक वर्षों तक ईरानका शोषण करते रहे। रूस और ईरानकी सीमा रेखाको रूस सुरक्षित चाहता है। ईरानमें अंग्रेज़ोंका पड़ाव रहनेसे रूसको सदैव भय रहा कि इस ओरसे कुछ गड़बड़ न हो जाय। पिछले दिनों इस प्रकारकी छेड़छाड़ हुई थी जब कि रूसने ईरानका सात टन सोना जब्त कर लिया था और ईरानी सीमा पर अपनी सेनाएँ खड़ी कर दी थीं। फिर भी, यह स्पष्ट था कि रूसका दृष्टिकोण अधिक आत्म-रक्षात्मक था। क्योंकि, उसने ईरानमें इसलिए प्रवेश नहीं चाहा कि ईरानियोंसे उसे कोई शत्रुता है, वरन् इसलिए कि ईरानमें अंग्रेज वैठा है। रूस और ब्रिटेन--इन दो मुल्लाओंमें ईरानी मुर्ग़ीकी जान ख़तरेमें थी। ईरानमें जव नवीन जागृति आई तो, उसने दोनों शक्तियोंको दूर रहनेका संकेत किया। फिर भी, रूस ईरानका पड़ोसी ठहरा, अतः उससे सद्भावनापूर्ण सम्वन्ध वनाये रखना, ईरानके अपने हित-की वात है। और रूस अलग हट गया।

## नवचेतना

१९२५ तक 'ईरान–' 'फारस' कहलाता था। नाममें हुए इस परि-वर्तनसे राष्ट्रीय चेतनाका वोध होता है। ईरानमें स्थापित फिरंगियोंके स्वार्थ यह प्रयत्न करते रहे कि ईरानी सदैव आधुनिक वैज्ञानिक जीवन और जागरणसे परे रहें। परन्तु १९२५ में ईरान तुर्कीसे प्रभावित हुआ। कमालपाशाके उदयसे अनेक मुस्लिम देशोंमें जागृतिकी लहर व्याप्त हुई। ईरानने भी अपनी संस्कृति और सम्यताको पहचाना और वह उठ खड़ा हुआ। शिक्षा, यातायात और संगठनके क्षेत्रोंमें, अनेक परिवर्तन और विकास आये। तत्पश्चात् द्वितीय महायुद्धने राष्ट्रके नवरचना कार्यमें वाधा डाली; परन्तु राजनीतिक चेतनाका नया उपहार भी दिया। ब्रिटिश दलालोंने ईरानके प्रतिक्रियावादियों—मुल्लाओं, मौलवियों, साहूकारों और अन्य स्वार्थपन्थियोंको धार्मिक एवं पुराणपन्थी संस्थाओंमें एकत्र कर

लिया था। काशानी और गावाम सुल्तान जैसे प्रगतिविरोधी विभीषण पैदा हुए। गावाम १९२१ में पहली बार प्रधान मन्त्री बना, तबसे १९५२ तक वह छः बार निकाला गया और छः बार पुनः प्रधानमन्त्री पद पाता रहा। १९५३ की जुलाईमें मुसद्दिकने उसे ईरानसे भगा दिया, उसकी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली और स्वयं प्रधान मन्त्री बना। किन्तु गावाम फिर प्रकट हो गया और कहने लगा कि मुझपर मुक़द्दमा चलाओ। काशानी जो ईरानी मजलिसका सदर था, प्रगतिशील दलोंके बल मुसद्दिक-द्वारा पदच्युत किया गया। तत्पश्चात्, ईरानमें मुसद्दिक एकछत्र शासन करने लगा।

मुसद्दिकने ईरानमें लगी ब्रिटिश पूंजी ज़ब्त कर ली। तेलके उनके अधिकारोंको धता बताई और ईरानके अपने लोगों द्वारा तेल-कम्पनी चलानेकी व्यवस्था की। मुसद्दिकके इस तात्कालिक राष्ट्रीयकरणने देशकी आर्थिक अवस्थाको डावाँडोल कर दिया। परन्तु राष्ट्रीय हितकी दृष्टिसे समझदार नेता और राजनीतिक दल एकमत होकर सभी कठिनाइयोंसे लोहा लेते रहे। प्रधान मन्त्री मुसद्दिकके इस ऐतिहासिक कार्यमें स्थानीय 'तुदेह' पार्टीने भारी सहायता की थी।

## ईरानका सोना

पेट्रोल और अन्य जलावन ईरानकी स्वर्णराशि है। इसके आधार पर पूरी शताब्दी तक शोषण कर अंग्रेज़ मालामाल हुआ। वैसे ईरानका अधिक भाग रेगिस्तानसे ढका हुआ है।

लुट का मरुप्रदेश संसारमें सर्वाधिक सूखा भाग है। जिन स्थानोंमें खेती होती है वे नहरोंसे सिंचित हैं। साधारणतया गेहूँ, जौ, राई, धान, रूई और चावल पैदा होता है। ३, ४ शताब्दियों पूर्व फ़ारसका रेशम प्रसिद्ध था, फ़ारसी ग़लीचे तो आज भी विख्यात हैं। प्रतिवर्ष एक करोड़से अधिक खजूरके पेड़ विदेशोंको मीठा खजूर भेजते हैं।

ईरानी तेल-क्षेत्रोंमें प्रतिवर्ष पौने-नौ करोड़ बेरल तेलका उत्पादन

हाँकनेवाले भी किस तरह मजबूर कर मिट्टीमें मिला देते हैं, ईरान इसकी गवाही रो-रोकर दे रहा है।

मुसद्दिकने संयुक्त राष्ट्र-संघ और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयमें न्याय चाहा पर उसे निराश होना पड़ा। रूससे आर्थिक सहायता लेनेका प्रस्ताव रखा गया किन्तु ईरानी मजलिसके सदस्य इस पर एकमत न हो सके। दक्षिणपन्थी दलोंने इसका उग्र विरोध किया।

ईरानके शाह और देशको चरागाह बनाकर चरने-विचरनेवाले गुट्टकी मंशा थी कि 'कम्पनी-सरकार' से कोई समझौता कर लिया जाय! किन्तु मुसद्दिकके रहते यह होना असम्भव था। मुसद्दिकको हटाया जाय। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी!

## शाह भाग गया : गोरों के साथ फिर आया!

प्रयत्न किये गये परन्तु भंडा फूट गया और ईरानके शाहको अपना आसन छोड़ भाग जाना पड़ा। मुसद्दिक सरल और सहृदय था, उसने अपनी देखती आँखों विनाशके षड्यन्त्रकारियोंको जीवित रहने दिया, उन्हें क्षमा किया और भविष्यको न सोचा। इन घटनाओंके कुछ ही दिनों बाद मुसद्दिककी ग़लती भयानक चक्रव्यूह बनकर उठ खड़ी हुई।

ईरानके शाह, उनके विदेशी मित्र, कुरान पुराणपंथी, धरतीधारी और पदवीपसन्द लोगोंने सोचा कि मुसद्दिकसे छुटकारा पानेके लिए दूसरी चाल चलनी चाहिए, क्योंकि, जनता कदापि मुसद्दिकके विरुद्ध नहीं जायगी। अतएव, उन्होंने शस्त्रोंकी सहायता प्राप्त की और 'अचानक आक्रमण' कर दिया। देशद्रोहियों और विदेशी, स्वार्थी साम्राज्यवादियोंका षड्यन्त्र सफल हुआ। जनताके विरोधको नात्सी तरीकोंसे दबा दिया गया। परन्तु मुसद्दिकको तीन सालसे अधिकका दण्ड देनेका उनका साहस न हुआ।

## शहीदी और उसके बाद

इस समय शाहका सबसे बड़ा मित्र और विदेशियोंका सहायक जनरल

ज़हीदी था। मुसद्दिकको हटाकर वह प्रधानमन्त्री वना। उसके आते ही सारे प्रतिक्रियावादियोंकी बन आई। पश्चिमके वे साम्राज्यवादी शोषक राष्ट्र, जो मुसद्दिकके ज़मानेमें ईरानकी ओर देखते डरते थे, ईरानमें शेर वनकर फिरने लगे!

ईरानने 'एंग्लो ईरानियन ऑइल कम्पनी' को हर्ज़ाना देना स्वीकार किया।

प्रगतिशील राजनीतिक दल भूमिगत हुए। प्रसिद्ध 'तु देह' दल जो पलभर की सूचना पर वड़े वड़े प्रदर्शन किया करता था मौन हो गया। मजदूरों और युवकों पर इसका पर्याप्त प्रभाव रहा है। दूसरा बड़ा दल 'हिज़बते काशान' (श्रमिकदल) है। यह साम्यवादियोंके सर्वथा विरुद्ध है। इसका नेता ख़लिल मालेकी साम्यवादी रह चुका है और आज साम्यवादका प्रवल शत्रु है, सम्भव है, ईरानमें खेलनेवाली पश्चिमी शक्तियाँ मालेकीको अपनी भावी भूमिकाके लिए अभिनेता चुनें!

कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि ईरानकी नीतिमें नवान्तर परिवर्तन होगा। ईरानके पड़ोसी और मित्र भी इसी दिशामें अटकलें लगा रहे हैं परन्तु ईरानी जनसाधारण इस विषयमें निश्चिन्त हैं। वे उमर खय्यामकी परम्पराके पालक रूपमें विचर रहे हैं। वेचैन और वेफ़िक्र!

वास्तवमें ईरानका शासन उनकी जनता और राजाके हाथमें न रहकर पिछले कई सौ वर्षोंसे वहाँ के कुछ सौ-डेढ़ सौ परिवारोंके हाथमें रहा है। ऐसा हरेक पिछड़े हुए मुल्कमें होता है।

विगत वर्षोंमें ईरानमें एक-एक कर जितने प्रधान मन्त्री वने वे परस्पर सम्वन्धी थे। इस दृष्टिसे विदित होता है कि ईरानमें व्यक्तिका व्यक्तित्व अधिक शक्ति रखता है, वनिस्वत विधान और नीतिके!

आजकी राजनीतिका प्रत्येक पाठक जानता है कि ईरानमें पश्चिमका और विशेषकर अमरीका तथा ब्रिटेनका प्रभाव पुनः स्थापित हो गया है। ईरानमें ब्रिटेन और अमरीकाके स्वार्थ टकराते हैं और अमरीका नहीं चाहता कि ईरानके मामलेमें ब्रिटेन हस्तक्षेप करे। अमरीका वहाँ मुक्त विचरण

चाहता है। इसीसे अमरीकी क्षेत्रोंमें ईरानी अराजकतावादियोंका अतिरंजित अभिनन्दन किया गया। शाहपरस्त गद्दारोंको 'क्रान्तिकारी' कहा गया, क्योंकि उनकी करनी पश्चिमपरस्त थी। दूसरा महत्त्व यह रहा कि सोवियत रूसकी देखती आँखों ईरानमें पश्चिमने मनमानी की और उसमें सफल हुआ।

अमरीका कोरियामें सैन्यशक्ति द्वारा जो प्राप्त करनेमें असफल हुआ, वह उसने ईरानमें प्राप्त किया। परन्तु, इसी समय, काश्मीरमें उसकी चालें नाकाम साबित हुई। शेख़ अब्दुल्लाके पतनमें विदेशी षड्यन्त्रका भी भंडाफोड़ हुआ।

इधर ईरानने ब्रिटेनको क्षतिपूर्त्तिकी जो स्वीकृति दी है, उससे जानकार क्षेत्रोंमें विस्मय प्रकट किया जा रहा है, क्योंकि मुसद्दिकके समय यह रक़म न दी जाने, अथवा, कम से कम दिये जानेकी बात थी। किन्तु, इतनी भारी रक़म क्षतिपूर्ति रूपमें देने पर भी ईरानी जनता मौन रहेगी इसमें सन्देह है, क्योंकि यह वही जनता है, जिसने मुसद्दिकके नेतृत्वमें क्षति देनेका घोर विरोध किया था। अमरीका—ब्रिटेन और ईरान दोनों पर दवाव डालकर, थोड़ा-थोड़ा दोनोंको झुकाकर, दो कड़ियाँ बनाकर बीचकी कड़ी खुद बन जाना चाहता है।

उपरोक्त सभी सरगर्मियोंके सिवाय भी अमरीका पाकिस्तानकी तरह ईरानमें भी अपना फ़ौजी रौनक दिखाना चाहता है। वह रूसको यथासम्भव सब दिशाओंसे घेर लेना चाहता है और ऐसा कोई अवसर और स्थल हाथसे नहीं जाने देना चाहता, जिसके द्वारा वह रूसी-सीमाके निकटतम प्रदेशमें अपने चक्रव्यूह स्थापित कर सके।

रूससे जहाँ तक बन सके वह खुद न लड़कर, एशियाको लड़ाना चाहता है। इससे एशियाकी उन्नति भी रुकी रहेगी, गुलामी बनी रहेगी, पराश्रयता जीवित रहेगी और रूसके भयसे वह (अमरीका) किन्हीं अंशोंमें मुक्त भी हो सकेगा। बग़दाद-पैक्ट इस ओर दूसरा क़दम है।

देखना है, भ्रमित एशियाई राष्ट्र इस दुधारी तलवार पर कब तक

चलते हैं! अपने यहांके परराष्ट्रीय हस्तक्षेपको कब तक सहते हैं और एशियाके संगठन और शान्तिमें बाधा बनकर कब तक खड़े रहते हैं?

फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि ईरानकी भौगोलिक एवं सामरिक स्थिति इतनी विचित्र और महत्त्वपूर्ण हैं कि उसे शतरंजका नक़्शा बनाकर बड़े राष्ट्र अपने-अपने मुहरे चलते रहेंगे।

# ब्रह्मदेश

## राष्ट्रगीत

तया म्याक्य लुल्ला शिन्नः
मतवे डोपिये डोमिये
म्यालु खात्तेई न्यई छांग
सेफो ख्वेंट नीम्यौंह

वाडाफ्यू सेडपो डोपिये डोपिये पेडान्सू
अम्बे अम्ये टीडाँसे अडेठां फ्यूबे थेई तेई जोले
(दवामचे पमाप्ये डोबोवा अमवे सिम्मो छिमयानो पे)
प्येडांव सुगो अत्तेपेलो टोका गोयमले
टाडोप्ये टाडोप्ये डोपाई नः मे डोपिये डोमिये
चोगो नींयाज्वा डो डुवे थाङ्ग साङ्ग पा जोले
डोटावें पे ऊपोटामे।

# बर्माके मोर्चे पर....

अज्ञात समयसे बर्मा भारतका अंग रहा है। शास्त्र-ग्रन्थोंमें रह रह कर ब्रह्मदेशका नाम लिया गया है। गोरोंकी यह नीति रही थी कि विशाल-भारतके टुकड़े टुकड़े करना और उन्हें परस्पर लड़वाकर अपने पैर जमाना। इसीलिए समय-समय पर लंका, बर्मा और पाकिस्तान नामक भाग हमसे पृथक् कर दिये गये। 'लोभी व्यक्ति जल्द डूबता है'—राजनीतिमें भी इस कहावतका उपयोग है। हिन्दुस्तानको सब ओरसे कटा हुआ और पृथक् रखनेके लिए, अंग्रेज़ोंने देशके बाहरी हिस्सोंसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी साधनोंको अनुन्नत रखा। पड़ोसकी सीमाओंपर कड़ा पहरा रक्खा और विदेश जानेवाली सड़कोंमें सुधारकी ओर ध्यान न दिया। नतीजा यह हुआ कि जब बर्मामें जापानकी जीतके नगाड़े बजने लगे तो अंग्रेज़ोंका भागना मुश्किल हो गया और मददके लिए फ़ौजी दस्ते उन तक न पहुँच सके। इसी प्रकार बर्माकी पुन:प्राप्तिका प्रश्न कठिनाईमें पड़ गया। कारण एक ही था कि भारत-बर्मारोड ठीक हालतमें नहीं रखी गई।

भारतके साथ ही बर्मामें स्वतन्त्रता आई। गोरोंकी कृपासे भारत और पाकिस्तानको साम्प्रदायिक दंगे उपहारमें मिले। शरणार्थियोंके पुनर्वास-का प्रश्न सरकारी अर्थ-बलको चूस गया! शत्रुओंने बर्मामें इससे छोटी किन्तु अनेक समस्याएँ खड़ी कर दीं। वहाँके लोकप्रिय नेता जनरल आंग-सान अपने साथियों-सहित प्रतिक्रियावादियों द्वारा मारे गये। विदेशी दुश्मनोंका अनुमान था कि इससे बर्मामें अराजकता फैल जायगी। और वामपक्षीय नेताके अभावमें विरोधीदलको उभरनेका अवसर मिलेगा, जो हमें वापस बुलायेंगे, इस प्रकार बर्मामें हमारे स्वार्थ सुरक्षित रहेंगे और बर्मा स्वतन्त्ररूपसे निर्णय कर लेनेकी स्थितिमें न

रह जायगा। इन्हीं उद्देश्योंको लेकर करेन-जातिके बलवे भड़काये गये। चियांग काई शेकके भगोड़ोंको बर्माकी धरती पर जीवित रखा गया।

## स्थिति

बर्मा एक छोटा-सा देश है। भौगोलिक दृष्टिसे वह विभिन्न सीमाओं-से घिरा हुआ है। दो ओर भारत, चीन है। इतिहास कहता है कि आज तक न भारत, न चीनने कभी बर्मा पर आक्रमण किया। राजनीतिक दृष्टि से देखा जाय तो बर्मा, पड़ोसी राष्ट्रोंके स्वार्थों और षड्यन्त्रोंका चरागाह बन सकता है। 'जिमि दाँतन मँह जीभ बिचारी' के अनुसार बर्माकी स्थिति अत्यन्त विकट है। आजके जगत्में जहाँ महाशक्तियाँ लड़खड़ा रही हैं, वहाँ सामरिक दृष्टिकोणसे बर्माका बल ही कितना है?

प्रकृतिने ब्रह्मदेशको अत्यन्त सम्पन्न भू-भाग दिया है। चावलका निर्यात करनेवाले तीन प्रधान एशियाई देशोंमें बर्मा है। जनसंख्याका कोई प्रश्न नहीं। एक लेखक लिखता है—"बर्मा एशियाका सर्वथा सुखी देश है, क्योंकि वहाँ 'जनसंख्या-आधिक्य' की समस्या नहीं।"

बर्मामें अधिक संख्या—लगभग १ करोड़—बर्मियोंकी है। १५ लाखके क़रीब करेन लोग हैं। १० लाख शान और इतने ही भारतीय हैं। चीनी दो लाख हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई जातियाँ हैं। पिछले दिनों करेन लोगोंकी समस्याने विकराल रूप धारण किया है। १९४९-५० में स्थान-स्थान पर करेन विद्रोहियोंने बग़ावत की। यह साबित किया जा चुका है कि इन बखेड़ोंमें—यदि अंग्रेज़ न कहना चाहें—तो गोरोंका हाथ था।

जब करेन-नेता 'सा बा उ ग्वी' को पोताकू नामक गाँवकी एक कुटियामें घेर लिया गया, तो वह अपने दो गोरे साथियों,—बेकर और विवियन सहित सरकारी सेनासे लड़ते हुए मारा गया। बेकार सा बा का सैनिक-सलाह-कार था। अंग्रेज़ विवियन विद्रोहियोंको शस्त्रास्त्र बेचता था। कहा जाता है कि बर्माके सफ़ेद और लाल ध्वजावाले साम्यवादी दल भी करेनोंकी

सहायता कर रहे थे। आज तो करेन चियांग काई शेकके, राष्ट्रीय सैनिकोंके साथी हैं, उनसे अब लाल और सफ़ेद दलोंकी अनवन है।

## करेन-समस्या

करेन-समस्याको सुलझानेके लिए बर्मा-सरकारने पर्याप्त प्रयत्न किया। उसने सैनिक कार्यवाहीके साथ समझौतेके सभी मार्ग खुले रक्खे। करेनोंके विकास और अधिकारोंकी सुरक्षाके लिए एक कमिटी क़ायम की। सरकार यहाँ तक तैयार थी कि बर्मा यूनियनके अन्तर्गत 'करेन स्टेट' की स्थापना हो।

इस ओर प्रयास करने पर, विद्रोहियोंने अविद्रोही करेनों पर दवाव डालकर उन्हें अपनी ओर मिला लेना चाहा, क्योंकि करेन स्टेट बन जाने पर विद्रोहियोंको 'देशद्रोही' कहलानेका भय था। उस अवस्थामें, वे ग़ैर क़ानूनी समूहके रूपमें अधिक दिन नहीं रह सकते हैं और अपने अनुयायियों पर उनका असर कम हो जायगा। लेकिन, स्वतन्त्र देशभक्त करेनोंने, करेनोंकी वात न मानी और बर्मा सरकारको करेन-समस्याकी ओर से शान्तिकी साँस लेनेका अवसर मिला।

इधर सा वा की मृत्युसे "के० एन० डी० ओ०" (करेन नेशनल डिफेन्स आर्गेनाइज़ेशन) में प्रतिक्रियावादियोंको दलका नेतृत्व पा लेनेका मौक़ा मिल गया। फलस्वरूप वे अधिक हिंस्र एवं उग्र रूपमें सामने आये। निरपराध नागरिकोंपर उनके अत्याचार बढ़ गये। इसका यह परिणाम हुआ कि दूर-दूर तक लोग उनके दुश्मन हो गये और सरकारका काम सरल हो गया। अपनी हिंसक-प्रवृत्तियों द्वारा विद्रोहियोंने आत्मनाशका वीज वोया। पहले वे जहां तहां छिपकर रह लेते थे, अब उन्हें अतिथि बनानेके लिए कोई तैयार न था। हार कर, जंगलमें आश्रय लेना पड़ा जहाँ छिपने पर, सरकारी दलोंने सारे रास्तोंकी नाकेवन्दी करके उनका दम घोट दिया। आज करेन-समस्याकी आग राखमें वदल गई।

दूसरी समस्या चियांग काई शेकके सैनिकोंकी है, जो पाँच वर्ष पहले चीनसे भाग कर बर्मामें घुस गये थे।

करेनोंका प्रश्न चाहे जितना विकट क्यों न हो, वह बर्माका घरेलू प्रश्न था परन्तु चीनी राष्ट्रीय दलोंका सवाल बड़ा पेचीदा और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर अकल्पित प्रभाव डालनेवाला है। चार वर्षके अल्पकालमें ही माओ की मार से बर्मामें आ बसे, ३,००० कोमिंगतांगी फ़ौजियोंकी संख्या बढ़कर १२,००० हो गई। इससे सिद्ध होता है कि कुछ ऐसी विदेशी शक्तियाँ अवश्य हैं, जो इन भगोड़ोंको मदद देती हैं, अन्यथा, ये अपने शस्त्रास्त्र और खानपान कहाँसे पाते रहे? चीनके साम्यवादियों पर तो ये क्या ख़ाक हमला करते, बर्मामें ही इधर-उधर लूट मार करते रहे। ली मी नामक सेनापतिकी कमान के ये १२,००० लुटेरे बर्मामें बिखर गये। इनका बड़ा अड्डा स्याम-बर्मा सीमा पर है। इसके अतिरिक्त, मिल्कीवाके उत्तरमें, तेनासेरिममें, शान रियासतमें और केन्तुंगमें इनके छापेमार छिपे हुए हैं। जब तक ये स्वयं निकलना न चाहें, इन्हें निकाल बाहर करना कठिन कार्य है। अब यदि बर्मा फारमोसा-स्थित चीनी राष्ट्रीय सरकार से इस विषयमें शिकायत करता है तो वह कहती है—"हमारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं, ये हमारी आज्ञा नहीं मानते।" दूसरी ओर, बर्मा और फारमोसाके मध्य कूटनीतिक सम्बन्ध नहीं। बर्माने फारमोसा-सरकारको स्वीकार नहीं किया है तो वह भी क्यों सुनने लगी।

## यू० एन० ओ० में

इन परिस्थितियोंसे परेशान होकर, अपने पारिवारिक बन्धु भारत और उसके प्रधान मन्त्रीकी रायसे बर्माने इन आवारा फ़ौजियोंका मामला अप्रैल १९५३ में, संयुक्त राष्ट्र-संघके सामने पेश किया। २० अप्रैलको यू० एन० ओ० की पोलिटिकल कमिटीके सम्मुख बर्मी प्रतिनिधिने पुरज़ोर शब्दोंमें अपने देशमें प्रविष्ट लुटेरोंकी हालचाल और रीति-नीतिसे सम्बन्धित बयान दिया। इन भगोड़ोंने, न केवल अनधिकृत रूपसे बर्मी सीमामें प्रवेश

कर अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनका उल्लंघन किया, वरन् एक शान्तिप्रिय राष्ट्रके सीधे-सादे नागरिकोंको अपने अन्यायका शिकार बनाया। यही नहीं, बर्माके मित्र पड़ोसी साम्यवादी चीनके इलाक़ोंमें लूटपाट और छीनझपटकी तैयारियाँ दिखाकर, इन दलोंने, चीनी-बर्मी मैत्री-सम्बन्धमें चिनगारी लगानेका शत्रुतापूर्ण कार्य किया !

कमिटीके कई सदस्योंने बर्माकी माँगका समर्थन किया। इजराइली प्रतिनिधिने तो यहाँ तक कहा—"जिस आक्रमण-द्वारा, आक्रान्ताको छिपाया जाता है, वह अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनकी नज़रमें और भी भयंकर अपराध है।" संयुक्त राष्ट्रसंघके सिद्धान्त किसी भी प्रकारके आक्रमणकी भर्त्सना करते हैं।

## समझौता : फिर भी अशान्ति

यू० एन० ओ० में किये गये इन प्रयत्नोंका परिणाम यह निकला कि अमरीकाके निवेदन पर —बर्मा, फारमोसा, स्याम और अमरीका—इन चार देशोंके बीच, राष्ट्रीय चीनी दलोंके बर्मासे हटानेके लिए, बेंकाकमें एक समझौता हुआ।

यद्यपि, उक्त समझौता अपने आपमें एक बड़ी सफलता है परन्तु सैनिकोंसे बर्मी सीमा ख़ाली करवा लेना आसान काम नहीं है। एक मासकी गुप्त मन्त्रणाके पश्चात्, समझौता करनेवाले ये चारों राष्ट्र, इस परिणाम पर पहुँचे कि फारमोसाई सैनिकोंको स्यामके रास्ते बाहर किया जाय। फिर भी, यह प्रश्न रह जाता है कि सैनिक इस कार्यमें कहाँ तक सहयोग देंगे ? वर्षों लूट-मारका स्वच्छन्द जीवन बिता लेने पर क्या फारमोसाका अनुशासनपूर्ण वातावरण इन्हें अप्रिय न लगेगा ? इसलिए हो सकता है कि फारमोसा जानेकी अपेक्षा, वे लुटेरोंकी खानाबदोश ज़िन्दगीको प्राथमिकता दें और बर्मी इलाक़ोंमें बिखरे रहना ज्यादा पसन्द करें ! फारमोसा कहता है—साम्यवादियोंको खत्म कर चीनको आज़ाद करनेकी इन देशभक्तोंने शपथ ली है, अतः अपने देशकी सीमाके निकटतम भागमें रहनेका चुनाव इन्होंने किया है—यह पागलोंकी-सी बात है। आज

५ साल हो गये, चियांगके इन गिरहकटों और बटमारोंने, निकटवर्ती यूनान प्रदेशीय साम्यवादियोंसे लोहा लेनेका साहस नहीं किया। और अपने किसी भी उद्देश्य की पूर्तिके लिए ये दूसरे राष्ट्रकी सीमा भंग करें, यह कहाँ का न्याय है? मज़ेदार बात तो यह है कि इनकी उपस्थितिसे जानकार होते हुए भी साम्यवादियोंने स्वयं कभी यह कोशिश नहीं की कि इनसे लड़ा जाय। ऐसा करनेपर, मिट्टीके इन चंद लोगोंको अनावश्यक महत्त्व मिल जाता। शायद, उसी कारणवश, राजनीतिक समितिमें रूस भी इन्हें उपेक्षित कर गया।

समझौतेके अनुसार वर्मा इन्हें स्याम तक पहुँचायगा, स्याम इन्हें अपनी भूमि पर एकत्र करेगा और फारमोसा अपने इन "वीरों" का स्वागत करेगा। यदि सारे प्रयत्नों, और सम्योंके समझौतेके वावजूद भी ये कोमिंगतांगी वर्मी सीमासे वाहर निकलना नामंजूर करते हैं, किसी प्रकारकी वाधा पहुँचाते हैं अथवा असहयोग करते हैं तो वर्मा कहता है—'इनको पहुँचानेवाली सहायता बन्द कर दी जाय (चाहे वह जिस देश से, जिस किसी रूपमें आती हो), फिर हम इन्हें देख लेंगे।' यों अकेले और छोटेसे वर्माके लिए ऐसे लोगोंसे लड़ना सर्वथा कठिन कार्य है, जिन्हें वाहरी शक्तियाँ निरन्तर सहायता दे रही हैं। वर्माने इस सम्बन्धमें अमरीकाके प्रति अपनी नाराज़गी ज़ाहिर की है, यहाँ तक कि उससे प्राप्त होनेवाली आर्थिक सहायता लेना भी अस्वीकार कर दिया। फलस्वरूप, अमरीकाने फारमोसाको खटखटाया और शान्ति-वार्ताके लिए उसे तैयार किया। दूसरा दोष स्यामका है। स्यामके सभी भागोंसे इन फ़ौजियोंको तरह-तरहकी मदद मिल रही है। क्या पड़ोसी देशके प्रति स्यामका यही सुधर्म और कर्तव्य है? वास्तवमें, स्याम विदेशी-शक्तियोंका खिलौना है।

अव इन भगोड़ोंको हटा देना वर्मा और एशियाकी शान्तिके लिए आवश्यक है। ये वर्मी धरती पर एक पल भी नहीं रखे जा सकते। यदि इन्होंने चुपचाप पलायन-प्रयाण नहीं किया तो इनकी उपस्थितिको साम्यवादी चीन कभी सहन न करेगा और स्थिति अधिक उलझ जायगी। ऐसा

होने पर, ग़रीब बर्मा राष्ट्रवादियों और साम्यवादियोंकी भिड़न्तका अखाड़ा बन कर दूसरा कोरिया बन जायगा। इसके उपरान्त बर्मामें उठती अराजकताको भारत कभी स्वीकार न करेगा, न चुपचाप उसे देखता रहेगा। बर्मी-अशान्तिको, भारतके किसी प्रान्तकी अशान्तिसे कम महत्त्व नहीं दिया जा सकता। आखिर, बर्मा १९३५ तक भारतीय प्रान्त रहा है। राजनीतिने उसे अलग कर दिया हो, भूगोल और इतिहास उनकी एकताके पक्षमें रहे हैं।

यही कारण है कि बर्मा इस समस्याके महत्त्वसे पूरी तरह सावधान है। वह सब कुछ देकर भी अत्याचारियोंसे अपनी धरती अपवित्र न होने देगा। और न वह महाशक्तियोंके स्वार्थोका हवनकुण्ड ही बनेगा!

'बर्मा कोरिया नहीं बनेगा!'

# महाचीन

## राष्ट्रगीत

छैन चिंग छैन चिंग छैन चिंग
छिलाई पूयूआन चो नूती ती लन मन
पावो मंती श्वेल्य् चू छन छन वौमनं सिंगती
छांग छन
चुंग ख्वा मिंग चो ताओ ल्याओ च्वे वे
शेंती सिज़ खौ
मेकोलन पे फ चो फ्वा छो च्वे हो ती खू सन
छिलाई छिलाई छिलाई !
वौमन वानचुंग ईशिंग माओ चो
तेलन्ती फाओ खो छैन चिंग
माओ चो फाओ खो
छैन चिंग छैन चिंग छैन चिंग चिंग !

# नानकिंगके उत्थान-पतनका चक्र

पन्द्रह वर्षपूर्व नानकिंग नगरकी आबादी कठिनाईसे तीन लाख होगी; किन्तु युद्धकालमें जब जापानियोंने इस पर अधिकार किया तो उस समय यहाँकी जनसंख्या दस लाखसे भी अधिक थी। सन् १९२८ तक नानकिंगमें बिजलीका प्रकाश नहीं था। कल-बलसे प्राप्त जल और स्वास्थ्य-सम्बन्धी अन्य सुविधाएँ नगर निवासियोंको अप्राप्य थीं; किन्तु आज तो नानकिंगका नक़्शा ही पलट गया है—अन्धकारमय गलियाँ और सड़कें विद्युत्-प्रकाशसे जगमग होती हैं। नलमें जलका प्रवाह अनवरत बहता है। पहले जलका पूर्ण अभाव था और बाज़ारोंमें लोटेभर जलके लिए क़ाफ़ी पैसा देना पड़ता था। छोटेसे बेढंगे क़स्बेसे बदलकर आजका नानकिंग चीन देशका गौरव-पूर्ण, प्रगतिशील शहर बन गया है, जहाँ संसारके सभी कोनोंसे लोगोंका आवागमन है।

पिछले तीन-चार सालोंमें नानकिंगमें नयी और शानदार इमारतें बन गयी हैं और नगरके पुनर्निर्माण का कार्य बड़ी तेज़ीसे किया जा रहा है। हालमें ही कई बड़े-बड़े बैंकोंने यहाँ अपनी शाखाएँ खोल दी हैं और कार्या-लयोंके लिए सुन्दरतम भवन बनवाये हैं।

नानकिंग सदैवसे ऐतिहासिक नगर रहा है। इसके प्राकृतिक दृश्य दर्शनीय हैं और सामरिक दृष्टिसे इसकी स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नानकिंग शांघाई नगरसे २०० मीलकी दूरी पर, यांग्त्ज़ी नदीके तट पर बसा हुआ है।

देशके अन्य भागोंसे यह, जलमार्गके अतिरिक्त तीन विभिन्न रेलवे-लाइनोंसे जुड़ा हुआ है। ये रेलवे हैं—तिन्शीन-पुकोव, शांघाई-नानकिंग, और शांघाई-हंगचाओ-निंगपो-रेलवे। हालमें ही कई ऐसे विशाल मार्ग

वन गये हैं—जिनके द्वारा देशके विविध छोरों तक हम नानकिंगसे होकर पहुँच सकते हैं।

नानकिंगका प्राचीन इतिहास अत्यन्त रोचक और गौरवपूर्ण रहा है। पिछले २,००० वर्षोंमें नानकिंग नगरने ह्रास और विकास, गौरव और रौरवके कई दृश्य देखे हैं। कई राजकुलोंकी यह राजधानी रहा है और समय-समय पर इसके नामोंमें परिवर्तन होता रहा है। नानकिंगका अर्थ है—'दक्षिणी राजधानी'। नानकिंग नामका पूर्व इतिहास १३६८ से मिलता है, जब मिंग सम्राटोंने अपनी कुल-परम्पराएँ स्थापित की थीं। तब इसका नाम 'गिनलिंग' था। यों ईसा मसीहसे कई सौ वर्ष पूर्व नानकिंगके जो अनेक नाम रहे उनमें 'शेंगचाऊ', 'तान्यांग' और 'कियांगनान्' प्रसिद्ध हैं। नानकिंगको अपनी राजधानी बना कर रहनेवालोंमें, मिंग सम्राटोंके पूर्वज थे, जिन्होंने यहाँ मिंग-कुलकी स्थापना की। यह शुभ कार्य सन् १३६८ में 'हुंग-वु' के द्वारा हुआ था। हुंग-वु एक बहादुर सिपाही था जो बौद्ध साधुका रूप धारण करता हुआ एक दिन सम्राट् वन वैठा! मिंग-सम्राटों-की समाधियों, प्रासादों और उद्यानों आदिके भग्नावशेष, अभी भी उस स्वर्णयुगके राजत्वकालका स्मरण दिलाते हैं। इसी वंशके युँग-लो सम्राट्ने १४०० के लगभग इस नगरका परित्याग कर पेकिंगकी शरण ली, क्योंकि मंगोल और तातार जातियाँ आक्रमणोंसे उसे पराजित करनेके प्रयत्न में थीं।

अविराम युद्धों, बाढ़ों, तूफानों और भूकंपोंके अतिरिक्त, नानकिंगने दो भयंकर 'क़त्ले-आम' देखे हैं। प्रथम विनाश छठी शताब्दी में हुआ था, जब कि आक्रामकोंने परकोटेके बीच बसे सारे शहर का नाश कर, वहाँका प्रत्येक मकान गिरा दिया था और जमीन पर हल चला दिये थे, ताकि शहरके पिछले इतिहासका नाम तक शेष न रहे!

नानकिंग पर दूसरी आपदा १८५३ और १८६४ के मध्य आयी, जब 'ताइपिंग' के बलवाइयोंने नानकिंगको विनष्ट कर दिया था। उस घटनाका, सन् १८६१ में एक अंग्रेज़ने अपनी आंखों देखा वर्णन लिखा है, जो इस प्रकार है: 'नानकिंग नगर—वहांके सम्राटोंकी समाधियाँ,

प्रसिद्ध स्फटिक-से चीनी मिट्टीके मन्दिर और अन्य पवित्र-स्थान सर्वथा विनष्ट हो गये हैं। शहरका कोट क़ाफी ऊँचा है। उसका घेरा २० मील है और गलियोंमें पत्थरके चौकोर टुकड़े जड़े हैं; किन्तु आज यह सब व्यर्थ हो चला है, क्योंकि नगर श्मशानवत् है, भवन पाषाणके ढेर मात्र हैं और मनुष्य शवमात्र हैं।' नानकिंगका विश्वप्रसिद्ध चीनी मिट्टीका पेगोडा, जिसे ताईपिंग लोगोंने नष्ट कर दिया था, समस्त चीन देशमें जो 'पेगोडों-का देश' है, सबसे सुन्दर मन्दिर था।

यह पेगोडा पन्द्रहवीं शताब्दीमें सम्राट् युँग–लो ने अपनी माता की स्मृतिमें बनवाया था, इसके बाह्य भागों पर विविध रंगोंके मूल्यवान चौकोर पत्थर जड़े थे। इस पेगोडामें कोई १५० घंटे-घंटियां थे। अपनी 'केरा-मास' नामक कवितामें इंग्लैण्डके महाकवि लांग्फेलोने इस पेगोडाकी बड़ी प्रशंसा की है। ताईपिंग लोगोंके अधिकारके उपरान्त पचास वर्षों तक नानकिंग अस्तव्यस्त दशामें रहा। १९११ में २६० वर्षों तक चीन देश पर शासन करनेवाली मंचु-सत्ताका अन्त हुआ और सुन्यात्सेनकी अध्यक्षतामें चीनी प्रजातन्त्रकी स्थापना हुई। उस समय नानकिंग दक्षिणी चीनकी राजधानी बना; किन्तु, अगले १५ वर्षों तक केन्द्रीय सरकारका स्थान पेकिंगमें ही रहा।

१९२७ में साम्यवादी दलोंने नानकिंग पर अधिकार करनेका प्रयत्न किया परन्तु अमरीकी हस्तक्षेपके कारण असफल रहे। २१ जून १९२९ में चियांग काई शेकने इसपर अपना अधिकार कर लिया।

जब नानकिंग चीनकी राजधानी बन गया तो, वहाँ गृह-निर्माणकी ओर लोगोंका ध्यान गया; फलतः नये-नये मकान बने। रेलकी लाइनें निकलीं और सबसे पहली बड़ी सड़कका नाम 'चुंगशान रोड' रखा गया। 'चुंगशान' सुनयात्सेनका एक नाम है जिस नामसे सारा चीन उन्हें पहचानता है। इस सड़ककी राहमें अनेकों मकान बने थे, उनके मालिकोंको पर्याप्त रक़म देकर संतुष्ट किया गया। इसी रोड पर होकर स्व० डा० सुनयात्सेनके भौतिक शरीरको अर्थी पर ले जाया गया था, जो 'परपल-माउण्टेन' के

ढालपर दफनाया गया और वहीं एक शानदार सुन्दर समाधि बनवायी गयी। १९२ में कुओमिंग तांगके केन्द्रीय कार्यालय भी कियांगसुकी प्रान्तीय असेम्बलीवाले भवनोंमें स्थापित किये गये थे और नगरपालिकाके कार्यालय, कन्फूशियसके मन्दिरके निकट परीक्षा-गृहमें ही रहे।

१९३२ में नानकिंगमें कई नयी इमारतें बनीं, और सर्वप्रथम रेलवे-मिनिस्ट्रीके कार्यालय वहाँ लाये गये। रेलवे-विभागके भवन सर्वोत्तम हैं और इस उत्तम कार्यके लिए अधिकांश श्रेय डा० सुनयात्सेनके सुपुत्र 'सुन्-फो' को है, जो उस समय रेलवे-मन्त्री थे। इसके दो वर्ष पश्चात् विदेश-विभागका कार्यालय भी पक्की ईंटोंके एक सुन्दर भवनमें स्थापित हुआ। सूचना-विभागके भवनका नक्शा एक रूसी शिल्पीने बनाया था। चीनी तथा पाश्चात्त्य कलाका इस भवनके शिल्पमें पर्याप्त मेल है, जो सर्वथा प्रशंसनीय है। इसके पश्चात् कुछ-ही समयमें कई इमारतें बन गयीं। जिनमें 'सुप्रीम-कोर्ट' की इमारत प्रसिद्ध है। नानकिंग नगरमें सरकारके आ जाने पर, पहला काम जल-प्रबन्धका किया गया। १९२९ में 'वाटर वर्क्स' की स्थापना हुई और १९३३ तक क़ाफ़ी सफलता इस कार्यमें मिली। कुलीके द्वारा ढोया जानेवाला पानी अब मीटरके द्वारा आने लगा! कुएँ न होनेसे, जलके लिए नानकिंग खाकी रंगकी मटमैली सरिता यांग्त्जी पर निर्भर है। यांग्त्जी सारे देशका चक्कर काटती हुई नानकिंग नगरके बाहर आ निकली है।

चियांगके समय यह हाल था कि चीनके किसी भी नगरमें आप जाइये, कुत्ते, सूअर और बिल्लियाँ राहमें दिखेंगे। कुत्तेको मारना चीनी लोग पाप समझते हैं। चीनमें एक कहावत है कि जो वस्तु किसीकी नहीं है, उस पर सबका समान अधिकार है। यह कहावत सड़कके विषयमें पूर्णतया लागू होती है। सड़कके दोनों ओरकी चौड़ी पटरियोंपर स्त्रियाँ छोटी-छोटी काठकी चौकियों पर बैठ जाती हैं और वहीं बच्चोंको दूध पिलाने लगती हैं। इन्हीं फुटपाथोंपर गंदे कपड़ोंवाले आवारा लड़के खेलते रहते हैं। पिल्ले ऊँघते हैं। और वहीं अम्माएँ आपसमें गप्प लड़ाने लग जाती हैं। इन

'सार्वजनिक' सड़कों पर व्यवसायी बनिये अपने चावल धूपमें फैला देते हैं। लॉण्ड्रीवाले अपने कपड़े बीच सड़कपर सुखा देते हैं। इसके अतिरिक्त कॉफी बनानेवाले अपना सारा व्यवसाय सड़कपर फैलाकर बैठते हैं। आज यह दृश्य नहीं रहे। पहले नानकिंगमें रात्रिके बारहके बाद, नृत्य-गान बन्द कर देनेकी आज्ञाएँ थीं। वहाँके प्रसिद्ध नृत्य-मन्दिर 'अन्तर्राष्ट्रीय क्लब' में शनिवारकी सन्ध्यामें भारी भीड़ होती थी और प्रत्येक देश और जातिके लोग नृत्य-समारोहमें सम्मिलित होते थे। ऐसे स्नेह-सम्मेलन अन्यत्र नहीं पाये जाते। नाचके अतिरिक्त गान-विद्याका भी नानकिंगमें पर्याप्त सम्मान है। बहुत कम पैसा खर्च कर बढ़िया गीत सुने जा सकते हैं। चीनी भाषा-के कवि 'लिन युत्तांग' का एक गीत वर्षों पहले बहुत गाया जाता था। इस गीतमें एक तपस्विनी 'प्रेम पुजारिन' अपने मोहनको ढूँढ़ती है।

नानकिंगमें संगीत और कला-केन्द्रके सिवाय कई व्यायाम-गृह भी हैं और वहाँ प्राय: सभी पाश्चात्त्य खेल खेले जाते हैं। छुट्टीके दिन इन स्थानोंमें क़ाफी भीड़ हो जाती है। पार्क और उद्यानोंकी भी वहाँ कमी नहीं है। स्वास्थ्यवर्द्धक मुक्त पवनके लिए लोग 'कमल झील' पर जाते हैं। चाँदनी रातोंमें इस झीलमें अनगिनती कमल खिलकर अपनी गन्धसे हवाको भर देते हैं। तबका दृश्य अनोखा होता है। शौक़ीन लोग ऐसी चाँदनी रातोंमें वहाँ नाव चलाते हैं।

किन्तु नानकिंगका प्राकृतिक दृश्यसे पूर्ण सर्वश्रेष्ठ स्थान है 'परपल पहाड़', जो शहरके पूर्वमें कुछ ही मीलकी दूरी पर है। यह पर्वत कई प्रकारके वृक्ष और वनस्पतियोंसे आच्छादित है। इसके ढाल पर ही डा० सुनयात्सेन-की समाधि है। यहीं वह चीनी प्रजातन्त्रका जनक शान्तिसे सोया है। वर्षभरमें एक बार जनताको उनके मुखमण्डलका दर्शन करने दिया जाता है। इस समाधिकी समाप्ति १९३० में हुई थी जबकि १०,००,००० डालर इसकी लागत है। इससे आगे प्राचीन समाधि-स्थान और श्मशान घाट हैं जो 'आत्माकी घाटी' नामसे प्रसिद्ध हैं। इसी श्मशानमें चीनी क्रान्तिके २४,००० बहादुरोंके स्मृतिसूचक पत्र हैं। 'परपल पर्वत' के

समीप ही 'फूलोंकी चट्टानें' हैं । ये वही चट्टानें हैं जिनसे चीनका प्रसिद्ध कवि लि-ताई-पो (७०५–७६२) नशेकी अवस्थामें कूद गिरा और नीचे झीलमें डूब मरा था । 'फूलोंकी चट्टानें' नाम इसलिए दिया गया कि चट्टानोंका रंग लाल है। और ये नगरसे १९ मील दक्षिण पूर्वी भाग पर स्थित हैं।

पुराना नानकिंग स्वा थ्यके विषयमें बहुत पिछड़ा हुआ था। विभिन्न प्रकारके लोग इसे अपना डेरा बनाये हुए थे। आज यह बात नहीं है सरकार रोगोंको दूर करनेके लिए भरसक प्रयत्न कर रही है । पुलिस छूत-जनित रोगोंके लिए बलात् टीके लगवाती है। घर-घर जाकर टीके लगानेके लिए डाक्टरोंके ६४ दल हैं। सन् १९३६ में १,४१,८९३ व्यक्तियोंको टीके लगाये गये थे। फिर भी नानकिंग रोगमुक्त स्थान नहीं था । मलेरिया वहाँका प्रमुख रोग था । प्रतिवर्ष सैकड़ों व्यक्ति मलेरिया-ज्वरके कारण मृत्युकी शरणमें जाते थे। फरवरी १९३४ में मलेरिया-नाशक-मण्डलकी स्थापना की गयी थी और शहरमें लगभग ३० सुयोजित अस्पताल, स्थापित किये गये थे। अब नई सरकारने चीनको मलेरियासे मुक्त किया।

शिक्षा-प्रचारके क्षेत्रमें नानकिंग नगर प्रतिदिन उन्नति कर रहा है। कई प्रकारकी शिक्षण-संस्थाएँ यहाँ हैं । आजका नानकिंग पूर्वके किसी भी बड़े से बड़े नगरकी तुलना में लिया जा सकता है। जनरालिसीमो चियांग-काई-शेकके बाद आज उस पर साम्यवादियोंका लाल ध्वज फरफरा रहा है और वह पूर्वके समस्त शोषितोंको पुनर्जीवनके लिए पुकार रहा है। नये चीनमें और नये नानकिंगमें, नयी मानवताका उदय हो रहा है। यह उदय एक ऐसी मानवताका है जो समानता, भ्रातृत्व और एकताके प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तोंके लिए जियेगी और जीकर अमर होगी।

# प्रशान्तमें अशान्तिकी लहरें !

पूर्वी एशिया या दूरपूर्वमें अशान्ति बनी रहे—ऐसा १९४५ से ही पश्चिमके तथाकथित बड़े राष्ट्रोंका उद्देश्य रहा है। द्वितीय महायुद्धके पश्चात् अमरीकाने एक नई नीति अपनाई और शीतयुद्धको जन्म मिला। अपने यहाँ जो आर्थिक मन्दी आनेवाली थी उसकी आशंका और भय अमरीका सरकार पर छाये थे। इससे मुक्ति पानेके लिए उसने योरप, एशिया और स्वयं अपने देशकी जनताको युद्धके भूतसे बुरी तरह डरा दिया। इस भयसे अभिभूत विश्वके अनेक छोटे-बड़े राष्ट्र सामरिक सज्जामें लग गये और अपनी जनताकी गाढ़ी कमाईका सोना शस्त्रास्त्र खरीदनेमें खर्च करने लगे । अमरीकाको इस गड़बड़ी और हड़बड़ीसे पर्याप्त रूपेण लाभ हुआ और वह सोना लेकर या लेनेका वचन पाकर अपने पुराने हथियार और गोला-बारूद मुल्क-मुल्कको बाँटने लगा। अब तो अनेक क्षेत्रोंमें होलियाँ भी धधक उठीं। जैसे—कोरिया, काश्मीर, स्वेज नहर, इज़राइल, लंका में भारतीयोंके अधिकार, अफ्रीकामें रंगभेद, बर्मासे सफ़ेद चीनियोंको निकालनेका सवाल, हिंदचीन फ़ारमोसा आदि अनेक उलझनें पैदा कर दीं। इसके अतिरिक्त दूसरे दौरमें उसने खुल्लमखुल्ला रूपमें सैनिक-पैक्ट और अभिसन्धियाँ स्थापित करना आरम्भ कर दिया। परिणाममें—नॉर्थ अटलाण्टिक टीटी आर्गेनाइज़ेशन (नेटो), पेसिफिक-पैक्ट, मिडल ईस्ट डिफेन्स आर्गेनाइज़ेशन (मेडो), साउथ-ईस्ट एशिया टीटी आर्गेनाइज़ेशन (सीटो) और बगदाद पैक्ट आदिके मुहरे राजनीतिक शतरंज पर रखे गये।

पूर्वमें ब्रिटिश साम्राज्यवादके निर्बल पड़ जानेके अवसरसे अमरीकाने चाहा कि वह ब्रिटेनके रिक्त स्थान पर व्यवसायीके रूपमें प्रतिष्ठित हो जाय, इस प्रकार साम्राज्यवादने व्यवसायवादके नये बानेमें फिरसे एशियामें अपने पंजे गड़ाना चाहा। द्वितीय महासमरकी समाप्तिके पूर्व ही राजनीति-

विशारदोंके मानस-पटल पर यह रहस्य स्पष्ट रूपमें झलकने लगा था कि युद्धान्त पर अमरीका एशियासे अपना आधिपत्य नहीं हटायगा। फासिस्ट और नात्सियोंसे विश्वको मुक्ति दिलानेका उसका वादा क्या इसी रूपमें प्रतिफलित होने वाला था ?

पिछले महासमरके समय १९४३ के दिसम्बर मासमें अमरीका, ब्रिटेन और चीनने काहिरामें इस बातकी घोषणा की थी कि तीनों ताक़तें समुचित समय आने पर कोरियाको स्वतन्त्र कर देंगी। इस घोषणाको पोस्टडममें २६ जुलाई १९४५ के दिन फिरसे दुहराया गया और ८ अगस्त १९४५ को रूसने घोषणा की कि हमारी लड़ाई आज़ादीके लिए है। हम किसी दूसरे मुल्कमें अपना एक सिपाही भी नहीं रखना चाहते और शीघ्र ही कोरियासे अपनी सेनाएँ हटा लेंगे।

—लेकिन, युद्धान्त पर भी जब अमरीकाने कोरियासे अपनी फ़ौजें नहीं हटाईं, तो यह साबित हो गया कि वह पूरबमें डटा रहना चाहता है। और, वह स्थिति चाहता है जो कुछ वर्षों पूर्व यूनियन जैकके सेनानी ब्रिटेनको प्राप्त थी। ऐसी अवस्थामें रूसने कोरियासे अपनी सेनाएँ हटा कर ९ सितम्बर १९४८ में कोरियाई "डेमोक्रेटिक पिपुल्स रिपब्लिक" नामक सरकारका आरोहण करवाया।

जिस प्रकार अमरीका कोरियासे नहीं गया, उसी प्रकार वह फ़ारमोसा से भी नहीं हटा। हटना उसे चाहिए, क्योंकि ऐसा एक सुलहनामा मित्रोंके मध्य पहले हो चुका है—नवम्बर १९४३ की काहिरा घोषणामें कहा गया था कि मित्र राष्ट्र चीन देशको वे स्थान लौटा देंगे, जो जापानने उससे चुरा लिये हैं। इस उद्घोषणाका आज तक पालन नहीं किया गया। और महाचीनको इसके विरुद्ध उलझा कर एशियामें अपना प्रभुत्व बनाये रखनेका कार्यक्रम यथावत् चलता रहा। यही नहीं, अब तो काहिराकी उपर्युक्त उद्घोषणासे भी मित्र-गण बदल गये हैं और कहते हैं कि यह तो सुलह या इकरारनामा न होकर मात्र एक 'विचारनामा' था।

४ फरवरी १९५५ को ब्रिटेनके विदेश मन्त्री श्री एन्थोनी इडनने

फरमाया—"चीनका कुओ मिङ्ग-तांग द्वारा अधिकृत किसी प्रदेशकी पुनप्रप्तिका प्रयत्न वर्तमान परिस्थितिमें ऐसे हालातको जन्म देगा, जो विश्व-शान्ति और सुरक्षाको संकटमें डाल देंगे।"

आगे चलकर श्री इडनने फ़ारमोसाके इतिहासको इस प्रकार प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की कि लाल चीनका दावा झूठा पड़ जाय। आप कहते हैं—"फ़ारमोसा और पेस्काडोर्सके द्वीप चीनने सिमिनोसेकीकी १८९५ की सन्धि-द्वारा जापानको दे दिये थे और मित्र राष्ट्रोंने काहिरामें जो उद्घोषणा की थी उसका अर्थ सिर्फ़ इतना ही था कि उपरोक्त द्वीप-समूह चीनको दिला देनेका इनका विचार है। परन्तु फ़ारमोसा और पेस्काडोर्सके द्वीप चीनके पास चले जानेकी रस्म पूरी नहीं हुई और न किसी सर्वमान्य सही तरीक़ेसे वे चीनको दिये ही गये। इसका कारण यह रहा कि इन द्वीपोंके स्वामित्वके दो दावेदार उठ खड़े हुए—लाल चीन और राष्ट्रवादी चीन।"

लाल चीनकी राजधानी पेकिंगसे फ़ारमोसाकी मुक्तिके लिए जो दावे पेश किये गये हैं और जो बातें बताई गई हैं उनसे यह साफ़ ज़ाहिर है कि चीन राष्ट्रवादी कुओ मिङ्ग-तांग गुट्टको नष्ट करके ही दम लेगा। उसने विदेशी आक्रमणकारियोंको किसी भी प्रकारके हस्तक्षेपकारी क़दम लेनेके विरुद्ध चेतावनी दी है। प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाईने अगस्तके द्वितीय सप्ताहमें एक बयानमें बतलाया था कि चीनकी सार्वभौमिक सत्ता एवं सीमाकी सुरक्षाके लिए ताइवानकी मुक्ति आवश्यक है। भले, चाऊ महोदयका यह कथन चियांग काई-शेकके दलकी नज़रोंमें संकटपूर्ण हो या न हो, दूर-पूर्वमें आज जो वातावरण प्रसारित है वह समस्त एशियाके लिए चिन्ताका विषय बन गया है। क्योंकि एशियावासी जानते हैं कि साम्यवादियों और राष्ट्रवादियोंके मध्य जो जंग छिड़ेगा, वह इन दोनों तक ही सीमित नहीं रहेगा, वरन् उसके अन्तर्राष्ट्रीय महायुद्धमें परिवर्तित हो जानेकी पूर्ण सम्भावना है।

पिछले दिनों अमरीकाके राजनीतिक नेताओंने यह माँग पेश की थी कि चीनके ख़िलाफ़ कड़ी कार्रवाई की जाय और चियांग काई-शेकको भरपूर सहा-

यता दी जाय। इसके कुछ ही हफ्तों बाद फ़ारमोसा स्ट्रेटमें कुओ-मिन्-तांग नौसेना और वायुसेनाने सरगर्मियाँ दिखानी शुरू कीं। उसी समय पेकिंग-सरकारके सम्भावित मुक्ति प्रयासकी उद्घोषणासे स्थिति और दुरूह हो जाती है। ऐसी विषमावस्थामें आशाकी एक मात्र किरण हमें इस स्थिति-द्वारा दृष्टिगत होती है कि महाशक्तियाँ सामरिक शस्त्रास्त्रोंसे लैस होने पर भी लड़नेमें आगा पीछा कर रही हैं। वे युद्ध चाहती हैं और नहीं चाहती हैं। छोटे-छोटे राष्ट्र जो महाराष्ट्रोंके पुछल्ले बने हुए हैं उन्हें अपनी मर्ज़ी और स्थिति पर तो स्वतन्त्र रूपसे सोचने और समझनेका अवकाश ही नहीं। जहाँ एक बार युद्ध छिड़ा कि वे अपने अपने आक़ाओंके पीछे—गेहूँके साथ घुनकी तरह पिस जायँगे। इसीलिए युद्धसे वे भय खाते हैं। यह बात अलग है कि कुछ समझदार देश शान्ति चाहते हैं और शान्तिके प्रयत्नोंमें मानव मात्रकी मुक्ति देखते हैं परन्तु, आजके एशिया पर अन्तर्राष्ट्रीय उलझनोंका जो जाल पड़ा हुआ है वह सहज ही कटने-हटने वाला नहीं है। उसमें अनेक प्रकारकी सन्धियों, क़ानूनी दावपेंचों, पैक्टों और षड्यन्त्रोंकी गाठें पड़ी हुई हैं। इस कारण दूरपूर्वके सवालको सुलझा लेना और भी कठिन हो जाता ह। उपरोक्त दशाको देखते हुए आजकी घड़ीकी एक मात्र माँग यही हो सकती है कि दोनों ओरके पक्ष और अन्यान्य गुट्ट और दल शान्ति, धैर्य और विश्वाससे काम लें। पारस्परिक विश्वास-विहीन वातावरणमें शान्तिकी सन्धि-रचना नहीं हो सकती और दुनिया यह जानती है कि दोनों दल मैत्री और मंगलकारिणी भावना भूल चुके हैं। सम्भवतः इसीलिए पं० नेहरूने लन्दनसे प्रकाशित एक बयानमें "सहनशीलता और गम्भीरता धारण करने" की अपील की थी। निराशाके इस मरुस्थलमें पंचशील ही आशाकी मरुगंगा प्रतीत होती है।

पश्चिमके अनेक महारथी आज भी यह माननेको तैयार नहीं कि पुराना एशिया—जिस पर उन्होंने मनमाने अत्याचार किये थे और जिसके शोषणकी बदौलत उनके पूर्वजोंको सभ्य संसारकी सदस्यता मिली, आज उतना निर्बल नहीं है कि पश्चिमका छोटा या बड़ा जो भी देश चाहे उसके

चीनी सरकार के अध्यक्ष श्री माओ-त्से-तुंग

अंगभंग पर अपना रंग जमा सके। यही कारण है कि पूर्व और पश्चिमके बीचकी खाई पटने नहीं पाती। आज पश्चिमके लिए आवश्यक है कि वह पूर्वके प्रश्नोंको नई दृष्टिसे देखे और उसकी समस्या और उसकी माँगोंको युगके प्रकाशमें पहचाननेका प्रयत्न करे। रूस तो शासकके रूपमें एशियामें कहीं रहा नहीं—न कहीं उसका अड्डा है, न कहीं उसका डेरा है। केवल साइबेरियाकी उसकी अपनी भूमि पूर्वी एशियाई प्रदेश पर फैली पड़ी है, जो इस बातकी साक्षी है कि एशियाके हितके विरुद्ध रूस कभी सोच नहीं सकता और पूर्वका प्रत्येक प्रश्न रूसके लिए भी अपना प्रश्न है। लेकिन, अमरीकाको पूरबसे क्या लेना देना ? जापान उसके शासनमें है। जापान और फिलिपाइनको छोड़कर उसका कोई देश-प्रदेश या अधिकारपूर्ण सीमा एशियामें नहीं है। जापानमें वह कब तक टिकेगा, कह नहीं सकते। फ़ारमोसामें वह जबरन् टिका हुआ है। उसीको लेकर तो यह सब बखेड़ा है। यदि अमरीकी सेना और उसका सातवाँ बेड़ा फ़ारमोसा और उसका निकटवर्ती प्रदेश खाली कर दे तो युद्धकी यह सारी घटाएँ ओझल हो जायँ और संसार शान्तिकी साँस ले। परन्तु ऐसा होना सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अमरीकाका दावा है कि उसकी सुरक्षाकी रेखा-पाँती फ़ारमोसा स्ट्रेट तक आती है और वह प्रशान्त महासागरमें किसी प्रकारकी गड़बड़ बर्दाश्त नहीं कर सकता। यदि इस दावेको न्यायपूर्ण निर्णय मानकर, इसके समानान्तर कार्य करनेके लिए अन्य राष्ट्र भी कटिबद्ध हो जायँ तो दुनिया एक दिन भी चैन से नहीं रह सकती। तब तो चीन कहेगा कि उसकी सुरक्षा इसीमें है कि वह पूरे कोरिया और जापानको अपनी छत्रछायामें ले ले। और रूस मेक्सिको तक अपनी सुरक्षाकी सीमा-रेखा फैला दे तो क्या प्रतिफल होगा ? हिन्दुस्तान यदि इस बातका दावा करे कि श्रीलंका और हिन्देशिया, बर्मा और स्यामके बिना उसको अपनी सुरक्षा नज़र नहीं आती तो, नतीजा क्या होगा ? बड़े राष्ट्रोंकी ऐसी लालचभरी निगाहों और कोशिशोंके कारण छोटे-छोटे राष्ट्रोंका अस्तित्व मिट्टीमें मिल जायगा और संसारमें आत्मनिर्णय, स्वतन्त्रता और भ्रातृभावनाका नाम न रहेगा !

जनवरी १९५५ के मार्च में यू. एन. ओ. ने निर्णय किया कि यू. एन. सुरक्षा-परिषद्की उस बैठकमें लाल चीनको आमन्त्रित किया जाय, जो फ़ारमोसा स्ट्रेटमें युद्धबन्दीके विषयमें आयोजित की जा रही है। जब अमरीकी हवाईबाज़ोंकी मुक्तिके प्रयत्नमें सेक्रेटरी जनरल दाग हेमरशोल्ड नई दिल्ली आये तो, पण्डितजीने अपने एक बयानमें यह बताया था कि आजकी स्थिति यह साबित कर रही है कि चीन-जैसे देशको यू. एन. ओ. का सदस्य न बनाकर कितनी बड़ी ग़लती की गई है। चीनका सदस्य होना एक सर्वस्पर्शी एवं महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

जिस चीनके लिए यू. एन. ओ. का द्वार सदैव बन्द रखा गया, उस देशको आज पश्चिमके महादेश यू. एन. ओ. के मन्दिरमें आमन्त्रित कर रहे थे। परन्तु, चीनने इसे अस्वीकार कर दिया। चीनका ऐसा करना स्वाभाविक था क्योंकि वह फ़ारमोसा-सरकारकी बराबरीमें नहीं बैठना चाहता था। फ़ारमोसा-सरकारका अपना कोई न्यायपूर्ण अस्तित्व और अधिकार नहीं था, न है, फिर भला चीन उसे कैसे स्वीकार करता? उसके साथ बैठनेका अर्थ हुआ—उसके अस्तित्वको स्वीकार करना और उसके अस्तित्वको स्वीकार करनेका मतलब है उसको रिआयत देना। चीन यह जानता था कि उसे यू. एन. ओ. में सदाके लिए स्थायी सदस्यता देनेके विपक्षमें जो देश हैं, वही आज उसे अपनी संगतमें बिठानेको उतावले हो रहे हैं और उनका यह क़दम मात्र अपनी स्वार्थ सिद्धिके लिए है। एक ओर फ़ारमोसा स्ट्रेटमें खुले रूपमें अमरीका तोप और बन्दूक़-द्वारा दण्ड, भदकी नीति बरत रहा था, दूसरी ओर वह यू. एन. ओ.के पर्देके पीछे छद्म रूपसे चीनको निमन्त्रण दे रहा था दिला रहा था। उसे और उसके साथी ब्रिटेनको यह आशा थी कि कॉमनवेल्थ कान्फ्रेन्समें भाग लेते पं० नेहरू अपने सर्वव्यापी प्रभाव द्वारा ऐसा कोई न कोई हल अवश्य निकाल देंगे जो पश्चिमके हितमें होगा। परन्तु पं० नेहरू ने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया कि शेष संसार और पूर्वकी स्थायी शान्तिके लिए चीनका यू. एन. ओ. प्रवेश अनिवार्य एवं प्रथमावश्यकता है। इसके पूर्व, जब यू० एन० ओ० के जनरल सेक्रेटरी दाग हेमरशोल्ड

चीनसे लौट कर घर आये तो उन्होंने न्यूयार्कमें १४ जनवरी १९५५ की अपनी प्रेस कान्फ्रेन्समें यह कह कर अमरीकियोंको चौंका दिया कि संयुक्त राष्ट्र संघकी दृष्टिसे यह हितपूर्ण होगा कि चीन जैसा महादेश उसका सदस्य वने। चीनकी सरकार भी राष्ट्र-संघको अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिमें एक महत्त्वपूर्ण सत्य स्वीकार करती है।

दोनों नेताओंके उपरोक्त कथनसे यह प्रमाणित होता है कि राष्ट्र-संघमें चीनकी उपस्थिति कितनी आवश्यक रही है। यदि इस सत्यको पहले ही स्वीकार कर लिया जाता तो एशियाको कोरियाके रूपमें ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण दिन न देखने पड़ते। ब्रिटेनके विदेश-मन्त्री श्री एन्थोनी इडनने इस बातको मंजूर किया कि चीनका यू० एन० ओ० प्रवेश शान्तिके लिए आवश्यक है। श्री इडन ही नहीं, सारा ब्रिटेन चीनको अपना न्यायपूर्ण स्वत्व दिलानेके लिए एक स्वरसे पुकार रहा था। अपनी चीन-यात्रासे लौटते समय १ नवम्बर १९५४ को पं० नेहरूने रंगूनके बयानमें पत्रकारोंसे कहा—"संयुक्त राष्ट्र संघसे चीनको वाहर रखना स्वयं इस विश्व-संस्थाका अपना अपमान है और चीनकी अपेक्षा इसमें उसकी अपनी हानि ही अधिक है।" वास्तव-में चीनको परे रख कर राष्ट्र-संघ चीनकी ६० कोटि जनताकी अवमानना कर रहा है। सामयिक समस्याएँ इतनी प्रवल हैं कि उन्होंने ऐतिहासिक सत्यको ढँक लिया है परन्तु वे स्थायी रूपसे, उसे दबाकर रखनेमें कभी सफल न हो सकेंगी।

जव चीनने यू० एन० ओ०में फ़ारमोसाके मामले पर वार्तालाप करनेके लिए अपना प्रतिनिधि भेजनेसे इन्कार कर दिया, तो पश्चिमके कई देशोंने आश्चर्य प्रकट किया। परन्तु चीन-जैसी-परिस्थितिमें अवस्थित कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र अपना प्रतिनिधि भेजनेके प्रस्तावको कदापि स्वीकार नहीं करता। यू० एन० ओ०के निमन्त्रणको अस्वीकार करते हुए चीनी प्रधान मन्त्री चाऊएन-लाईने जिस कठोर भाषाका प्रयोग किया वह एंग्लो-अमरीकी गुट्टको पसन्द नहीं आई परन्तु, चीन जिन विरोधी अवस्थाओंसे घिरा हुआ है, जिन अस्तित्व-विनाशक कारणोंको देखकर उसने ऐसा व्यवहार किया

उसमें किसी देश या दलकी प्रसन्नता-अप्रसन्नताका कोई प्रश्न नहीं और ऐसी अवस्थामें तो कहना होगा कि चाऊ-एन-लाईका जवाब क़ाफ़ी विनम्र था। अमरीका और उसके शासक रिपब्लिक दलने पिछले वर्षों जो नीति अपनाई है, वह निरन्तर विश्वशान्ति और सुरक्षामें बाधक बनती रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिमें यह कैसा मजाक है कि लाल चीनकी सीमासे दस मील दूर स्थित क्यूमॉयको अमरीका पश्चिमी प्रजातन्त्रोंकी सुरक्षा-सीमाके अन्तर्गत मानता है और स्वयं अपनी सुरक्षाके लिए भी क्यूमॉयको सुरक्षा सीमाके भीतर लेता है। वह अमरीका जो क्यूमॉयसे छः हज़ार मील दूर स्थित है! परन्तु क्या अमरीकाके वर्तमान शासकोंने कभी यह नहीं सोचा-समझा कि आत्मरक्षा सबको इष्ट एवं प्रिय होती है और लाल चीनके लोग भी यदि यह कहने लगें कि अमरीकी सीमाका कोई शिकागो-जैसा नगर या लांग आइलैण्ड-जैसा—द्वीप चीनकी सुरक्षा सीमाके अन्तर्गत आता है तो, क्या नतीजा निकलेगा? परन्तु बेचारे चीनके पास संहारक शस्त्रोंकी वह शक्ति कहाँ जो उसको इतना मदहोश कर दे कि वह न्याय और नियमोंके अस्तित्वको ही विस्मृत कर दे। सचमुचमें तो अमरीकी-सत्ता न्याय-द्वारा अनुशासित नहीं है, वह अणुबमकी स्वामिनी है और अणुबम सभ्य संसारके तर्क और न्यायसे मुक्त है। जहाँ तक फ़ारमोसाका सवाल है चीन आक्रान्ता नहीं हो सकता। अपने घरमें घुस आये किसी लुटेरेको बलपूर्वक निकाल देना, आक्रमण नहीं कहा जा सकता। आक्रमण तो वे करते हैं—जो लुटेरोंको निकालने वालोंके मार्गमें बाधक बनते हैं। इसलिए, जब तक फ़ारमोसा स्ट्रेटमें अंग्रेज़ोंकी साज़िशमें चलनेवाले अमरीकी जंगी बेड़े तोपें तानकर घूमते रहेंगे, तबतक दूरपूर्वमें शान्तिका सूर्योदय नहीं हो सकता। न जाने कब-कब की सड़ी-गली सन्धियोंको दिखाकर छः हज़ार मील दूर रहनेवाला अमरीका अपने साथी और क़ानूनबाज़ ब्रिटेनको लेकर आज निरन्तर चीनके घरेलू मामलेमें, खुले रूपमें हस्तक्षेप कर रहा है और अफ़सोस तो इस बातका है कि एशियाके मुँहमें आवाज़ नहीं है, जो इसका सम्मिलित स्वरमें विरोध करे। पश्चिमके ये दो महाराष्ट्र जानते हैं कि

उनकी अपेक्षा एशिया किसी क़दर कमज़ोर हैं, आजकी उसकी कमज़ोरीका लाभ, लड़कर, उठाया जा सकता है। परन्तु पश्चिम इस बातसे क्यों बेख़बर है कि एशियाने अपनी धरतीसे साम्राज्यवादके उस बूढ़े बरगदको उखाड़ फेंका है जिसकी जड़ें अमरीका और ब्रिटेन एशियाकी धरती पर फिरसे रोपकर एशियावासीके लाल लहूसे सींचना चाहते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है चीनके मामलेको लेकर एशियाके कुछ राष्ट्र मौन हैं, परन्तु वे चीनके अधिकारको न्यायसंगत मानते हैं और वास्तवमें गोरे आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और फिलिपाइन-द्वीप-समूहको छोड़कर, एशिया या दक्षिणपूर्व एशियाका कोई भी देश प्रशान्त महासागरमें अमरीकी हस्तक्षेपको नैतिक, राजनीतिक अथवा सामरिक दृष्टिसे न्याय-पूर्ण, नहीं मानता। स्पष्ट शब्दोंमें कहना होगा कि प्रशान्त महासागर अमरीकाके आंगनमें स्थित कोई पोखर या तालाब नहीं है जो अमरीकाकी निजी सम्पत्ति हो, जिसकी रक्षाके नाम पर अमरीका अपने हाथमें अणुबम लेकर संसारको भस्म करनेका भय दिखाये! अणुबमका यह वरदान कहीं अमरीकाके लिए पौराणिक असुर भस्मासुरको दिये आशुतोष शिवके उस वरदानकी तरह न हो जाय, जिसने स्वयं भस्मासुरको ही भस्म बना दिया था। अमरीकी सत्ताधारी जितनी जल्दी इस तथ्यको समझकर सत्य-मार्गका अवलम्बन करें, उतनी जल्दी पूर्व और पश्चिममें शान्तिकी स्थापना होगी!

यहाँ हम फ़ारमोसाके सम्बन्धमें राजनीतिक-विश्वके उन विशिष्ट-व्यक्तियोंके विचार प्रकाशित कर रहे हैं, जिनका आजकी शान्ति-अशांन्ति-समस्याओंको सुलझाने या उलझानेमें हाथ रहा है :—

भारतीय प्रधान मन्त्री, पं० जवाहरलाल नेहरू—"हमने लाल चीनकी सरकारको स्वीकार किया है और संयुक्त राष्ट्र-संघमें उसके प्रवेश पर ज़ोर दिया है। हमें यह बहुत बुरा लगता है कि राष्ट्र-संघ चीन जैसे महादेशकी अवमानना करके छोटे-से टुकड़े (फ़ारमोसा) को राष्ट्र-संघमें जगह दे। यह अयथार्थ है और मैं सोचता हूँ कि पिछले दिनों हमारे सामने जो जो कठिनाइयाँ एवं आपत्तियाँ आईं उनके

मूलमें यही एक मात्र कारण रहा है।..बड़ी अजीब और पेचीदा हालत पैदा कर दी गई है। संयुक्त राष्ट्र-संघ बिना चीनके, चीनके सवाल पर सोच, विचार और बहस करना चाहता है। वह चीनकी ग़ैर मौजूदगीमें चीनके विषयमें प्रस्ताव पास करता है। यह सब अनोखा और असंगत लगता है। इसका नतीज़ा क्या निकलेगा? यही कि जिनेवाकी तरह चीनको किसी दूसरे रास्तेसे सोच-विचारके लिए लाना पड़ेगा। आप अच्छी तरह जानते हैं कि यदि जिनेवामें चीन नहीं होता तो, समझौता भी नहीं होता। संयुक्त राष्ट्र-संघके विषयमें हमारा ख्याल यह है कि यह महान् संस्था एक ऐसे सार्वभौमिक रूपको ग्रहण करे जिसके अन्तर्गत दुनियाके सभी आज़ाद मुल्क बराबरीका दर्जा हासिल कर सकें।"—इसलिए जब तक लाल चीनको राष्ट्र-संघमें स्थान नहीं मिलता और जिनेवा-जैसी किसी सर्वस्पर्शी कान्फ्रेन्सकी रचना नहीं होती, फ़ारमोसाका सवाल सहज ही नहीं सुलझ सकता।

अमरीकी राष्ट्रपति, श्री आइज़नहावर—"यह प्रस्ताव (अमरीकी सिनेट-द्वारा आइज़नहावरको दिये गये उस अधिकारका प्रस्ताव है, जिसके अनुसार आवश्यक सामरिक-शक्ति-द्वारा वे फ़ारमोसाकी रक्षा कर सकते हैं) अमरीकाकी उस मन्शाको साबित करता है जो साम्यवादी हमलेका जवाब देनेको कटिबद्ध है। यह हमला उस जगह हो सकता है जो जगह अमरीकी सुरक्षाके लिए सर्वथा महत्त्वपूर्ण है। (यह प्रस्ताव अधिकार देता है कि राष्ट्रपति अमरीकी सशस्त्र सेना और विशेष कर सातवें बेड़ेको फारमोसा पर होने वाले चीनी-आक्रमणके विरुद्ध काममें ला सकते हैं।)

भूतपूर्व राष्ट्रपति, ट्रूमेन—टाइम्सके ६ सितम्बर १९५४के अंकमें श्री ट्रूमेनके ५ जनवरी १९५०के एक बयान पर प्रकाश डालते हुए जो उद्धरण दिया गया है वह इस प्रकार है—"संयुक्त राष्ट्र अमरीकाकी फ़ारमोसा-विजय जैसी कोई कामना नहीं, न वहाँ हम किसी प्रकारके

सैनिक अड्डे ही बनाना चाहते हैं। उसी प्रकार अमरीकी सरकार फ़ारमोसा स्थित राष्ट्रवादी चीनी-सरकारको किसी प्रकारकी सैनिक सहायता या सलाह नहीं देगी।" और दुनिया जानती है कि ट्रूमेनका यह अभिभाषण हाथी-दाँतकी तरह बाहर निकल कर रह गया।

ब्रिटेनके विदेश-मन्त्री, श्री एन्थोनी इडन—"फ़ारमोसाका सवाल अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ताका विषय है....अप्रैल १९५२ की शान्ति-सन्धि के अनुसार जापानने फ़ारमोसा और पेस्काडोर्स द्वीप समूह परका अपना समस्त अधिकार, दावा और शासन छोड़ दिया, लेकिन इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि जापानके अधिकार-त्याग द्वारा फ़ारमोसाका हस्तान्तरण चीनियोंके हाथों हो गया—चाहे साम्यवादी चाहे कुओ मिन्तांगके हाथों। अतएव, ब्रिटिश-सरकारकी दृष्टिमें फ़ारमोसा और पेस्काडोर्स, ऐसे स्थान हैं जिनपर किसी सार्वभौम सत्ताका अधिकार अब तक अनिश्चित एवं अस्थिर है।"

भारतके राष्ट्रपति, श्री राजेन्द्रप्रसाद—"कुछ ऐसे मसले हैं जिन्होंने विश्वकी शान्तिको संकटमें डाल रखा है, इनमेंसे आजकी घड़ीमें सबसे गंभीर दूरपूर्वका और खासकर फ़ारमोसाका प्रश्न है। मेरी सरकार चीनकी एक ही सरकारको स्वीकार करती है और वह है जनवादी चीनी प्रजातन्त्र और मेरी सरकारका ख़याल है कि चीनके दावे और अधिकार न्यायपूर्ण हैं। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि ये कठिन समस्याएँ शान्ति पूर्ण उपायों और वार्ता-व्यवहारोंके द्वारा हल कर ली जावेंगी।"

ब्रिटिश पत्रकार (न्यू स्टेट्समेन एंड नेशन)के सम्पादक श्री किंग्स्ले मार्टिन—"चियांग काई-शेक और उनके अनुयायियोंको फ़ारमोसासे सुरक्षापूर्वक हटा देनेकी घड़ी अब आ गई है, क्योंकि, फ़ारमोसाका द्वीप चीनी जनतन्त्रका अविभाज्य अंग है।" यह बात श्री मार्टिनने ४ फरवरी १९५५के दिन बम्बईमें कही। उन्होंने कहा—"यहाँ तक कि भूतपूर्व राष्ट्रपति ट्रूमेन और उनके सेक्रेटरी ऑफ स्टेट्स ने भी स्पष्ट शब्दोमें कहा था कि फ़ारमोसा नये चीनका एक हिस्सा

है और यह पेकिंग-सरकारको ही मिलना चाहिए। मुझे आशा है कि फ़ारमोसाका प्रश्न विश्व-युद्धका कारण नहीं बनेगा और एक न एक तरीक़ा अवश्य खोज लिया जायगा कि आजकी हड़बड़ी दूर हो जाय।"

ब्रिटेनके भूतपूर्व विदेश मन्त्री, श्री हर्बर्ट मॉरिसन—"फ़ारमोसाका सवाल इस कारण और भी उलझता जा रहा है कि अमरीकाने चीनी-जनतन्त्रको स्वीकार करना अस्वीकार कर दिया है। सही चीज़ तो यह है कि संयुक्त राष्ट्र-संघके द्वारा आगे बढ़ा जाय और फ़ारमोसाको "न्यूट्रल" बना दिया जाय और तब वहाँ के लोगों की राय मालूम की जाय। फ़ारमोसाको लेकर आजके अन्तर्राष्ट्रीय वातावरणमें अमरीकाकी जो छीछालेदर हो रही है उसमें ख़ुद अमरीकाका ही क़सूर है। यह नहीं हो सकता कि अकेला अमरीका ही फ़ारमोसाका भविष्य निर्धारित कर दे। और मैं यह भी नहीं सोचता कि अकेला चीन ही सीधा इस समस्याको सुलझा सकता है।"

रूसी साम्यवादी दलके मन्त्री, श्री एम० निकिता ख्रुश्चोव्—"अमरीका दूरपूर्वकी उलझनको बड़े बनावटी ढंगसे और भी उलझाता जा रहा है। यदि अमरीका इस विषयमें आवश्यक समझदारी दिखलाये जैसी कि चीनमें है तो, मुझे विश्वास है कि कुछ और देशोंकी सहायता-से यह समस्या सुलझ जायगी और दूरपूर्व भावी संघर्षणसे बच जायगा। मेरी रायमें ताइवानके क्षेत्रमें अमरीकी सरकारकी हालकी कार्रवाइयाँ अमरीकी जनताके लिए एक कलंक हैं। अमरीकी सरकारके इन कार-नामोंको देखकर रूसकी जनता दुखी और विस्मित है। हमारी जनता राष्ट्रपति आइज़नहावरको हिटलरको, हराने वाले अपने साथीके रूपमें जानती है और उनका सम्मान करती है, लेकिन हमारी जनता ताइवानके लिए निश्चित अमरीकी-नीतिको समझनेमें असमर्थ है और यह महसूस करती है कि स्वयं अमरीकी जनता भी इस नीतिको समझनेमें सर्वथा असमर्थ है। सोवियत यूनियन शान्तिकी सुरक्षाके लिए लालायित है और वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर ऐसा कोई भी

निदान लानेके लिए सहयोग देनेको प्रस्तुत है, जिससे आजके अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नोंका हल प्राप्त हो और भूमण्डल भावी महाभारतके प्रकोपसे बच जाय।"

जनरल मेकआर्थर—"ताइवानमें रहकर और वायु एवं नौसेनाकी सहायतासे अमरीकी सत्ता व्लादिवास्तकसे सिंगापुर तक के समस्त बन्दरगाहोंको अपने कब्ज़ेमें रख सकती है और इसलिए हमें हर प्रकारसे ताइवानकी रक्षा करनी चाहिए और उसे अपने अधिकारमें रखना चाहिए।"

चीनके राष्ट्रपति, श्री माओत्से-तुंग—"चीन पर आक्रमण करने वाली किसी भी शक्तिको चीनी जनता कुचल कर रख देगी। ताइवान हमारा है और हमारा हो कर रहेगा।"

चीनी प्रधान मन्त्री, श्री चाऊ एन-लाई—"ताइवानकी मुक्तिका पर्व चीनकी अजेय जनताके लिए गौरवपूर्ण एवं ऐतिहासिक पुण्य-कार्य है... इस कार्य-पूर्तिके मार्गमें यदि अमरीका हस्तक्षेप करेगा तो उसका ऐसा क़दम चीनके खिलाफ़ आक्रमण समझा जायगा।"

भारतीय शान्ति-परिषद्—अखिल भारतीय 'पीस कौन्सिल'की पुकार पर समस्त भारतमें ६ फरवरी १९५५का दिन "ताइवान दिवस"के रूपमें मनाया गया। देशके सभी प्रमुख नगरों और स्थानोंमें सभाएँ हुई और जुलूस बनाये गये। भारतीय साम्यवादी दल के 'पॉलित् ब्यूरो' ने एक बयानमें लिखा—"अमरीका ताइवानको सैनिक अड्डा बनाकर जनवादी चीनके खिलाफ़ जो उत्तेजनात्मक कार्रवाइयाँ कर रहा है, उनसे एक भयंकर और नाजुक हालत पैदा हो गई है और इससे एशियामें महायुद्ध शुरू करनेकी अमरीकी मन्शा, तैयारी और कोशिश साबित होती है। अब यह हमारी सरकार और जनताकी माँग होनी चाहिए कि एशियाकी इंच-इंच धरतीसे विदेशियोंकी सारी सेनाएँ हट जायँ और एशियाका कोई भी हिस्सा अमरीकाकी जंगी तैयारियोंके लिए काममें न लाया जाय। ताइवान चीनका अभिन्न अंग है और राष्ट्र-संघमें चीनी-अधिकार-प्राप्तिके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र

अमरीकाको हस्तक्षेप न करने दिया जाय। अमरीकी साम्राज्यवाद न केवल चीन, बल्कि एशियाके सभी आज़ादी-पसन्द लोगोंके लिए ख़तरा है।"

ताइवान (फ़ारमोसा) १४,००० वर्गमीलका एक द्वीप है। यह दक्षिण पूर्व चीनसे १५० मीलकी दूरी पर है। ऐतिहासिक दृष्टिसे ताइ-वान चीनका प्रदेश है। यह सैकड़ों वर्षों तक केन्द्रीय चीनी-सरकार द्वारा शासित होता रहा। लेकिन १८९५ में जापानने इसे छीन लिया। उसके बाद कई वर्षोंतक ताइवानकी चीनी जनता अपनी स्वतन्त्रता और पितृ-प्रदेश-मिलन के लिए जापानियोंसे संघर्ष करती रही। इस प्रखर सत्य को स्वयं अमरीकाके विदेश-विभाग ने १९४९ में प्रकाशित एक श्वेत-पत्रमें यों स्वीकार किया है—"जापानी आधिपत्यकी अवधिमें ताइवानकी चीनी जनताकी महान् मनोकामना यह रही कि वह और उसका द्वीप कब चीनकी धरतीसे सम्बद्ध हो जाय।" हम लिख चुके हैं कि काहिरा-घोषणा ताइवानको वापस लौटानेकी इच्छा प्रदर्शित करती है, और १९४५ का पोस्टडम समझौता—जिस पर चीन, सोवियत यूनियन, अमरीका और ब्रिटेनके हस्ताक्षर हैं—इस प्रतिज्ञाको दुहराता है कि, काहिरा-घोषणाकी शर्तोंका यथातथ्य पालन किया जायगा।

सन् १९४९में चीनकी जनवादी ताक़तोंकी महान् विजय हुई और देशद्रोही चियांग काई-शेक अपने बचे-खुचे लुटेरोंके साथ चीनकी धरतीसे भाग-छिपकर ताइवानमें शरण लेनेको बाध्य हुआ! इसके बाद, निरन्तर अमरीकी सहयोगसे उसने फ़ारमोसाको एक जंगी-अड्डा बनाया और वहाँकी जनताको बलात् अपने अधिकारमें रखकर उसे अपनी फ़ौजी चालों और मन्सूबोंकी पूर्तिके लिए सैनिक बना दिया।

अब अमरीकाने चीनके विरुद्ध चियांगको भरपूर सहायता दी और उसी प्रकार कोरियाके विरुद्ध सिंगमन री को मदद देकर सारे एशियाका जनमत अपने प्रतिकूल कर लिया। यही नहीं, अमरीकाके कई राजनीतिज्ञ भी इस नीतिके विरुद्ध हैं। "एम्बेसेडर्स रिपोर्ट"में चेस्टर बाउल्स (भारतमें

भूतपूर्व अमरीकी राजदूत) लिखते हैं, "हमें यह जान लेना चाहिए कि हम अपनी एशियाई नीतियाँ केवल ऐसे दो देशों के बलपर निर्मित नहीं कर सकते, जिनकी कुल आबादी पूरे एशिया की ३ प्रतिशत भी नहीं है। यद्यपि सिंगमन री और चियांगने साम्यवादका बहादुरीसे मुक़ाबला किया है परन्तु वे आजके नये एशियाकी गति-मतिसे पूर्णतया अनजान हैं और उनसे दूर हैं। और कई योरोपियों और एशियाइयोंका विश्वास है कि री और चियांग तृतीय महायुद्ध आरम्भ करनेको बावले बनकर रस्सा तुड़ा रहे हैं।

द्वितीय महायुद्धकी समाप्तिसे ही पश्चिमी महाशक्तियाँ फ़ारमोसाको अपना अड्डा बनाकर युद्धके लिए तैयारियाँ करती रही हैं। बादमें कोरिया-को लेकर उन्होंने चीन और रूससे लड़ना चाहा। फिर, काश्मीर और हिन्दचीनके बहाने पूरबके शान्तिप्रिय देशोंसे काफ़ी छेड़छाड़ की गई।

हिन्दचीनके युद्धमें पराजय पाकर भी अमरीकी जंग-नीतिमें परिवर्तन नहीं आया और उल्टा जनरल वान्फ्लीटको 'राष्ट्रपतिका दूत' बनाकर सफ़ेद चीनसे पारस्परिक सुरक्षाकी सन्धि की गई। इसके बाद तो चीनसे छेड़छाड़ बढ़ती गई और ऐसे कई कारनामे किये गये कि चीन उत्तेजित होकर लड़ने-को तैयार हो जाय। जिस भारी संख्यामें अमरीकी सैनिक, शस्त्रास्त्र और सेनापति ताइवान जाते रहे हैं उन्हें देखते हुए यह कौन कहेगा कि अमरीका इस क्षेत्रमें शान्ति चाहता है? ताइवानकी भेंट करनेवाले अमरीकी युद्ध-विशारदोंमें—एडमिरल स्टम्प, जनरल पार्टरिज, जनरल लीन, एडमिरल फिलिप्स, एडमिरल प्राइड, एडमिरल रड्फोर्ड आदि थे। इसके अतिरिक्त, ताइवानमें जो अमरीकी सैनिक सलाहकार हैं उनकी संख्या सात सौ से बढ़ कर १९५४ के अन्त-पूर्व ही १५ सौ कर दी गई। अमरीकी सातवें बेड़ेको निरन्तर चीनी सीमाके निकट पहरुआ बनाकर चीनके जहाज़ी अधिकारों-में हस्तक्षेप किया गया और निश्चय ही उसके द्वार पर जाकर उसका अपमान किया गया। फलस्वरूप दोनों दलोंमें छुटपुट हमले हुए—आज भी हो रहे हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन आक्रमणों और प्रत्याक्रमणोंके वात्या-

चक्रोंको चीर कर किसका दल अधिक स्थायी आधार प्राप्त कर सकेगा ? इस विषयक स्थिति इस प्रकार है :—फ्रांसिस फ्राइटन नामक लेखक लिखता है—"चीन देशकी धरती पर साम्यवादियोंकी शक्ति वहुत वढ़चढ़ कर है। उनकी सेनाओंमें लड़नेकी अपार शक्ति है। उनके कई युद्ध-विशारदोंने गृह-युद्धमें भाग लिया था और जापानियोंके विरुद्ध लड़कर भी गहरा अनुभव प्राप्त किया है। आज चीनी साम्यवादी सैनिककी ख्य.ति—एक लड़ाके-के रूपमें—सर्वतोमुखी है।" लेकिन, यह मानना पड़ेगा कि चीनका यह सैनिक अस्त्रशस्त्रोंकी दृष्टिसे उतना सुसज्जित नहीं है, जितना पश्चिमी महाशक्तियोंका कोई सैनिक। तथापि चीनियोंके पास द्वितीय महायुद्धके कई मजबूत टैंक हैं और खुदकी बनाई मशीनगनें और बन्दूकें हैं। साम्यवादी सैनिकोंकी सबसे बड़ी शक्ति और महत्ताके मूलमें तीन महत्त्वपूर्ण गुण हैं—(क) आयोजना (ख) आत्मविश्वास (ग) देशसे दूर रहकर भी कर्त्तव्यपालनकी क्षमता—इन्हीं सद्‌गुणोंने चीनी साम्यवादी सैनिकोंकी शक्तिको अपराजेय बना दिया है।

विदेशियोंका ख्याल है कि साम्यवादी सैनिकोंकी शैक्षणिक योग्यता कम होनेसे उनमें यान्त्रिक निपुणता भी कम है। और आधुनिक युद्धमें काम आने वाले कुटिल शस्त्रोंको चलाना और उनकी वारीकियोंको समझना उनके लिए कठिन है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि पिछले दिनों चीनमें औद्योगिक परम्परा नहीं रही है। फलस्वरूप यन्त्र-निष्णात सैनिक सम्पूर्ण संख्यामें उपलब्ध नहीं हैं, जिनके विना आधुनिक सेनाका निर्माण नहीं हो सकता। इस वातको चियांग भी जानता है और अपने अमरीकी सलाहकारोंकी सहायतासे उसने पाश्चात्य ढंगसे सुसज्जित सेना-का निर्माण किया है। उसकी सेनामें लगभग ५ लाख सैनिक, ११ हजार नौसैनिक और १८ सौ जनरल हैं—ये वही सपूत हैं जो १९४९में चियांगके साथ पराजित होकर फ़ारमोसा भाग आये थे। भावी युद्धके लिए, इनके अतिरिक्त सैनिकोंकी भरती करना चियांगके लिए दुष्कर है क्योंकि नये रँगरूट पाना कठिन है। इसका मूल कारण यह है कि फ़ारमोसाई चीनियोंकी

संख्या ७५ लाख है और चीनसे आकर बस गये लोगोंकी संख्या २५ लाख है। इस छोटी-सी जनसंख्यामेंसे आखिर कितने सैनिक प्राप्त किये जा सकते हैं ?

चियांगकी हवाई शक्ति सीमित है। उसके पास लगभग साढ़े तीन सौ जंगी हवाई जहाज़ हैं, जिनमें अमरीकी लड़ाकू पी–४७, पी–३८, पी–५१ हैं और बी–२४ नामक बमवर्षक वायुयान हैं। इनके मुकाबलेमें लाल चीनके एम आई जी–१५ जेट् वायुयान हैं जिनका कौशल कोरियामें देखा जा चुका है। तथापि अमरीकाकी सबल एवं सुसज्जित वायुसेनाके सम्मुख लाल चीनके ये जेट् वायुयान साधारण लगते हैं। चियांग इस बातको जानता है और इसीलिए वह अमरीकी सातवें बेड़ेको अपनी ढाल बनाकर लड़ना चाहता है। यह एक सर्वथा संकटपूर्ण अवस्था एवं विकट परिस्थिति है।

सामरिक चक्रव्यूह-विशारदोंका कथन है कि पहले और सातवें अमरीकी बेड़ेके रहते हुए लाल चीनके सैनिक फ़ारमोसा स्ट्रेटको पार नहीं कर सकते। उनकी सेना और नौसेना—आधुनिकतम शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित अमरीकी सेनाके सम्मुख नगण्य है। और ऐसी अवस्थामें उनका स्ट्रेटको पार करनेका प्रयत्न आत्महत्याके समान माना जायगा।

दूसरी ओर के सैन्यकला-निष्णात कहते हैं कि लाल चीनके पनडुब्बी बेड़ेकी शक्ति सीमित नहीं है। यह बेड़ा प्रशान्त महासागरके अतलान्त तलमें तैर कर अमरीकी जंगी बेड़ेको सागरकी गोदमें सदाके लिए सुला सकता है। यह तो सब जानते हैं कि द्वितीय महायुद्धमें महाप्रतापी ब्रिटिश नौसेनाको जापानने पूरबी सागरोंमें करारी हार दी थी। उस समय किसे यह कल्पना थी कि ब्रिटेनकी सुसज्जित नौसेनाके सम्मुख जापान अपनी करामात दिखा सकता है ? लेकिन, जब प्रिन्स ऑफ वेल्स और रिपल्स जैसे जहाज़ डुबो दिये गये तो दुनिया चकित रह गई ! इस दृष्टिसे चियांगको लाल चीनकी शक्तिको कम नहीं आँकना चाहिए।

इन परिस्थितियोंका पर्यवेक्षण करने पर हमें विदित होता है कि ताइ-वानके द्वीपमें बैठा चियांग मात्र एक कठपुतला है और आकाशके उन धुंधले

नक्षत्रोंके समान है, जो "सेटेलाइट" कहे जाते हैं, जो अपनी रोशनी और चमक दूसरों से पाते हैं। यदि अमरीका चियांगको यह चमक न दे तो, उसकी सारी बहक बन्द हो जाय और दूरपूर्वके देश शान्तिकी नींद सो सकें। यह सर्वविदित बात है, और अमरीकी विदेश विभाग-द्वारा भी यों कही गई है—"यदि पूर्वमें चियांग काई-शेक न होता, तो हमें उसका ईजाद या निर्माण करना पड़ता।" यह तो स्पष्ट रूपमें लड़ाईकी बात है परन्तु संसारकी शान्ति और सभ्यताकी सुरक्षाके लिए अमरीकाको यह हठ छोड़ देना चाहिए कि फ़ारमोसा "दूरपूर्व-सुरक्षा-योजना"के लिए आवश्यक है और ओंकिनावाके अमरीकी अड्डेसे लड़ाकू यान चन्द मिनटोंमें वहाँ पहुँच कर प्रलय वर्षा कर सकते हैं। अतएव, फ़ारमोसासे सम्बन्धित सारी समस्या-का एक मात्र निदान यही है कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका अधिक व्यावहारिक एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाये और चीन महादेशके आन्तरिक मामलोंमें हस्तक्षेप करनेकी नीतिका परित्याग कर दे। उसे अब यह उजागर तथ्य स्वीकार कर लेना चाहिए कि चियांगको पुन: पेकिंगमें सिंहासनारुढ़ नहीं किया जा सकता और अमरीकाको अन्ततया साम्यवादियोंसे सुलह करके व्यवहार सम्बन्ध रखने पड़ेंगे। चीनको अपना उचित पद एवं आसन दिलानेमें यदि अमरीका आगे बढ़कर सत्प्रयत्न करे तो वह न केवल चीनका हृदय परिवर्तन कर लेगा वरन् एशियाके अन्यान्य देशोंकी सद्भावनाका स्वामी भी बन जायगा। क्या समय रहते वाशिंगटनके सत्ताधारी अणुबमके हिंसक सपनोंको भूल कर अहिंसा और मानवताके इस अजातशत्रु सत्यको परखेंगे?

यहाँ हम एशियावासियोंसे भी दो शब्द कहना चाहेंगे कि वे किसी भी हालतमें पश्चिमी जंगी मंसूबोंको पूरा न होने दें और ऐसा कोई क़दम न उठावें कि उनके अपने ही आँगनमें रणचण्डीका रक्तप्रवाही नृत्य आरम्भ हो जाय। एशियाको आज पुनर्रचना और नवनिर्माणकी आवश्यकता है जिसकी अनिवार्यताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एशियाकी अस्तव्यस्त अर्थ-व्यवस्था और विपरीत शासन-व्यवस्थाके विविध संकटोंके

बीच युद्धकी लाल लपटें एशियाकी उर्वरा वसुन्धराको सदा-सर्वदाके लिए श्मशानमें परिणत कर देंगी। और यदि ऐसा हुआ तो, भावी इतिहास और भावी मनुपुत्र अपने पूर्वजोंके इस कायरतापूर्ण पौरुष पर हँसेगा।

आजका मानव समूह कहीं भावी युग और समाजके समक्ष कलंकित स्वरूप लेकर उपस्थित न हो, इसका ध्यान आजके नेताओं और जग-जेताओं-को रखना है। युद्ध मनुष्यका स्वाभाविक कर्म या धर्म नहीं है। और हिंसा और विनाशकी ज्वालाएँ उसकी चारित्रिक विशेषताओंको सदाके लिए झुलसा देंगी।

—इस सत्यको साक्षी रखकर चिरंजीत मानवपुत्रको जीवनकी ओर जाना है। क्योंकि अन्ततः जीत जीवनकी होती है और महानाशकी सर्व-भक्षिणी ज्वालाओंमें भी सृजननिरता रचना निर्भय सोती है।

●

# साम्राज्यवादका समाधिस्थल हिन्दचीन

साम्राज्यवादका संकट, अपने ही लिए, तब और अधिक बढ़ जाता है, जब वह किसी शत्रुसे अथवा लोक सेनाकी शक्तियोंसे युद्धमें व्यस्त होता है। ऐसे समय, अपनी बौखलाई हुई स्थितिमें अपने द्वारा शासित जनता पर उसके अत्याचार भी बढ़ जाते हैं।

जापानियोंके बर्मा जीत लेने और भारतकी ओर बढ़ते आनेके अवसर पर, ब्रिटेनने यही किया।

लेकिन जब जब ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं; शासित, पराधीन जनता अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्तिकी स्वर्ण वेला जान, उठ खड़ी होती है। और अपने शासकको ललकारती है। १९४२ में भारतमें यही हुआ। हाल ही में विएतनामी प्रजातन्त्रकी सेनाओंसे लड़नेमें व्यस्त, फ्रांस की भी यह दुर्गति हुई थी।

हिन्दचीनमें निर्णयात्मक युद्ध चल रहा था। एक ओर लोकनेता डॉ० होची मिन्हकी साम्यवादी सेनाएँ और दूसरी ओर साम्राज्यवादियों द्वारा पोषित बा ओ दायी का प्रतिगामी दल।

लाओससे लिए भयंकर युद्ध हो रहा था। लाओसके बाद कम्बोडिया-की बारी थी।

कम्बोडिया और उसके राष्ट्रवादी नेताओंने देखा कि फ्रान्सका जुआ उतार फेंकनेका यह अनुपम अवसर है। वहाँके राजाने भी यह बात समझ ली और घोषणा की—"यदि फ्रेन्च-सरकारने हमें स्वतन्त्रता न दी तो, हमारी प्रजा कम्युनिस्ट बन जायगी। यदि लाओसके समान आक्रमण हम पर हुए, तो हम कह नहीं सकते कि हमारे सैनिक 'फ्रेन्च सरकार' के नाम पर मरनेको तैयार होंगे या नहीं।"

उस समय फ्रेन्च अधिकृत रियासतके राजाके ये शब्द कम महत्त्वपूर्ण

नहीं थे। इससे इतना तो स्पष्ट हो गया था कि लाओस और कम्बोडियाकी जनता किस ओर है।

अभी तो, विएतनामी प्रजातन्त्रका आक्रमण भी न हुआ था और जनता तथा सेनाका यह हाल था! आखिर, फ्रान्स किस बलबूते पर लड़ रहा था? साफ़ जाहिर होता है कि कोई बड़ी ताक़त उसे लड़ते रहनेके लिए मजबूर कर रही थी।

इसके अतिरिक्त डॉ० हो ची मिन्हकी विजय उस कहावत-द्वारा चरितार्थ होती है, जो कहती है—"वही शक्ति हिन्द-चीन पर राज्य करेगी जिसका अधिकार कोचिन-चीना और तान्किनके चावलके अक्षत-कोषों पर रहेगा।" आज इन दोनों प्रदेशों पर डा० हो ची मिन्हकी विजय-वाहिनी जन-सेनाका आधिपत्य है।

हिन्द-चीनका प्राचीन नाम 'विएतनाम' है, जिसका अर्थ है :—'दक्षिणके लोग'। तान्किन, अनाम, कोचिन-चीना, लाओस और कम्बोडिया इस देशके प्रमुख प्रान्त हैं। जनसंख्या सवा दो करोड़ है। कम्बोडिया और लाओसकी सम्मिलित जनसंख्या लगभग पचास लाख है।

## लाओस

युद्धकालमें, लाओस पर संसारकी आँखें लगी थीं। उसकी राजधानी मेकांग नदी-स्थित लुआंग प्रवांगमें लाओसके पंगु राजा सिसवांग वांग और उसके राजकुमार सावंगने किसी भी दशामें राजधानी छोड़नेसे इन्कार कर दिया।

इससे, पता चलता है कि अपने स्वामी फ्रान्ससे ये लोग कितनी घृणा करते थे। दरअसल फ्रान्स जलती भट्टी पर बैठा शान्ति और शीतलताकी कामना कर रहा था!

लाओसी लोग, उत्तरी तान्किनके अपने चचेरे भाइयोंकी तरह थाइ या ताइ जातिके हैं। स्यामी और बर्मी-शान भी इसी जातिके हैं। इन पहाड़ी जातियोंमें मेओ, मान, लोलो और ताई प्रमुख हैं। मेओके कई

उप-समुदाय हैं। इन समुदायोंका विभाजन स्त्रियोंकी वेषभूषा पर आधारित है। श्वेत मेओकी स्त्रियाँ, श्वेत, श्याम-मेओकी स्त्रियाँ श्याम और इसी प्रकार पुष्प-मेओकी स्त्रियाँ फूलों-जैसी पोशाकें पहनती हैं। मान का चीनी अर्थ है 'बर्बर' और विएतनामी अर्थ है जंगली। ताई जातिमें दो भेद हैं श्वेत और श्याम। श्वेत ताई स्त्रियाँ श्वेत और श्याम ताई काली कंचुकी पहनती हैं। हिन्द-चीन निवासी भारतवासियोंके समान बड़े ही संकोचशील परन्तु अत्यन्त उदार स्वभावके हैं। नृत्य-गान और आमोद-प्रमोद उनके जीवनके प्रिय विषय हैं।

मूलतः लाओसकी दो राजधानियाँ हैं—विएन-तिएन और लुआंग-प्रवांग। राजाका निवासस्थान विएन-तिएनमें और मन्त्रियों तथा सरकारका वास लुआस-प्रवांगमें है। इससे शासन सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ प्रतिदिन उपस्थित होती रहती हैं। मन्त्रियोंको राजकीय मामलोंमें राजाकी राय लेने विएन जाना पड़ता है, जहाँकी यात्रामें १२ दिन लग जाते हैं। कई स्थानों पर नदीको पार करना पड़ता है, किन्तु गर्मियोंमें कम समय लगता है।

## कम्बोडिया

सेगांनसे उत्तर-पश्चिमकी ओर कम्वोडियाका प्रमुख नगर पनाम पेन है। इस प्रदेशके निवासियोंका रंग गहरा भूरा है। यहाँ का राजकुमार नोरोधम सिंहानूक है। हालकी यात्राओं ने जिसे प्रसिद्ध कर दिया है। कम्वोडियाके लोग ताई लोगोंके समान, बुद्ध-धर्मके हीनयान-सम्प्रदायके अनुयायी हैं। कम्वोडियन लोगोंके पूर्व पुरुप खमेर थे। खमेरोंने स्याम पर कई वर्षों तक राज्य किया। पनाम पेनका पूर्वनाम अंगकोर है। अपने वैभवके दिनोंमें इस नगरीका शुद्ध नाम यशोधरपुर था और यहाँकी आवादी दस लाख थी। उस कालका एक देवालय अभी भी स्थित है, जिसमें एक चतुर्मुखी मूर्ति लोकेश्वर नामसे विराजमान है। सन् ११०० में हिन्दू राजा जयवर्मनने इस प्रदेशका नवनिर्माण किया था।

## भारतीय संस्कृतिका प्रभाव

प्राचीनकालमें विएतनाम आर्यावर्त्तका एक अंग था। भारतीय संस्कृतिका प्रभाव आज भी वहाँ सुस्पष्ट है। ह्नेनाय, हू, पनामा-पेन, लुआंग-प्रबांग, सेगांन और विएन-तिएन, आदि नगरोंमें भारतीय परम्पराएँ आज भी जीवित हैं। लोगोंकी भाषा, मन्दिरोंकी कला, नृत्योंका पद-संचालन, भद्र पुरुषोंके नाम भी उस स्वर्ण-कालकी ओर इंगित करते हैं, जब भारतकी गौरव-गरिमा-गंध दिग्दिगन्तोंको सुवासित कर रही थी। अमरीकी विद्वान् राबर्ट मूर और मेनार्ड ओवन विलियम्सने इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला है।

तोंल-सपके वनान्तरोंमें स्थित, प्राचीन अंगकोर धामके खंडहर भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्धोंके साक्षी हैं। युगों पूर्व भारतीय ब्राह्मणोंने यहाँ एकछत्र राज्य किया था।

इन ब्राह्मण वंशोंने सर्वप्रथम स्थानीय चामोंको शिक्षित-दीक्षित किया। चामों-द्वारा निर्मित उत्तुंग मीनारें, ब्राह्मणीय विद्वत्ताकी उद्घोषक हैं। आज भी एक लाख अनामियों पर व्यापक विप्रवंशीय प्रभाव है। यह अनामी नये विएतनाम और उसके नेता हो ची मिन्हके विश्वस्त साथी हैं। प्राचीन भारतके इन सम्बन्धोंको देखते हुए यह सिद्ध होता है कि विएत-नाम हमसे कितना निकट है। आज भी पूरा विएतनाम मर्यादा-पुरुषोत्तम राजा राम और असुर रावणकी कथा गाता है और बड़े नगरोंके विशाल नाट्य-भवनोंमें राम-रावणके नाटक खेले जाते हैं। अंगकोर संस्कृतिने रामायणी कथाको अपनी अद्वितीय स्थापत्य और शिल्पकला-द्वारा पाषाणोंमें प्रकाशित किया है।

## पिछले १२ वर्ष : महायुद्ध और जापान

विएतनाम वर्षोंसे फ्रान्सके अधिकारमें रहा है। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभावका गायक फ्रान्स भी किस प्रकार अन्य देशोंको दासत्वकी शृंखलाओंमें बांधकर उनका शोषण कर सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण

विएतनाम है, अफ्रीकाके प्रदेश हैं। नये विएतनामने सदियोंकी पराधीनताको ललकारा और उसकी मुक्ति-सेनाएँ प्रतिदिन इतिहासमें, नवीन परिच्छेद जोड़ती गई। जिस देशने दो सप्ताहसे भी कम समयमें हिटलरकी अधीनता स्वीकार कर ली थी, वह विएतनामको अपने वशमें क्योंकर रख सकता था?

जब द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ और हिटलरी सेनाएँ योरपमें प्रलय-वर्षा करती हुई पेरिस पहुँचीं और जापानी सेनाएँ अपने ही एशिया-वासियोंको पददलित करती हुई सेगांन पहुँचीं तो स्थानीय फ्रान्सीसी सरकार भाग खड़ी हुई।

## नया प्रजातन्त्र

डा० हो ची मिन्हकी वानर सेनाओंने अद्भुत कौशल दिखलाया और जब जर्मनीका प्राणान्त हुआ और हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर अणुबम डालकर जापानको पराजित किया गया; तब १७ अगस्त १९४५ को विएतनामी प्रजातन्त्रका जन्म हुआ।

प्रजातन्त्रीय विएतनामकी घोषणा, विएतनामी मुक्ति-संघर्ष संघ द्वारा हुई। डा० हो ची मिन्हको अस्थायी सरकारका अध्यक्ष चुना गया। तान्किन, अनाम और कोचीन-चीनाके तीन प्रान्तोंकी कुल ३,२८,००० किलोमीटर धरती पर स्वतन्त्र जनताका अपना राज्य स्थापित हुआ परन्तु शेष आधे भाग, जिनमें लाओस और कम्बोडियाके सामन्ती राज्य थे, प्रजा-तन्त्रमें सम्मिलित न हुए परन्तु प्रजातन्त्रकी आबादी पौने दो करोड़ थी और सामन्ती फ्रेन्च प्रभावित क्षेत्रोंकी केवल पचास लाख।

युद्धान्त पर, 'पराजित' फ्रेन्च लोगोंको अपने खोये हुए साम्राज्यकी चिन्ता हुई। 'फ्रेन्च यूनियन' के स्वप्न देखे जाने लगे और अफ्रीकाके अति-रिक्त एशियाकी धरती पर भी शोषण के नक्कारे बजानेके लिए वे विएतनाम पर चीलोंकी तरह मंडराने लगे। परन्तु अब विएतनाम पर पुनः अधिकार कर लेना लोहेके चने चबाना था। वहाँ स्वतन्त्र प्रजातन्त्रका सिक्का चल रहा था और जनता अपनी आत्म-रक्षाके लिए शहीद होनेको प्रस्तुत थी।

फ्रांसमें द-गालकी सरकार थी। द-गालने चाल चली। उसने डा० हो चो० मिन्हको समझौतेके लिए पेरिस बुलाया। शान्तिवार्ताके लिए भला, हो ची० मिन्हको क्या उज्र होता। वे पेरिस चले गये, परन्तु दगालने उन्हें चर्चाओंको लम्बा फैलाकर, पार्टियोंके जल्सों और धाराओंकी लफ्फाजीमें उलझा रखा। दूसरी ओर 'फ्रेन्च लीजन' की दानवी सेनाओंको कम्बोडिया और लाओसमें उतार दिया। यह फ्रेन्च सरकारका भयंकर विश्वासघात था। डाक्टर जब लौट कर आये तो बीमार हिन्द-चीनके शरीरमें नये जख्म पक चुके थे और नये घाव कष्ट दे रहे थे।

फ्रेन्च सरकारने प्रजातन्त्रको स्वीकार न करनेकी घोषणाके साथ, स्वतन्त्र प्रदेश पर आक्रमण कर दिया।

जब डा० हो ची० मिन्हने अपना मुक्ति-संग्राम आरम्भ किया, तब फ्रेन्च सुरक्षित दास-दलोंके समक्ष, उनकी सेनाके पास शस्त्रके नाम पर चाकू और बांसके डंडे थे। कुछ वर्ष पश्चात्, उनकी दो लाखसे अधिक सुसज्जित सेनाके पास आधुनिकतम शस्त्रास्त्र हो गये, जो शत्रुसे छीने गये थे। और जिनमें से अधिक वे हैं, जिन्हें फ्रान्सीसी भगोड़े छोड़ गये हैं। इन शस्त्रास्त्रोंसे अधिक शक्ति-मान और अचूक रामबाण अस्त्र जो डाक्टरके पास है, वह है—'जनताका सहयोग'।

१९४७ के वसन्त में, फ्रेन्च जनरल स्टाफका प्रमुख स्वयं हिन्द-चीन आया था। तबसे जनतन्त्रके विरुद्ध फ्रान्सीसी तैयारियाँ बढ़ती गयीं। इंग्लैण्ड और अमरीका इस कार्यमें फ्रान्सकी पूरी-पूरी सहायता करते रहे। ब्रिटेनने ५ लाख हथगोले हिन्द-चीन स्थित फ्रेन्च सरकारको दिये थे।

१९४९ में फ्रान्सने जनरल गीउएन-आन और बाओ दाईकी पुतली सरकारें स्थापित कीं। बाओ दाईकी सरकारने ८ मार्च १९४९ को फ्रान्सीसी गवर्नर जनरलसे एक समझौता किया, जिसके अनुसार विएतनामको कथित 'स्वतन्त्रता' दी जाती है; विएतनामी राष्ट्रीय सेनाका निर्माण—जिसका निरीक्षण फ्रेन्च उच्चाधिकारी करें और विएतनाम अपने शस्त्रास्त्र फ्रान्ससे ही खरीदे, आदि समझौतेकी शर्तें रखी गयी थीं।

जव स्वतन्त्र प्रजातन्त्रको इस समझौतेके समाचार मिले, तो वहाँके लोगोंके क्रोधकी सीमा नहीं रही। विएतनामी प्रजातन्त्रके सैनिक न्यायालय ने बाओ दाईकी गिरफ़्तारीकी घोषणा की। इससे पूर्व डा० हो ची० मिन्ह की सरकार देशके गद्दारों और द्रोहियोंकी एक सूची प्रकाशित कर चुकी थी, जिसमें बाओ दाई और जनरल गीउएन-आन आदिके नाम थे।

फ्रान्सने हिन्द-चीनमें अपने विषवृक्षको भलीभाँति फैलाया। एक जाति और एक समुदायको दूसरेके विरुद्ध उभाड़ने और लड़ानेकी अंग्रेजी-नीतियाँ चलाई। घृणा, द्वेष और द्रोहके पाठ पढ़ाये। लाओस और कम्बोडियाको प्रजातन्त्रसे न मिलने दिया।

इतना होने पर भी, फ्रान्सीसी साम्राज्यवाद विएतनाममें अपनी रक्षा कर लेने में सर्वथा असमर्थ रहा। सात वर्षोंके निरन्तर संग्रामने उसके छक्के छुड़ा दिये। हालांकि फ्रेन्च दलोंके पास आधुनिक शस्त्रास्त्र थे परन्तु हो ची० मिन्हकी जनसेनाके समक्ष वे टिक न सके। परिणामत: प्रजातन्त्रीय दलोंके प्रहारोंसे १०० वर्षोंसे भी अधिक पुराना—बूढ़ा फ्रेन्च उपनिवेशवाद अपनी अन्तिम साँसें गिनने लगा और कई दिन मरणासन्न स्थितिमें पड़े रहने पर, जिनेवामें उसने अन्तिम साँस ली। फ्रान्सकी सरकारने ज्यों-त्यों कर अपनी लाज बचाई।

आज भी स्वतन्त्र विएतनामकी अपराजित शक्तियाँ सतत प्रयत्नशील हैं और वह दिन दूर नहीं, जब विएतनामकी नृत्यमयी वसुन्धरा पर शान्ति और समताकी गंगाका अवतरण होगा।

'दक्षिणके लोगों' ने जो मशालें जलाई हैं, उनके प्रकाशमें एशियाके अन्य दास-देश भी अपना मुक्ति-मार्ग देखेंगे, यह निश्चित है!